प्रकाशकीय

श्री केदारनाथ शास्त्री का सिन्धु-सभ्यता के आदिकेन्द्र—हड़प्पा से उत्खाता के रूप में बीस वर्ष तक अखण्ड सम्बन्ध रहा है। इस लम्बे काल में उन्हें इस अतीत-कालीन सभ्यता के विविध अंगों पर अनुसंधान करने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ है। विस्तृत भारतीय एवं विदेशी प्रागैतिहासिक ज्ञान के कारण वह इस ग्रन्थ में इस काल का निष्पक्ष एवं सन्तुलित अध्ययन प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं। उन्होंने अनेक विवादग्रस्त तथ्यों का, जो अब तक सिद्ध न किए जा सके थे और जिनकी सत्यता अब तक अंधकार में थी, बहुत ही तर्कपूर्ण और प्रामाणिक उत्तर दिया है।

अभी तक सभी पुरातत्त्वज्ञ सिन्धु-सभ्यता में नारी अंश की प्रधानता मानते थे। उनके अनुसार उन लोगों की आराध्य मातृदेवी थी। लेकिन सर्वप्रथम श्री शास्त्री ने इस भ्रम का खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि सिन्धु-कालीन देवता भी वैदिक काल की भाँति पुरुष-लिंग ही थे। उन्होंने इस तथ्य की सत्यता के लिए कितने ही अकाट्य और मान्य प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं।

सिन्धु-सभ्यता के काल-निर्धारण में भी विद्वानों में मतभेद रहा है किन्तु श्री शास्त्री जी इसमें भी तनिक संदिग्ध नहीं हैं। उनका अध्ययन इस दिशा में अनुसंधान-कर्त्ताओं के लिए विशेषतः महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने इस सभ्यता के आदि के सम्बन्ध में अनेक खोजपूर्ण सामग्री संग्रह की है और इस प्रकार से इस उपादेय ग्रन्थ के प्रकाशन से प्रागैतिहासिक सभ्यता के इस अंधकारमय पक्ष पर पूर्ण प्रकाश पड़ सका है। श्री शास्त्री ने इस पुस्तक में अद्यतन खनन से प्राप्त सामग्रियों का भी उपयोग किया है।

इस ग्रन्थ में तत्कालीन कला, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, धर्म आदि सभी विषयों का सर्वांगीण चित्रण किया गया है। सिन्धु-देश की लिपि पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है। लिपि के विषय में अब तक यह मान्यता थी कि यह उर्दू की तरह दाहिनी ओर से लिखी जाती थी किन्तु श्री शास्त्री ने सिद्ध किया है कि ब्राह्मी लिपि की जननी यह लिपि भी उसी की ही तरह बाँयी ओर से लिखी जाती थी।

प्रस्तुत पुस्तक इस तरह के अनेक खोजपूर्ण तथ्यों से भरी हुई है और इस काल की सभ्यता का अध्ययन करने वाले अनुसंधाताओं के लिए प्रामाणिक एवं उपादेय ग्रन्थ है। जनसाधारण के लिए भी यह अत्यन्त रोचक और ज्ञानवर्धक सिद्ध होगी।

इसी विषय पर लेखक की अंग्रेजी पुस्तक 'New Light on the Indus Civilization'-जिसकी भूमिका श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखी है, पत्र-पत्रिकाओं द्वारा बहुप्रशंसित हुई है और इतिहासकारों में अत्यन्त लोकप्रिय हुई है।

भूमिका

सिंधु-सभ्यता पर प्रकाशित साहित्य—सिंधु-सभ्यता के विषय पर सर जॉन मार्शल, डॉ० मेके और श्री माधोमरूप वत्स के लिखे हुए विशद ग्रंथ पहले आंग्ल भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें मार्शल-सम्पादित 'मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इंडस वेली सिविलाइजेशन' ग्रंथ दूसरों की अपेक्षा अधिक मौलिक एवं प्रामाणिक है, क्योंकि देशकाल, धर्म, समाज, लिपि आदि मार्मिक विषयों पर अन्य विद्वानों ने प्रायः मार्शल का ही अनुसरण किया है। सिंधु-सभ्यता पर हिन्दी में श्री सतीशचन्द्र काला की लिखी हुई 'मोहेंजो-दड़ो तथा सिंधु-सभ्यता' नामक केवल एक ही पुस्तक इस समय मार्केट में उपलब्ध है। श्री काला जी का यह प्रयास श्लाघनीय है, परन्तु जहाँ तक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है यह मार्शल आदि विद्वानों के विचारों का केवल अनुवाद मात्र है। इसमें उनके अपने मौलिक विचार बहुत कम समाविष्ट हैं।

हड़प्पा से लम्बा सम्बन्ध—सिंधु-सभ्यता के आदि-केन्द्र हड़प्पा से सहायक उत्खाता के रूप में मेरा बीस वर्ष तक अखण्ड सम्बन्ध रहा है। इस लम्बे काल में मुझे इस सभ्यता के विविध अंगों पर अनुसंधान करने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप यह पुस्तक मैं पाठकों की सेवा में समर्पण कर रहा हूँ। सिन्धुनद के काठे तथा आस-पास के क्षेत्रों से पुरातत्त्वज्ञों को जो अनन्त वस्तु-सामग्री मिली उसमें मुद्राएँ, मुद्राछापें, चित्रित कुम्भकला आदि विविध वस्तुएँ सम्मिलित थीं। इनका अधिकांश अब नयी दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित है।

उत्खाताओं से मेरा मतभेद—पूर्वोक्त वस्तु-सामग्री के सूक्ष्म परीक्षण के अनन्तर कई प्रमुख विषयों पर उत्खाताओं से मेरा मतभेद हो गया है। मोहेंजो-दड़ो के प्रधान उत्खाता और वर्तमान शती के प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ सर जॉन मार्शल के मत में सिंधुकालीन लोगों का परम-देवता मातृदेवी थी, और उससे उतरकर एक त्रिमुख पुरुषलिंग देवता था (फलक ९/=, क), जिसे उन्होंने ऐतिहासिक काल के पशुपति शिव का पूर्वरूप माना है। इन्हीं की सम्मति में सिंधु-काल के देवता अधिकांश देवियाँ थीं। नारी-अंश की प्रधानता को उन्होंने सिंधुकालीन लोगों तथा वैदिक आर्यों में विद्यमान विरोधी धर्मों में से एक बतलाया है, क्योंकि उनके मत में आर्यों के देवता अधिकांश

पुरुषलिंग थे। डॉ० मेके तथा श्रीवत्स मार्शल के पूर्वोक्त सिद्धान्त से सहमत हैं। परन्तु अनुसन्धान से प्रतीत होता है कि वैदिक देवताओं की तरह सिंधुकालीन देवता भी प्रधानत. पुरुषलिंग ही थे, और उनका प्रधान-देवता मातृदेवी नहीं किन्तु अश्वत्थ-अधिष्ठातृ नर-रूप देवता था। प्रस्तुत निबन्ध में मैंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सिंधुयुग के देवता अधिकतर सकीर्ण रूप, अर्थात् अशतः नररूप और अशतः पशुरूप थे। उनकी भुजाएँ साक्षात् कनखजूरे थे जिन्हें पुरातत्त्ववेत्ताओं ने "कन्धे से लेकर कलाई तक कंगणों से लदी हुई मानुषी भुजाएँ" कहकर वर्णन किया है। कई देवताओं के ऊर्ध्वभाग कभी मानुषी और कभी पशुरूप हैं, जबकि अधोभाग विहंगाकार है। अर्ध-विहंगाकार इन विचित्र जीवों के पंखदार अधोभाग को उत्खाताओं ने भ्रम से 'तिरछे कटे हुए कोट' समझा था। मुझे अपनी गवेषणा से यह भी प्रतीत हुआ है कि तथाकथित पशुपति शिव का पूर्वरूप देवता जो मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ४२० (फलक १८, क) पर अंकित है न केवल त्रिमुख ही नहीं किन्तु मनुष्य मुख भी नहीं है। यह देवता महिष-मुण्ड है और इसका शरीर संकीर्ण है। इसकी भुजाएँ साक्षात् कनखजूरे और टाँगें नाग हैं। धड़ बाघ के शरीर का आभास देता है। सुमेरियन लोगों के समान सिंधुकालीन लोगों में भी 'देवद्रुम-कथानक' प्रचलित था। पीपल और शमी को ये लोग पूज्य मानते थे। पीपल 'ज्ञानतरु' और शमी 'जीवन-तरु' समझा जाता था। वृक्षनिवासी यक्ष के अतिरिक्त जीवनतरु की रक्षा करने वाले जीवों में नर-मुण्ड संकीर्ण पशु तथा तीन सिरों वाला एक अन्य काल्पनिक चतुष्पाद भी था।

डॉ० व्हीलर का दोषग्रस्त काल-निर्णय—सिंधु-सभ्यता के काल के विषय में सर मार्टीमर व्हीलर से भी मेरा मतभेद है। सन् १९४६ में हड़प्पा में जो खनन हुआ उसके आधार पर उन्होंने सिंधु-सभ्यता के समस्त जीवन-काल को २५०० से १५०० ई० पू० की सीमाओं के अन्दर नियत करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार प्रौढ़ सिंधु-सभ्यता के सम्वाहक हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के केन्द्र-स्थानों में २५०० ई० पू० के लगभग पहुँचे थे और उनसे पहले हड़प्पा के स्थान पर कोई विजातीय लोग निवास करते थे। अतः उनके विचार में हड़प्पा में सिंधु-सभ्यता का आरम्भ २५०० ई० पू० के लगभग और अन्त १५०० ई० पू० के आस-पास हुआ। आन्तरिक एवं पारिस्थितिक साक्ष्य के सूक्ष्म परीक्षण से पता लगता है कि प्रौढ़ संस्कृति के सम्वाहकों द्वारा टीला एबी में निर्मित दुर्गप्राकार की अपेक्षा 'टीला-एफ' एक हजार वर्ष अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होता है कि मोहेंजो-दड़ो के टीलों में उद्घाटित सातवें स्तर के भग्नावशेष ३००० ई० पू० के बाद के नहीं हो सकते। इसके नीचे जलमग्न स्तरों की आयु के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। परन्तु सातवें स्तर में उत्खात विकसित संस्कृति के साक्ष्य पर यह अनुमान लगाना

प्रयुक्त नहीं, कि इस प्रौढ सांस्कृतिक-भूमिका तक पहुँचने के लिए कम से कम एक हजार वर्ष लगे होंगे। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के टीलों की स्तर-परीक्षा तथा अन्य देशों में उपलब्ध भारतीय वस्तुओं के तुलनात्मक अध्ययन से भी पता लगता है कि सिंधु-सभ्यता का प्रारम्भ निस्सन्देह चौथी सहस्राब्दी के प्रथम चरण में हुआ होगा।

डॉ० व्हीलर द्वारा प्रतिपादित सिंधु-सभ्यता के काल-निर्णय के समर्थन में प्रो० पिगट ने जो प्रमाण दिये हैं वे अत्यन्त दुर्बल और अपर्याप्त हैं। इस निर्णय के विरुद्ध बलवत्तर और संगत प्रमाणों की उन्होंने अशेषतः अवहेलना की है। दोनों पक्षों के प्रमाणों की तुलनात्मक समालोचना के अनन्तर मैंने उनसे उचित निष्कर्ष निकालने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

'एन्शेंट इण्डिया नं० ३' में डॉ० व्हीलर ने 'कब्रिस्तान-एच' के निर्माताओं को वैदिक आर्य सिद्ध करने की बलवती क्लिष्ट-कल्पना की है। उनके मत में ये आर्य ही थे जिन्होंने १५०० ई० पू० के लगभग आक्रमण करके सिंधु-सभ्यता को निर्दयता से निर्मूल कर दिया। अपनी समालोचना में मैंने दिखलाया है कि 'कब्रिस्तान-एच' के निर्माता वैदिक आर्य नहीं थे।

क्रीट द्वीप का साक्ष्य—सिंधु-सभ्यता के अति प्राचीन होने में एक और श्रद्धेय प्रमाण दो सिंधु-मुद्राएँ हैं जिन पर देव-पुरोहितों द्वारा अभिनीत वृषोत्प्लव-क्रीड़ाएँ अंकित हैं (फलक २७, ३, ५)। इनमें से एक मुद्रा पर ये धार्मिक खेल जीवनतरु दामी के सामने महिष-मुण्ड देवता की अध्यक्षता में खेले जा रहे हैं। दोनों मुद्राएँ मोहेंजो-दड़ो के टीलों में बहुत गहरी तहों से मिली थीं। स्तर-परीक्षा के आधार पर ये ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के प्रथम चरण के बाद की नहीं हो सकतीं। भारत पुरातत्त्व-विभाग की १९३४-३५ की रिपोर्ट में डाक्टर सी० एल० फाब्री ने अपने लेख में सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये धार्मिक-क्रीड़ाएँ भारत ने क्रीट-द्वीप की प्रागैतिहासिक मिनोअन सभ्यता से सीखी थीं। इस द्वीप में मातृदेवी की पूजा, देवद्रुम, दिव्य कपोत आदि उसके लक्षणों द्वारा होती थी। मैंने दिखलाया है कि क्योंकि क्रीट की ये समानरूप क्रीड़ाएँ १७५० ई० पू० के लगभग धार्मिक-रूप धारण करके १५वीं से १२वीं शती तक वहाँ प्रचलित रहीं, इसलिए इनका सिंधुकालीन वृषोत्प्लव-क्रीड़ाओं पर प्रभाव नहीं पड़ सकता था, क्योंकि १८वीं शती ई० पू० के लगभग सिंधु-सभ्यता स्वयं नामशेष रह गयी थी। विविध प्रमाणों का संयुक्त साक्ष्य केवल एक ही निर्णय की ओर निर्देश करता है और वह यह कि यह क्रीट-द्वीप था, न कि भारत, जिसने तीसरी सहस्राब्दी के अन्त में इस क्रीड़ा को साक्षात् अथवा किसी माध्य के द्वारा सिंधु-प्रान्त से प्राप्त किया। यह सर्वसम्मत तथ्य है कि मिनोअन-काल के क्रीटवासियों की धर्म-पद्धति और कला-रूढ़ियाँ पश्चिमी एशिया तथा मिश्र की उत्कृष्ट सभ्यताओं का प्रतिबिम्ब मात्र थीं।

रंगपुर और रोपड़ का साक्ष्य—सौराष्ट्र के अन्तर्गत रंगपुर और पूर्वी पंजाब में स्थित रोपड़ नामक खण्डहरों में पुरातत्त्व-विभाग ने जो खुदाई कराई उससे पता चलता है कि २००० ई० पू० के करीब सिंधु-सभ्यता के जो लोग यहाँ बसे थे वे सिंधु-कालीन उत्कृष्ट कलाओं और धर्म को भूल चुके थे। इन स्थानों से धार्मिक अभिप्राय की एक भी ऐसी वस्तु नहीं मिली जिससे पता लग सकता कि इन उपनिवेशों के रहने वाले अब भी महिषमुण्ड, अश्वत्थ देव आदि सिंधुकालीन देवताओं की पूजा करते थे। अत: सिंधु-सभ्यता की विविध विलक्षणताओं का अत्यन्ताभाव इस सत्य का प्रतिपादक है कि रंगपुर और रोपड़ के रहने वाले सिंधु-सभ्यता के लोग चिरकाल से इस सभ्यता के केन्द्र-स्थानों (हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो) से सम्पर्क छोड़ बैठे थे, और अपनी मूल-संस्कृति की विशिष्टताओं को भूल चुके थे। प्रतीत होता है कि ये लोग उन सिंधु-निवासियों के वंशज थे जो सिंधु-साम्राज्य के पतन पर नए घरों की तलाश में पूर्व तथा दक्षिण की दिशाओं में बिखर गए थे। उनकी सन्तानें कई पड़ावों में ठहरती हुई अन्त में इन स्थानों में आ बसी। इतने लम्बे काल में अपने मौलिक धर्मांगों और सांस्कृतिक विशिष्टताओं को भूल जाना उनके लिए अनिवार्य ही था।

लोथल का खण्डहर—सन् १९५४-५५ में भारत के पुरातत्त्व-विभाग ने सौराष्ट्र में लोथल नामक एक और प्रागैतिहासिक टीले का खनन कराया। यह स्थान रंगपुर से तीस मील पूर्वोत्तर में है। देश-विभाजन के अनन्तर आज तक जितने सिंधु-सभ्यता के खण्डहर उपलब्ध हुए उनमें इसका विशेष महत्त्व है। रंगपुर और रोपड़ की अपेक्षा लोथल का खण्डहर अधिक सुरक्षित और पाँच सौ वर्ष प्राचीनतर भी है। इसकी अन्य विलक्षणता यह है कि इसके समस्त जीवन-काल में केवल सिंधु-सभ्यता के लोग ही यहाँ आबाद रहे, रोपड़ और रंगपुर की तरह उत्तरकाल में विजातीय लोग आकर नहीं बसे। इस बस्ती का आरम्भ २५०० ई० पू० के लगभग हुआ और इसकी खुदाई में पाँच सिंधु-मुद्राएँ मिलीं जिनमें से एक पर एकशृंग पशु खुदा है। यह पशु, जैसा कि हमें मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ३८७ (फलक १८, इ) से पता चलता है, अश्वत्थ-देवता का प्रिय पशु था। अत: इसमें सन्देह नहीं रहता कि लोथल के निवासी सिंधु-संस्कृति के लोगों में सिंधु-युग के धर्म का कुछ अंश अभी शेष था।

चित्रित सलेटी कुम्भकला (पेंटड ग्रे वेअर)—भारत के इतिहास का वह काल जो सिंधु-सभ्यता के अन्त और छठी शताब्दी ईसापूर्व के मध्य में पड़ता है अन्धकाल माना गया है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में इतिहासकारों को बहुत थोड़ा ज्ञान है। हस्तिनापुर, रोपड़ और सलोरा आदि स्थानों में चित्रित सलेटी कुम्भकला की उपलब्धि से पूर्वोक्त अन्धकाल पर अनुसन्धान की किरणें पड़ना शुरू हो गई है। इसी कुम्भकला के अंश उत्तरी सतलुज तथा प्राचीन सरस्वती (घग्घर) की घाटियों में स्थित

साठ अन्य खण्डहरों में भी पाए गए हैं। पुरातत्व-विभाग के विद्वानों की सम्मति में यह कुम्भकला वैदिक आर्यों की कृति थी और उस समय बाहर से आई जब इस जाति ने ईसापूर्व १३वीं शती में सरस्वती की घाटी में प्रथम पदार्पण किया। "हस्तिनापुर के खण्डहर तथा महाभारत-काल" शीर्षक अपने लेख में मैंने दिखलाया है कि यदि हम इस कुम्भकला को आर्य-जाति की कृति मानें तो हमें कितनी आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा।

इस संदिग्ध परिस्थिति में सिंधु-सभ्यता की तिथि को यथार्थ रूप से आँकने की परम आवश्यकता है। पूर्वोक्त अन्धकाल के इस ओर तो ईसापूर्व छठी शताब्दी है और अति दूर दूसरे किनारे पर सिंधु-सभ्यता के प्रकाश-स्तम्भ की धीमी किरण दिखाई दे रही है। यदि हम इस स्तम्भ के अन्तर को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से ठीक ठीक नाप सकें तो इस मानदण्ड से मध्यवर्ती अन्धकाल की बहुत-सी समस्याओं का सुलझाना सम्भव हो सकेगा। डॉ० व्हीलर और प्रो० पिगट ने सिंधु-सभ्यता की जो तिथि नियत की है वह भारत के प्रागैतिहासिक युग के ढाँचे में ठीक नहीं बैठती, जैसा कि रंगपुर, लोथल आदि स्थानों के साक्ष्य से स्पष्ट है।

पीठ मन्दिर—मार्शल-प्रमुख उत्खाताओं की सम्मति में सिंधुकाल के खण्डहरों की खुदाई में देवालय या किसी अन्य धर्म-स्थान के कोई अवशेष नहीं मिले। इस पुस्तक के अन्तर्गत 'सिंधुकालीन पीठ-मन्दिर' नामक अपने लेख में मैंने दिखलाया है कि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के दोनों उत्तुंग टीले, अर्थात् टीला 'ए-बी' और 'स्तूप-टीला', जो आरम्भ में प्राकार-वेष्ठित थे, सम्भवतः उस युग के पीठ-मन्दिर थे, क्योंकि आकार, विशालता तथा रचना में ये मेसोपोटेमिया के 'जिग्गुरत' नामक पीठ-मन्दिरों के बहुत सदृश हैं।

सिंधु-लिपि—अठारहवें अध्याय में मैंने सिंधुकालीन चित्रलिपि पर प्रकाश डाला है। आज तक इस लिपि के मौलिक तथा उनके रूपान्तर जितने अक्षर मिल चुके हैं उनकी संख्या ६०० के ऊपर बैठती है। इस लिपि की तुलना जमदेत-नास्र काल की सुमेरियन तथा इलम की चित्रलिपियों से है जो मेसोपोटेमिया में ईसापूर्व ३५०० के लगभग प्रचलित थी। यह सादृश्य सिंधु-सभ्यता के ईसापूर्व ४००० वर्ष प्राचीन होने में अकाट्य प्रमाण है। इस लिपि के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान मैंने किया है उससे मैं इस निर्णय पर पहुँच सका हूँ कि ब्राह्मी-लिपि की तरह यह भी बाएँ से दाएँ को लिखी जाती थी, न कि दाएं से बाएँ को, जैसा कि प्रो० लैंगडन, सिडने स्मिथ, गैड तथा डॉ० हंटर आदि का मत है। सिंधुलिपि के सम्बन्ध में इस पुस्तक में मैं केवल एक ही अध्याय समाविष्ट कर सका हूँ जिसमें इस लिपि की साधारण विलक्षणताओं का ही वर्णन है। मुद्रण की कई एक अनिवार्य कठिनाइयों के कारण इसमें

दूसरा अध्याय शामिल नहीं कर सका। इस दूसरे अध्याय में मैंने लिपि के 'दाएँ से दाएँ' लेखक्रम के समर्थक सब प्रमाणों को एकत्रित किया है, और कई एक चित्राक्षरों और उनके योगों को पढ़ने का प्रयत्न भी किया है। विचार है कि इस अध्याय को मैं साइक्लोस्टाईल विधि से मुद्रित कराकर प्रकाशित करूँगा क्योंकि लेख के शरीर में स्थान-स्थान पर चित्राक्षरों का समावेश होने के कारण आयसाक्षरों से इसका मुद्रण सम्भव नहीं है।

शवविसर्जन-विधि तथा परलोक विश्वास—पुस्तक के नवें अध्याय में मैंने सिंधुकालीन मुर्दा गाड़ने की शवविसर्जन-विधि का वर्णन किया है। हड़प्पा में भिन्न-भिन्न काल के दो कब्रिस्तान मिले थे। इनमें उत्तरकालीन 'कब्रिस्तान-एच' में उत्खात शवभांडों पर मृतक की परलोक-यात्रा के जो चित्र बने हैं उनसे स्पष्ट है कि इन लोगों का विश्वास था कि मरने के अनन्तर मनुष्य का सूक्ष्म-शरीर सूर्यलोक आदि दिव्य-लोकों में निवास करता है। सूर्यलोक की यात्रा में बैल, मोर तथा बकरा मृतक के सहायक होते थे, क्योंकि इन जीवों का इस लोक से विशेष सम्बन्ध था। देवद्रुम अश्वत्थ भी किसी न किसी रूप में इस लोक से सम्बद्ध था। प्राचीनतर कब्रिस्तान 'आर-३७' के लोग भी अपने मुर्दों को कब्रों में गाड़ते थे और सम्भवतः वे भी सूर्यलोक में विश्वास रखते थे क्योंकि इस काल की कब्रों में जो बर्तन पाए गए उन पर भी मोर और देवद्रुम अश्वत्थ के चित्र बने थे, यद्यपि मृतक की परलोक-यात्रा का कोई दृश्य नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग अपने मृतकों की स्मृति में स्मारक अथवा श्राद्ध-भांड गाड़ते थे और उनके समीप जल से पितृ-तर्पण आदि अन्त्येष्टि क्रिया करते थे। यह बात उल्लेखनीय है कि यद्यपि सिंधुकालीन लोग अपने मुर्दों को सुमेरियन तथा वेबीलोनियन लोगों की तरह भूमि में गाड़ते थे तथापि उनकी तरह वे अधोलोक में विश्वास नहीं करते थे। इसके विपरीत मृतकों का अग्निदाह करने वाली जातियों के समान उनका दृढ़ विश्वास था कि मरने के अनन्तर जीव सौर आदि दिव्य लोकों में अनन्त काल तक विहार करता है।

—केदारनाथ शास्त्री

क्रम

फलक-परिचय

सिंधु-सभ्यता का आदिकेन्द्र

हड़प्पा

१

स्थिति तथा इतिहास

स्थिति तथा भौगोलिक रचना—हड़प्पा के खंडहर जो रावी नदी के तटवर्ती सब खंडहरों से अधिक विशाल हैं पश्चिमी पंजाब के मंटगुमरी जिला में आधुनिक हड़प्पा कसबे के साथ ही विद्यमान हैं। लंबाई और चौडाई में प्राय पौन मील और परिधि में तीन मील के लगभग ये खंडहर ढाया नामक उस उच्च धरातल के उत्तरी किनारे पर स्थित है, जो इस स्थान पर रावी के आस-पास की निम्नतल भूमि में धीरे-धीरे लीन हो जाता है। यह धरातल मध्य में कछुए की पीठ के समान ऊँचा और किनारों की ओर ढलुआँ तमाम जिले के बीचोबीच लंबाई के रुख अटा पड़ा है। लंबाई में लगभग साठ मील और चौड़ाई में प्राय दस मील यह 'ढाया' जिले की भौगोलिक रचना का प्रधान अंग है। हड़प्पा के नीचे इसकी चौडाई क्रमश सकुचित होती हुई अन्त में चीचावतनी के पास रावी के बाएँ किनारे में लीन हो जाती है। प्राचीन काल में इस पठार के उत्तर में रावी और दक्षिणी किनारे के साथ ब्यास नदी बहती थी। इन नदियों के सूखे पाट, जिन्हें 'सुक रावा' और 'सुक-ब्यास' कहते हैं, आज भी उनके अतीत गौरव की स्मृति दिलाते हैं। 'सुक-रावा' हड़प्पा की उत्तरी सीमा पर और 'सुक-ब्यास' वहाँ से दस मील दूर 'ढाया' पठार की दक्षिणी सीमा पर विद्यमान है।

इस पठार का मध्य भाग निर्जल और उजाड़ है, जिसमें छोटी-छोटी झाड़ियों व लोनी बूटी के सिवाय दूसरे वनस्पति बहुत कम हैं। इसी कारण चिरकाल से लोग इस भूमि को 'गजी-बार' नाम से पुकारते चले आए हैं। इस कठोर भूमि का एक बड़ा खंड जिसे 'बाड़ा' कहते हैं 'हड़प्पा रोड' रेलवे स्टेशन के पास कई मीलों तक व्याप्त है। दुपहर के समय सूर्य की किरणों के ताप में यहाँ साक्षात् मृगतृष्णा का भ्रम होता है। ढाया' पठार यद्यपि उजाड़ तथा बीहड़ है फिर भी इसका वह भाग जो रावी तथा सतलुज नदियों के निकटवर्ती है अत्यन्त उपजाऊ, वृक्षबहुल और मनोहर है। अतीत-काल में सुक-रावा और सुक-ब्यास के सूखे पाटों में जब पूर्णस्रोत नदियाँ बहती थीं तो

इस छोटे से रम्य दोआबे में स्थित प्राचीन हड़प्पा अपने उत्कर्ष-काल में उत्तरी भारत का अवश्य ही एक बहुत विशाल, रमणीक और समृद्ध नगर होगा।
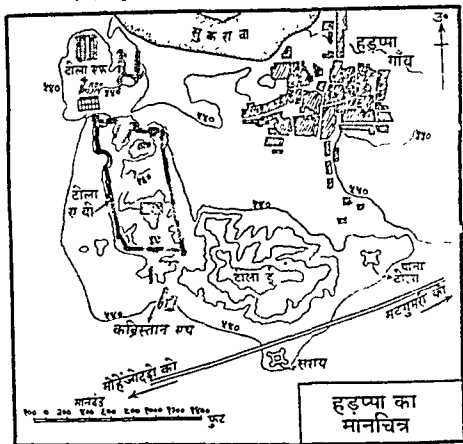
फलक १

हड़प्पा के खंडहर जिनमें बहुत से टीले और आस-पास के समतल क्षेत्र भी शामिल हैं, एक विषम-चतुर्भुज के आकार में व्याप्त हैं (फलक १)। टीलों की ऊँचाई साथ के खेतों की अपेक्षा ८ से ६० फुट तक और समुद्रतल से ५३० से ५६० फुट तक है। यदि सबसे ऊँचे टीले पर खड़े होकर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई जाए तो कई मीलों तक मैदान ही मैदान दिखाई देता है जिसमें पीलु, जंड, करीर और फराश के वृक्षों की भरमार है। विशेषतः उत्तर की ओर जहाँ तक दृष्टि काम करती है, ये वृक्ष रावी की वर्तमान धारा का अनुसरण करते हुए सघन वन का रूप धारण कर लेते हैं। किसी समय यह जंगल बहुत गुंजान था, परन्तु गत चालीस-पचास वर्षों में जब से 'लोअर-बारी-दोआब' नहर बनी है, लोगों ने जंगल के बहुत बड़े भाग को साफ करके

इसमें खेती बोना आरम्भ कर दिया है और अब इन खंडहरों के आस-पास असंख्य लह-लहाते खेत दिखाई देते हैं।

दो सहस्र वर्ष पहले इस प्रान्त की प्रकृति और यहाँ के निवासी प्रायः ऐसे ही थे जैसे कि आजकल देखने में आते हैं। इसका प्रमाण महाभारत के कर्णशल्य-सम्वाद प्रकरण में, जहाँ वाहीक-निवासियों के गुण कर्म स्वभाव और देशप्रकृति का विस्तृत वर्णन किया गया है, मिलता है[1]। वहाँ लिखा है कि यह देश जड, पीलु और करीर के वनों से ढका हुआ था और वहाँ के निवासियों का स्वभाव चोरी करना, मद्य पीना गोमांस और लहसुन खाना आदि था[2]।

जलवायु—'लोअर-बारी-दोआब' नहर खुदने से पहले पंजाब का यह भाग जो अब मंटगुमरी जिले के अन्तर्गत है चिरकाल तक एक उजाड और ऊपर प्रदेश था। ब्रिटिश राज्य के आरम्भ में जो यूरोपीन अधिकारी इस जिले में नियुक्त होते थे वे

---

१. सम्भव है कि यह प्रान्त जिसमें हड़प्पा के खंडहर विद्यमान हैं प्राचीन मद्रदेश के अन्तर्गत था। इसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) रावी और चनाब के मध्य में थी। महाभारत में इस प्रान्त के निवासियों का नाम 'वाहीक' लिखा है। सिकन्दर महान् के आक्रमण के समय ये लोग 'कठै' कहलाते थे और आजकल इनका नाम 'काठिया' है। अब ये लोग अपने को मुसलिम राजपूत कहते हैं और हड़प्पा के आस-पास रावी के तट पर आबाद हैं। स्वभाव से ये उपद्रवी और झगडालू हैं।

२ तासां विलावलिप्तानां निवसन्कुरुजांगले।
कच्चिद्वाहीक दुष्टानां नातिहृष्ट-मना जगौ॥
सा नून बृहती गौरी सूक्ष्मकम्बलवासिनी।
मामनुस्मरती शेते वाहीकं कुरुवासिनम्॥
शतद्रु नु कदा तीर्त्वा तां च रम्यामिरावतीम्।
गत्वा स्वदेशं द्रक्ष्यामि स्थूल जंघा शुभा स्त्रियः॥
मृदंगानकशंखानां मर्दलानां च निःस्वनैः।
खरोष्ट्राश्वतरैश्चैव मत्ता यास्यामहे सुखम्॥
शमीपीलुकरीराणां वनेषु सुखवर्त्मसु।
अपूपान्सक्तुपिण्डांश्च प्राश्नन्तो मथितान्वितान्॥
गव्यस्य तृप्ता मांसस्य पीत्वा गौडं सुरासवम्।
पलाण्डु-गडूष-युतान्-खादन्ती चैडकान्बहून्॥

—महाभारत, कर्ण पर्व, ४४, १५-२८।

इसे कालापानी समझते और यहाँ की जलवायु से बहुत घबराते थे। जहाँ वार्षिक वर्षामान छः सात इंच के लगभग हो और ग्रीष्मकाल अत्यन्त प्रचण्ड तथा लम्बा हो, जहाँ दिन को अर्धरात्रि बना देने वाले रेगिस्तानी तूफान प्रायः दैनिक घटना हो, और रात के समय दंश और मच्छर सताते हो, ऐसे प्रदेश को मनुष्य के निवास के अनुकूल नही कहा जा सकता। आज भी यह जिला भारत के अत्यन्त गर्म और सूखे जिलो मे एक माना जाता है। अपेक्षतः शीतकाल अच्छा होता है। इसमें मनुष्य अन्दर बाहर का काम भली प्रकार कर सकता है।

किन्तु प्राचीन काल मे इस प्रान्त की जलवायु आजकल की अपेक्षा सुतरां भिन्न थी। इसमें सन्देह नही कि उस समय यहाँ वर्षा अत्यधिक होती थी। इस तथ्य का समर्थन निम्ननिर्दिष्ट प्रमाणों से मिलता है—

(१) 'ढाया' पठार और पूर्वोक्त दोनो नदियो के बीच का ढालुआँ प्रदेश असंख्य बरसाती नालो से कटा पडा है, जिससे प्रतीत होता है कि प्रागैतिहासिक-युग मे यहाँ प्रचुर वर्षा होती थी और फलतः जनसख्या भी अधिक थी।[१]

(२) टीलो की खुदाई से पता चलता है कि लोगों ने कच्ची ईंटों का प्रयोग केवल मकानो की बुनियादों में ही किया था। ऊपरी भाग मे पकी ईंटे ही काम में लाई गई थी।

(३) गैंडा, बाघ, हाथी, सूअर आदि पशुओं की जो असंख्य मूर्तियाँ खुदाई में मिली है उनसे सिद्ध होता है कि यह प्रान्त उस समय जलप्राय, वृक्षबहुल और दलदलों से घिरा हुआ था, क्योंकि इन पशुओ के जीवन के लिये ऐसी भूमि ही अनुकूल है।

(४) हड़प्पा के आदिनिवासियों ने जब टीलो के स्थान पर अपनी पहली बस्ती की नीव रखी तो उस समय सतह जमीन सुक-रावा के आधुनिक तल से दस बारह फुट और नीचे थी। परन्तु कालान्तर में यह गहराई धीरे-धीरे नदी पंक से भरती चली गई जो प्रतिवर्ष प्रबल बाढो के कारण नदी में बह आता था।

ऐसे मनोहर और हरे-भरे भूखण्ड का धीरे-धीरे निर्जन और उजाड़ बन जाना निस्सन्देह एक रहस्यपूर्ण घटना है। अनुसन्धान से प्रतीत होता है कि इस दारुण परिवर्तन का प्रधान कारण वर्षा की उत्तरोत्तर न्यूनता और अन्त मे उसका नितान्त अभाव ही था। प्रो० गार्डन चाईल्ड अपनी पुस्तक "न्यू लाईट आन दि मोस्ट एन्शेंट

---

१. इस प्रान्त मे 'चक पूर्बाने स्याल' नामक एक खंडहर है जो हड़प्पा से प्राय १३ मील दक्षिण-पूर्व में ब्यासा नदी के सूखे पाट पर स्थित है। यह बस्ती सिन्धु-सभ्यता-युग की है और इसे श्रीमाधोसरूप वत्स ने सन् १९२८ मे उपलब्ध किया था।

'ईस्ट" में लिखते हैं कि अति प्राचीन युग में जिसकी अर्वाचीन अवधि ५००० वर्ष ई० पू० के लगभग हो सकती है सिन्धुनद का काठा, बलूचिस्तान, ईराक, मिश्र और अफ्रीका का सहरा एक ही भूखण्ड में स्थित होने के कारण समान जलवायु के भागी थे। इन देशों को अन्धमहासागर (एटलाटिक ओशन) में प्रादुर्भूत जलधर-पवन (मानसून) सींचते थे और वर्षा-बहुलता के कारण ये देश उस समय प्रकृति के सुन्दर लीला-स्थल एवं संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं के केन्द्र बने हुए थे। किन्तु समय परिवर्तनशील है। कालान्तर में जब यूरोप आत्यन्तिक हिमाटोप तथा उसके फलस्वरूप भारी वातावरण से विमुक्त हो गया तो अन्धमहासागर के मानसून पवनों को इस महाद्वीप में प्रवेश करने का अवसर मिला, और उन्होंने अपना प्राचीन मार्ग छोड़कर यूरोप के अंदर नया मार्ग बना लिया। इस कारण परिवर्तन से इन अक्षांश में स्थित मिश्र, ईराक आदि सभी पूर्वोक्त देश मरुस्थल बन गये।

प्रो० चाईल्ड का सिद्धान्त यद्यपि सुगम और रोचक है, तथापि सर जान मार्शल के विचार में इसे मान लेने में कई आपत्तियाँ हैं। उनके मतानुसार सिंधुदेश, बलूचिस्तान और पश्चिमी पंजाब को सींचने वाली मानसून पवनों का जन्म अन्धमहासागर से नहीं अपितु अरब सागर से होता था। उनका यह मत भारत के जलवायु विभाग की सम्मति पर आधारित है। मार्शल के इस सिद्धान्त के अनुसार जब तक ये देश इन पवनों से प्रभावित रहे इनमें प्रचुर वर्षा होती रही, परन्तु कालान्तर में जब ये पवनें मार्गभ्रष्ट होकर दूसरी ओर बहने लगीं तो इस भयंकर परिवर्तन से पुरानी सभ्यता की इतिश्री हो गयी।

संक्षिप्त इतिहास—हड़प्पा के खंडहर के सम्बन्ध में जो दन्तकथा परम्परा से चली आ रही है वह इस प्रकार है कि प्राचीनकाल में यहाँ हरपाल नाम का एक दुराचारी राजा शासन करता था। उसके दुराचारों के कारण दैवी-कोप से एक ही रात में सारा नगर नष्ट हो गया। कहा जाता है कि हड़प्पा नाम भी इसी राजा के नाम पर पड़ा (हरपालपुर-हड़प्पा)। सर अलेग्जैंडर कनिंघम का विचार है कि हड़प्पा शहर और 'पो-फा टो' नाम का स्थान, जिसका उल्लेख चीनी यात्री ह्वेन-सांग ने अपनी 'भारत यात्रा' पुस्तक में किया है, एक ही स्थान के सूचक हैं। परन्तु प्रमाणाभाव से न तो हड़प्पा के नष्ट होने की दन्तकथा और न ही पो-फा टो और हड़प्पा की एकात्मता श्रद्धेय हो सकती हैं।

हड़प्पा के सम्बन्ध में जो पहला विश्वसनीय लेख मिलता है वह मेसन नाम का एक अंग्रेज यात्री का है, जिसने इस स्थान को सन् १८२६ ई० में देखा था। उसके पाँच वर्ष पीछे सन् १८३१ में कर्नल बर्न्स ने इन खंडहरों का तब निरीक्षण किया जब वह इंगलैण्ड के राजा की ओर से दूत बन कर महाराजा रणजीतसिंह से मिलने लाहौर

आ रहा था। दोनों अंग्रेज यात्री लिखते हैं कि 'हड़प्पा के खंडहर तीन मील की परिधि मे विशाल रूप से व्याप्त हैं और यहाँ पश्चिमी टीले पर एक टूटी-फूटी गढ़ी अभी तक विद्यमान है।"

सर अलेग्जेंडर कनिंघम—कनिंघम महोदय ने जब पहले सन् १८५३ ई० मे और पुन १८५७ में इन टीलों का निरीक्षण किया तो इस गढ़ी का नामोनिशान मिट चुका था। इससे पता चलता है कि उस समय इन खंडहरो में 'ईंटों की लूट खसूट' कितने जोरो पर थी। अपनी 'सर्वे रिपोर्ट न० ५' में कनिंघम बड़े खेद से लिखते हैं कि 'लाहौर-मुल्तान' रेलवे लाईन पर सौ मील तक जितना ईंट-रोड़ा पड़ा वह सब हड़प्पा के खंडहरो की लूट का माल था। सन् १९२०-२१ से १९३२-३३ तक पुरातत्त्व विभाग ने जो खुदाई यहाँ कराई उसमे भी 'ईंटों की लूट' का पर्याप्त प्रमाण मिला था। सन् १९२०-२१ मे अब श्री दयाराम साहनी ने हड़प्पा मे पहली खुदाई कराई तो कनिंघम के द्वारा वर्णित बहुत-सी इमारतें लुप्त हो चुकी थी। सन् १९२६ से १९३३ तक श्री माधोसरूप वत्स ने इन टीलों में जो खनन कराया उसमे उन्हे १३ फुट की गहराई तक सुरंगें मिली जो उन स्थानों में स्वयं बन गई थी जहाँ से लोगों ने ईंटें निकाल ली थी।

गत शताब्दी के मध्य मे कनिंघम को हड़प्पा से जो अनेक प्राचीन वस्तुएँ मिली उनमें चित्रलिपि वाली मुद्राएँ भी थी (फलक ४६ घ)। इन्हे देख भारत तथा यूरोप के पुरातत्त्ववेत्ताओं में बहुत कुतूहल पैदा हुआ। परन्तु हड़प्पा की प्रागैतिहासिक प्राचीनता का ज्ञान उस समय हुआ जब सन् १९२४ में मोहेंजोदड़ो की खुदाई मे भी इसी शैली की वस्तुएँ प्रकाश में आई। तुलनात्मक समालोचना ने सिद्ध कर दिया कि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो की सभ्यताएँ न केवल परस्पर समान और एकरूप थी किन्तु इनका सुमेरियन सभ्यता से भी घनिष्ट सम्बन्ध था।

सन् १९२० की जनवरी मे भारत सरकार ने हड़प्पा के खंडहर को 'प्राचीन-स्मारक-सरक्षण-धारा' के अधीन सुरक्षित कर दिया। तब से इन टीलो में ईंटो की लूट खसूट सदा के लिये बंद हो गई। यहाँ भारत पुरातत्त्व विभाग की ओर से खुदाई का प्रथम सूत्रपात सन् १९२० में श्री दयाराम साहनी ने किया था। इस काम को उन्होंने सन् १९२४-२५ तक जारी रखा। जब श्री माधोसरूप वत्स उनके स्थानापन्न हुए तो उन्होंने सन् १९२६ से लेकर १९३३ तक इस काम को सम्हाला। हड़प्पा में अधिकांश खननकार्य श्री वत्स जी का ही किया हुआ है। अनन्तर आर्थिक बाधाओं के कारण भारत सरकार को अन्य स्थानों की तरह हड़प्पा में भी यह काम स्थगित करना पड़ा।

खंडहर और उसकी खुदाई—हड़प्पा के खंडहर में कई टीले और उनके

आस-पास की समतल भूमि भी शामिल है। टीले, जिनमे से एक पर वर्तमान हड़प्पा कसबा बसा हुआ है, माला के आकार में व्याप्त है (फलक १)। कनिंघम ने अपनी रिपोर्ट में टीलो का निर्देश 'ए-बी', 'सी', 'डी', 'ई' और 'एफ' अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षरो तथा 'थाना-टीला' के नाम से किया है। समतल प्रदेशो मे एक 'जी' और दूसरा 'एच' है। ये दोनो नाम श्री वत्स के दिये हुए हैं। इनमे 'जी' क्षेत्र 'थाना-टीला' के थोडी दूर दक्षिण में, और 'एच' प्रदेश स्थानीय सग्रहालय के पश्चिमोत्तर मे हैं।

टीला 'डी'

कब्रिस्तान 'एच' और टीला 'ए-बी' के मध्यवर्ती यह टीला लबाई मे पूर्व से पश्चिम ४६०.फुट, चौडाई मे ३६० फुट और ऊँचाई मे १५ फुट के लगभग है। यहाँ १० से २० फुट तक गहरे दो खात खोदे गये थे, जिनमे पाँच-छ स्तरो की टूटी-फूटी इमारतो के अवशेष पाए गये। टीला 'एफ' के समान इस टीले मे भी बहुत-सी प्राचीन वस्तुएँ मिली थी जिनमें दूधिया पत्थर की अनेक मुद्राएँ, ताँबे और कासे की विविध कृतियाँ और पकाई मिट्टी की सश्लिष्ट टाँगो वाली पशुमूर्तियाँ थी।

टीला 'ए-बी'

हडप्पा के टीलो मे सबसे विशाल और उन्नत यह टीला दक्षिण मे टीला 'डी' और उत्तर मे टीला 'एफ' से सीमित है (फलक १)। आकार मे यह लगभग १५०० फुट लम्बा और ८०० फुट चौडा चतुर्भुज है। इसके पूर्वोत्तरी किनारे पर मुसलमानी समय की नौगजा कब्र[1] और एक टूटी-फूटी ईदगाह है। कब्र के पश्चिम मे टीले का सबसे उत्तुग भाग समुद्रतल से ५६० फुट और आस-पास के खेतो से ६० फुट ऊँचा उठा हुआ है। इस टीले पर तीन बडे और दो छोटे खात खोदे गये थे। बडे खातो मे से एक टीले की दक्षिणी ढलवान पर, दूसरा मध्य मे और तीसरा उत्तरी भाग मे नौगजा कब्र के पास खुदा है (फलक ८)।

दक्षिणी ढलवान का खात—टीले की ढलवान मे खोदे जाने के कारण इस खात की गहराई उत्तरी भाग मे १७ फुट से आरम्भ होकर क्रमश कम होती हुई

---

१ 'नौगजा' का प्रचलित शब्दार्थ 'नौ गज लम्बा मनुष्य' है। परन्तु कनिंघम के विचार मे यह शब्द फारसी के 'नौ गाजी' शब्द का अपभ्रश है जिसका अर्थ 'नया धर्मवीर है। अर्थात् वह मुसलमान नेता जो दीन (धर्म) की लडाई मे मारा जाता था, नौगाजी कहलाता था। इसलिए 'नौगजा' का "नौ गज लम्बा मनुष्य" यह अर्थ आधुनिक और अयुक्त है। नौगजा कब्रें पजाब और सयुक्त-प्रदेश म प्राय पाई जाती हैं।

दक्षिणी किनारे पर केवल एक-दो फुट के लगभग ही रह जाती है। उत्तरी भाग में दो आवर्तों का बना हुआ एक दोहरा कुआँ है जिसका अन्दर का आवर्त पत्नी के आकार की ईंटो से तैयार किया गया था। अन्दर से इसे ६२ फुट तक खाली किया गया था परन्तु फिर भी पानी की तह तक नहीं पहुँचा जा सका। कुएँ के अतिरिक्त इस खान में जो भग्नावशेष मिले उनमें दो वर्णनीय हैं। प्रथम तो एक १०६ फुट लम्बी ५४ ईंटे मटकों की पंक्ति थी जिसमें मटके अकेले अथवा दो-दो या तीन-तीन की राशि में एक दूसरे पर एक दीवार के सहारे रखे हुए थे। दूसरी उपलब्धि खान के दक्षिणी किनारे पर कच्ची ईंटों का एक बड़ा भराव था जो लम्बाई में ७० फुट, चौड़ाई में ५० फ और मोटाई में ६ फुट के लगभग था। यह भराव जिसे वत्स महोदय ने 'कच्ची ईं का असम्बद्ध तोंदा' समझा था वस्तुतः उस विशाल दुर्ग-प्राकार का खंड है जो टी 'ए-बी' के चारों ओर हड़प्पा के आदिवासियों ने बनाया था।

मध्यवर्ती खात—यह खात पूर्वोक्त खुदाई से प्रायः ३०० फुट उत्तर में है। इसकी लम्बाई १६४ फुट, चौड़ाई १३७ फुट और सर्वसाधारण गहराई २ के लगभग है। इसमें उत्खात पाँच स्तरों के वास्तुखंडों में निम्नलिखित मुख्य (१) पाँचवें स्तर से सम्बद्ध दोहरे फर्श की सुदृढ़ नाली जो २ फुट ३ इंच कें (२) १४० फुट लम्बी नोकीले छतवाली चौथे स्तर की नाली जो पूर्वोक्त बड़ के ठीक ऊपर बनी थी। इसके पश्चिमी सिरे पर दो जमींदोज कोष्ठ और कु मटके थे जो आस-पास की छोटी नालियों का बरसाती तथा गदा पानी बड़ पहुँचाते थे। निस्सन्देह ये नालियाँ और गड़े हुए मटके नगर के नाली प्रव रखते थे।

इस खाइ... ने महत्वपूर्ण उपलब्धि हुई वह तीन मानव पं... जो एक कच्चे ... बिखरी पड़ी थी। ... के नि...

अस्थियाँ (नं० ... ल के

और तीसरे ... उने

(Fraction ... समय

प्रथम स्तर ... खात

उ... में ०

पश्चिम ... नारी

है, क्र... तों

इसमें ... े

ल

मि
यूरो
प्राची
इसी
हड़प्पा
इनका सु

स्मारक-स
लूट खसूट
का प्रथम
उन्होंने सन्
हुए तो उन्होंने
अधिकांश खनन
कारण भारत
करना पड़ा।
खंडहर अ

रही मृदग वजा रही है[1] । इनके अतिरिक्त एक ही साँचे मे ढले हुए चार मानव मस्तक और कई बडे आकार की तथा घडी हुई ईंटें थी । इस उपलब्धि से प्रतीत होता है कि गुप्तकाल मे इस टीले पर एक छोटी सी बौद्ध बस्ती थी । खात के मध्य मे पत्थर की खडित मुँदरियो का एक बडा ढेर मिला था । इसी भाँति की दो मुँदरियाँ अब भी नौगजा कब्र के पास पडी हैं जिन्हे स्थानीय लोग नौगजा पीर की अगुली की मुँदरियाँ बतलाते हैं । इमारती पत्थरो के बहुत से खड जो यहाँ पाए गये उनमे से कई मे धातु के खोखले बरमे से निकाले हुए छेद थे । इसी खात मे पशुओ की हड्डियो का एक ढेर भी निकला था जिसमे कुत्ते का सिर और दाँत तथा बैल, घोडे आदि की अस्थियाँ मिश्रित थी ।

टीला 'एफ'

नौगजा कब्र के पीछे खडे होकर पश्चिमोत्तर की ओर देखने से टीला 'एबी' से सटा हुआ जो नीचा टीला दिखाई देता है वह टीला 'एफ' है । इसमे बाहर के लगभग खात खुदे हैं और दूर से देखने पर यह टीला शहद के छत्ते की तरह छिदा हुआ प्रतीत होता है । लम्बाई मे यह पूर्व से पश्चिम के रुख ६७० फुट चौडाई मे ७८० फुट और ऊँचाई मे आस-पास के खेतो से १२ फुट के लगभग है । इसकी उत्तरी सीमा पर सुकरावा (रावी का सूखा पाट) है, जहाँ प्राचीन समय मे नदी की पूर्णस्रोत धारा बहती थी । अब यह धारा पाँच मील उत्तर को बहती है । दूसरो की अपेक्षा इस टीले मे प्राचीन वस्तुएँ और भग्नावशेष प्रचुर सख्या मे मिले थे । यही कारण था कि यहाँ खुदाई अधिक मात्रा मे की गई । इसमे छ बडे और कुछ छोटे खात खुदे है जिनका सक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है ।

खात न० १—यह खात टीले के पूर्व दक्षिणी भाग मे एक चतुर्भुज के आकार मे खुदा है । इसकी गहराई दक्षिण मे छ फुट से लेकर उत्तरी भाग मे ३५ फुट तक है । इसके उत्तरी किनारे पर खडे होकर देखने से उत्तरोत्तर आठ स्तरो की इमारतो के खड स्पष्ट रूप से दिखाई देते है, जिससे सिद्ध होता है कि इस टीले पर क्रमश आठ आबादियाँ हो चुकी है (फलक ६) । ऊपर के तीन स्तरो की इमारतें बनावट मे घटिया, दुर्बल और खडित हैं परन्तु उनके नीचे के तीन स्तरो के वास्तु खड दृढ और उत्कृष्ट रचना के है । सातवें और आठवें स्तरो के केवल थोडे ही अवशेष मिले थे ।

इस खात से उत्खात पुराण वस्तुओ मे निम्नलिखित मुख्य हैं—काँसे का देगचा (न० २७७) जिसमें एक सौ के लगभग ताँबे के शस्त्रोपकरण तथा अन्य वस्तुएँ खचाखच भरी थी । पाषाण मुद्राओ तथा अन्य विविध वस्तुओ का एक वृहत् समुदाय,

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, भाग २, फलक ७२,५३ ।

दक्षिणी किनारे पर केवल एक-दो फुट के लगभग ही रह जाती है। उत्तरी भाग में दो आवर्तों का बना हुआ एक दोहरा कुआँ है जिसका अन्दर का आवर्त्त फन्नी के आकार की ईंटों से तैयार किया गया था। अन्दर से इसे ६२ फुट तक खाली किया गया था परन्तु फिर भी पानी की तह तक नहीं पहुँचा जा सका। कुएँ के अतिरिक्त इस खात में जो भग्नावशेष मिले उनमें दो वर्णनीय हैं। प्रथम तो एक १०६ फुट लम्बी ९४ टूटे मटकों की पंक्ति थी जिसमें मटके अकेले अथवा दो-दो या तीन-तीन की राशि में एक दूसरे पर एक दीवार के सहारे रखे हुए थे। दूसरी उपलब्धि खात के दक्षिणी किनारे पर कच्ची ईंटों का एक बड़ा भराव था जो लम्बाई में ७० फुट, चौड़ाई में ५० फुट और मोटाई में ६ फुट के लगभग था। यह भराव जिसे वत्स महोदय ने 'कच्ची ईंटों का असम्बद्ध तोंदा' समझा था वस्तुतः उस विशाल दुर्ग-प्राकार का खंड है जो टीला 'ए-बी' के चारों ओर हड़प्पा के आदिवासियों ने बनाया था।

मध्यवर्ती खात—यह खात पूर्वोक्त खुदाई से प्रायः ३०० फुट उत्तर में स्थित है। इसकी लम्बाई १६४ फुट, चौड़ाई १३७ फुट और सर्वसाधारण गहराई १० फुट के लगभग है। इसमें उत्खात पाँच स्तरों के वास्तुखंडों में निम्नलिखित मुख्य थे—(१) पाँचवें स्तर से सम्बद्ध दोहरे फर्श की सुदृढ़ नाली जो २ फुट ३ इंच ऊँची थी; (२) १४० फुट लम्बी नोकीले छतवाली चौथे स्तर की नाली जो पूर्वोक्त बड़ी नाली के ठीक ऊपर बनी थी। इसके पश्चिमी सिरे पर दो जमींदोज कोष्ठ और कुछ दबे हुए मटके थे जो आस-पास की छोटी नालियों का बरसाती तथा गंदा पानी बड़ी नाली में पहुँचाते थे। निस्सन्देह ये नालियाँ और गड़े हुए मटके नगर के नाली प्रबन्ध से सम्बन्ध रखते थे।

इस खात में जो महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हुई वह तीन मानव पंजरों की खंडित अस्थियाँ (नं० ५४४०) थीं जो एक कच्चे फर्श पर बिखरी पड़ी थी। ये पिंजर चौथे और तीसरे स्तरों के मध्यकाल के थे और वत्स महोदय के विचार में खंड-शव (*Fractional Burials*) *गाड़ने की उस विधि का पूर्व रूप थे जो कब्रिस्तान 'एच' के* प्रथम स्तर के शवभाण्डों के समय प्रचलित थी।

उत्तरी खात—यह खात टीला 'ए-बी' की उत्तरी सीमा पर नौगजा कब्र के पश्चिम में टीले की चोटी में खुदा है। इसीलिये इसकी गहराई, जो मध्य में ३० फुट है, क्रमशः घटती हुई किनारों पर आकर केवल एक या दो फुट ही रह जाती है। इसमें सात स्तरों की इमारतों के भग्नावशेष प्रकाश में आए थे। तेज ढलवान के कारण समान-स्तर की इमारतों की गहराई में परस्पर बहुत अन्तर था।

यहाँ ऊपर के स्तर में गुप्तकालीन (चौथी या पाँचवीं शती ई० की) कुछ वस्तुएँ मिली थीं जिनमें मिट्टी की तीन खंडित मूर्तियाँ वर्णनीय हैं। इनमें एक पर कोई अलंकृत

स्त्री मृदंग बजा रही है'। इनके अतिरिक्त एक ही साँचे में ढले हुए चार मानव मस्तक और कई बड़े आकार की तथा घडी हुई ईंटें थी। इस उपलब्धि से प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में इस टीले पर एक छोटी सी बौद्ध बस्ती थी। खान के मध्य में पत्थर की खंडित मुंदरियों का एक बड़ा ढेर मिला था। इसी भाँति की दो मुंदरियाँ अब भी नौगजा कब्र के पास पड़ी हैं जिन्हे स्थानीय लोग नौगजा पीर की अंगुली की मुंदरियाँ बतलाते हैं। इमारती पत्थरों के बहुत से खड जो यहाँ पाए गये उनमे से कई मे धातु के खोदने करने से निकाले हुए छेद थे। इसी स्थान से पशुओं की हड्डियों का एक ढेर भी निकला था जिसमे कुत्ते का सिर और दाँत तथा बैल, घोड़े आदि की अस्थियाँ मिश्रित थी।

टीला 'एफ'

नौगजा कब्र के पीछे खड़े होकर पश्चिमोत्तर की ओर देखने से टीला 'ए-बी' से सटा हुआ जो नीचा टीला दिखाई देता है वह टीला 'एफ' है। इसमे बाहर के लगभग खान खुदे हैं और दूर से देखने पर यह टीला मधु के छत्ते की तरह छिदा हुआ प्रतीत होता है। लम्बाई मे यह पूर्व से पश्चिम के रुख ६७० फुट, चौडाई म ७८० फुट और ऊँचाई मे आस-पास के खेतो से १२ फुट के लगभग है। इसकी उत्तरी सीमा पर सुकराबा (रावी का सूखा पाट) है जहाँ प्राचीन समय मे नदी की पूर्णस्रोत धारा बहती थी। अब यह धारा पाँच मील उत्तर को बहती है। दूसरो की अपेक्षा इस टीले मे प्राचीन वस्तुएँ और भग्नावशेष प्रचुर सख्या मे मिले थे। यही कारण था कि यहाँ खुदाई अधिक मात्रा में की गई। इसमे छ बडे और कुछ छोटे खात खुदे हैं जिनका सक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है।

खात न० १—यह खात टीले के पूर्व-दक्षिणी भाग मे एक चतुर्भुज के आकार मे खुदा है। इसकी गहराई दक्षिण मे छ फुट से लेकर उत्तरी भाग मे ३५ फुट तक है। इसके उत्तरी किनारे पर खड़े होकर देखने से उत्तरोत्तर आठ स्तरो की इमारतो के खड स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं जिससे सिद्ध होता है कि इस टीले पर क्रमश आठ आबादियाँ हो चुकी हैं (फलक ६)। ऊपर के तीन स्तरो की इमारतें बनावट में घटिया, दुर्बल और खडित हैं परन्तु उनके नीचे के तीन स्तरो के वास्तु खड दृढ और उत्कृष्ट रचना के है। सातवें और आठवें स्तरो के केवल थोड़े ही अवशेष मिले थे।

इस खात से उत्खात पुरातत्त्व वस्तुओं मे निम्नलिखित मुख्य हैं—काँसे का देगचा (न० २७७) जिसमे एक सौ के लगभग ताँबे के शस्त्रोपकरण तथा अन्य वस्तुएँ खचाखच भरी थी। पाषाण मुद्राओं तथा अन्य विविध वस्तुओं का एक वृहत् समुदाय,

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, भाग २, फलक ७२ ५३।

दो पहिये वाला तांबे का रथ जिस पर सामने कोचवान बैठा है (फलक ४० ट)। टीला 'एफ' के स्तरज्ञान के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण खुदाई गहन-खात है, जहाँ उत्खाता का कुद्दाल सतह जमीन से ३५ फुट अर्थात् प्राचीनतम बस्ती से भी १२ फुट नीचे की गहराई तक भूगर्भ में प्रवेश कर चुका है। सबसे रोचक उपलब्धि जो इस स्थान पर हुई वह एक सौ के लगभग दूधिया पत्थर की क्षुद्राकार मुद्राएँ थीं जो अधिकांश १० से १२ फुट की गहराई के बीच मिली थीं। ये मुद्राएँ, जो प्रागैतिहासिक भारत की प्राचीनतम वस्तुएँ हैं, तथा उत्तरकालीन कब्रिस्तान 'एच' हड़प्पा की दो विशिष्टताएँ है जो अभी तक मोहेंजो-दडो व सिंधु प्रान्त में अन्यत्र कही नही पाई गई।

खात न० ३—यह खात पूर्वोक्त खुदाई से ८० फुट उत्तर में है। इसमें बहुत सी उत्तम-उत्तम वस्तुएँ मिली थीं जिनमें मुख्य ये है—मिट्टी की मुद्राछाप नं० २२६२ जिस पर एक देव-पुरोहित एकशृंगवाली वेदिका उठाए खड़ा है[1], पत्थर का शिव-लिंग (न० ३४६३); बहुवर्ण चित्रों वाले मिट्टी के बर्तन, मिट्टी का एक बृहत् नाँद (ऊँचाई २ फुट ७½ इंच), और रंगीन चित्रों वाले कई कुम्भखंड आदि।

खात नं० ६—यह खुदाई खात नं० ३ से लगभग ६० फुट पूर्व को है। इसकी सबसे प्रधान इमारत चौथे स्तर का एक विशाल गृह (१००×४० फुट) था जिसमें नौ या दस कमरों के आसार मिले थे जो आँगन के पूर्वी और दक्षिणी भागों में स्थित थे। उत्तरकाल में यह मकान तीसरे स्तर के निवासियों के व्यवहार में भी आता रहा।

खात नं० २ (विशाल-धान्यशाला)—टीले के उत्तर-पश्चिमी भाग मे जो विस्तृत खुदाई है वह खात नं० २ है। इसके मध्य में एक अद्भुत स्मारक के भग्नावशेष हैं जिन्हें मार्शल महोदय ने अगत्या 'विशाल धान्यशाला' का नाम दिया है (फलक ३५ क)। सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु जो इस क्षेत्र मे मिली वह काले पत्थर की बनी हुई एक नर्तक मूर्ति थी।

खात न० ४—यह खात टीले के दक्षिण-पश्चिमी कोने में खुदा है। इसकी साधारण गहराई १० फुट के लगभग है। जो इमारतें यहाँ प्रकाश में आईं उन सबमें मुख्य एक ही शैली के बने हुए चौदह चौकोन घर थे जो सात-सात की संख्या मे दो श्रेणियों मे विभक्त पश्चिम से पूर्व की ओर फैले थे। इन मकानों के अन्दर तथा आस-पास सोलह भट्टियां मिलीं जिससे स्पष्ट था कि ये उन शिल्पियों के घर थे जो पत्थर, फियाँस, मिट्टी आदि की वस्तुएँ पकाने के लिए भट्टियों का प्रयोग करते थे। मकान नं० २ के अन्दर एक भूषण समुदाय (नं० ८०६०) मिला था।

---

१. देखो फलक २३ क।

'जी' प्रदेश

हड़प्पा के खडहर का यह भाग 'थाना-टीला' के दक्षिण मे 'करवांवाली' सडक के पार स्थित है। हड़प्पा मे आज तक जिन स्थानो मे खुदाई हुई उनमे यह सबसे नीचा है। पूर्वी और दक्षिणी सीमाओ पर इसकी भूमि धीरे-धीरे पास के खेतो मे लीन हो जाती है।

यहाँ तीन खात खोदे गये थे। एक खात मे कुएँ के सिवाय इनमे से किसी मे भी अन्य कोई वर्णनीय वास्तुखड नही मिले। उपलब्ध वस्तुओ मे निम्नलिखित वर्णनीय हैं—(१) मिट्टी की गोल शलाकाकार ३१ मुद्राछापें जिनके एक ओर चित्राक्षर हैं और दूसरी ओर एकश्रृंग पशु, (२) फियांस की बनी हुई मुद्राछाप जिस पर एक देवमूर्ति मन्दिर के अन्दर स्थानमुद्रा मे खडी दिखाई गई है। इस देवता के सामने एक उपासक घुटना टेके बैठा है और उसके पीछे बकरा खडा है (फलक १६ घ), (३) मिट्टी के बर्तनों के दो बड़े समुदाय जो सिंधु-सभ्यता की प्राचीन कुम्भकला के उदाहरण हैं।

मानव पिंजर—सबसे अधिक महत्त्व की उपलब्धि जो इस खुदाई मे हुई वह एक बहुत बडा मानव-अस्थि-समुदाय था, जिसमे मिट्टी के बर्तन और पशुओ की हड्डियाँ भी मिश्रित थीं। यह समुदाय कुएँ से १४० फुट उत्तर मे ४ फुट से लेकर ५ फुट १० इच की गहराई तक भूमि मे दबा पडा था। इसमे बीस मानव खोपडियाँ, एक मानव धड, मनुष्य तथा पशुओ की मिश्रित हड्डियाँ और मिट्टी के बर्तन सम्मिलित थे। धड दूसरी हड्डिया से पाँच फुट दूर पडा था और मिट्टी के बर्तन प्राय खोपडियो के साथ रखे हुए थे। हड्डियो के साथ या आस पास कोई भूषण नही थे। डाक्टर बी० एस० गुहा, जिन्होंने इन हड्डियो का परीक्षण किया, लिखते हैं कि इस समुदाय म नौ युवा पुरुष, दो युवतिया और पाँच बच्चों की खोपडियाँ थी।

य मानव-पिंजर किसी प्रचड हत्याकाड, महामारी आदि भयानक दुर्घटना के स्मारक थे। यह कहना कठिन है कि क्या इन शवों को खड़ा गाडा गया था अथवा पहले इन्हे खुले स्थान मे फेंककर बची-खुची हड्डियो को पशुबलि तथा बर्तनो के साथ दफनाया गया था। शवो को इस प्रकार गाडने की दोनो विधियाँ कब्रिस्तान 'एच' के दफीनो म पाई गई हैं। उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध नही होता कि इतने मनुष्यो का वध किसी महान् व्यक्ति की मृत्यु के उपलक्ष्य मे किया गया था। इस प्रकार की सामूहिक नरबलि का उदाहरण केवल सर लियोनार्ड वूली को ईराक मे 'उर' नामक खडहर की 'राजकीय-कब्रों' (King's Graves) मे मिला था। इस अस्थि-समुदाय के मिले हुए बर्तनो की बनावट के आधार पर वत्स महोदय ने इसका काल

और माधोसरूप वत्स के नामों पर रखे गये थे जिन्होंने इन टीलों पर सर्वप्रथम अपनी-अपनी खुदाई कराई थी।
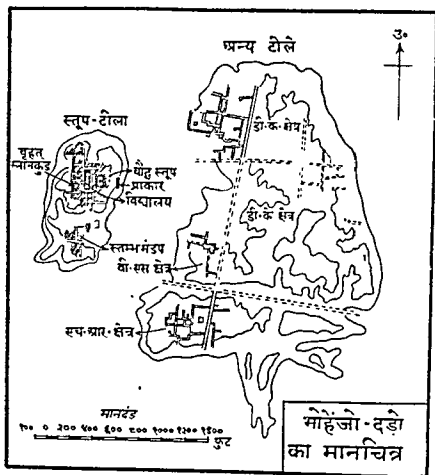
फलक २

जलवायु—सिंध का वह इलाका जिसमें ये खंडहर विद्यमान हैं अपनी भीषण जलवायु के लिये चिरकाल से प्रसिद्ध है। शीतकाल में तापमान हिमविन्दु से लेकर जून, जुलाई में १२० डिग्री फेरेनहाईट तक पहुँच जाता है। सर्दी मे शरीर को जड बना देने वाली बर्फानी हवाएँ और गर्मी में भयंकर रेगिस्तानी तूफानें जलवायु की प्रचंडता को और भी असह्य बना देती है। आजकल वार्षिक वर्षामान छः इंच से शायद कभी ही बढा हो, परन्तु चार अथवा पांच हजार वर्ष पहले यहाँ वर्षा अत्यधिक होती थी और उसके फलस्वरूप जलवायु भी बहुत सुन्दर और अनुकूल थी। जिन प्राकृतिक

कारणों से उस समय इस प्रान्त की रमणीकता थी उनका विशद वर्णन हडप्पा की जलवायु के वर्णन-प्रसग मे ऊपर कर दिया है। मालूम होता है कि जलवायु में जो इस प्रकार का दारुण परिवर्तन हुआ वह चौथी शती ई० पू० के पहले ही हो चुका था। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि इस शती में भारत से लौटती समय जब सिकन्दर की सेना मकरान मे से गुजरी तो यह इलाका पहले ही मरुस्थल बन चुका था, क्योकि इसे पार करने मे यूनानी सेना का बहुत-सा भाग नष्ट हो गया।

नद और नदियां—इस समय सिंध प्रान्त को केवल सिंधुनद ही सीचता है। परन्तु बारह सौ वर्ष पहले जब अरब लोगो ने यहां पहला आक्रमण किया तो इस भूमि मे दो प्रतिद्वन्द्वी नद बहते थे। पश्चिम मे सिन्धु था और पूर्व मे महामिहरान, जिसका दूसरा नाम हकडा या वहिंदाह भी था। सातवी से चौदहवी शती ईसवी तक य दोनो नद भिन्न-भिन्न प्रवाहों में बहते रहे। वह अगाध जल जो उत्तर से पजाब के पाँचो दरिया और पूर्व से घग्गर (प्राचीन सरस्वती) और चिटाग (प्राचीन दृषद्वती) नदियाँ लाती थी पूर्वोक्त दोनो नदो मे बंट जाता था। एक दूसरे के समानान्तर बहते हुए ये दोनो नद अपनी-अपनी धाराओं को स्वतत्र रूप से अरब सागर मे विसर्जन करते थे। पता नही कि ताम्रयुग से लेकर अरब आक्रमण तक के अन्तराल मे इन नदो के प्रवाहों मे क्या-क्या परिवर्तन हुए। ऐसा ज्ञात पडता है कि मोहेंजो-दडो के आदिनिवासी सिंधुनद की वार्षिक बाढो के आतक से अतीव भयभीत रहते थे, क्योकि इससे बचने के लिये उन्होंने मकानो के नीचे कच्ची मिट्टी के बडे-बडे भराव डाले थे जिससे बाढ का पानी ऊपर न आ जाए।

सिंधुनद के पात्र का उभार—वार्षिक बाढो के कारण सिंधुनद में कीच की जो अनन्त राशि बहकर आती थी वह नदी के पात्र तथा आस-पास के तटवर्ती इलाके मे जमती गई। कई शताब्दियो की निरवच्छिन्न प्राकृतिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नदी का पात्र और किनारो के साथ का क्षेत्र ऊपर को उठ गया। प्रकृति का यह खेल धीमा होने पर भी निठुरता से काम कर रहा था। जैसे-जैसे शताब्दियाँ बीतती गईं भूगर्भस्थ पानी की तह ऊपर को उठती गई और प्राचीन स्तरो के मकान जो पहले पानी की तह के ऊपर थे शनै शनै पानी की उठती हुई तह के नीचे डूबते गये। यही कारण है कि मोहेंजो-दडो और चन्हुदडो के टीलो के नीचे जो प्राचीनतम आबादियो के मकान है वे अब सभी जलमग्न हैं। इस समय भूगर्भस्थ पानी की तह पाँच हजार वर्ष पहले की तह से १० से २० फुट तक ऊपर उठ गई है।

खडहर और उनकी खुदाई—यद्यपि मोहेंजो-दडो के खडहर सिंध के अधिकारियो और पुरातत्व विभाग के अध्यक्षों को चिरकाल से मालूम थे, इनकी यथार्थ प्राचीनता का ज्ञान उस समय हुआ जब पूना सर्कल के सुपरिटेंडेंट श्री राखलदास बनर्जी

डा० मेके की खुदाई से टीला नं० २ में तीन भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के लक्षण दृष्टिगोचर हुए। सबसे नीचे के स्तर में हड़प्पा की सभ्यता के अवशेष मिले जो तीन कालों से सम्बन्ध रखते थे। इसके ऊपर झुकर संस्कृति और अनन्तर झांगर संस्कृति के अवशेष थे। एक लंबा खात जो टीले की दक्षिण-पश्चिमी ढलवान में २८.२ फुट की गहराई तक खोदा गया उनसे पता चला कि हड़प्पा संस्कृति के वास्तुखंड और प्राचीन अवशेष भूगर्भस्थ पानी की तह के नीचे भी व्याप्त थे। इस तह के नीचे खनन कराना असम्भव था। मोहेंजो-दड़ो के टीलों में भी सातवें स्तर के नीचे के भग्नावशेष इसी प्रकार जलमग्न थे।

टीला नं० २ में डा० मेके को कई बाढ़ों के चिह्न मिले जो भिन्न-भिन्न कालों से सम्बन्ध रखते थे। मोहेंजो-दड़ो के टीलों में भी दो प्रचंड बाढ़ों के निशान पाए गये थे। ये दोनों प्राचीन नगर एक ही नद के तट पर परस्पर ८० मील के अन्तर पर स्थित थे। परन्तु यह कहना कठिन है कि जिन बाढ़ों से एक नगर को हानि हुई उनसे ही दूसरे को भी हुई होगी।

चन्हुदड़ो में हड़प्पा संस्कृति काल को डा० मेके ने ऊपर से नीचे की ओर (अर्थात् विलोम विधि से) तीन अवान्तर कालों में बाँटा है। इनमें काल १ और २ के मध्य में चार फुट का अन्तर है, जिससे मालूम होता है कि इन दोनों आबादियों के बीच बहुत काल बीत चुका था। 'हड़प्पा—२' काल की संस्कृति के लक्षणों से पता लगता था कि इस समय के लोगों को नगर-योजना का कुछ ज्ञान था जो कि परवर्ती 'हड़प्पा—१' के लोगों को नहीं रहा।

मोहेंजो दड़ो और हड़प्पा की अपेक्षा चन्हुदड़ो यद्यपि बहुत छोटा शहर था तथापि यह नाना प्रकार की शिल्प कलाओं का केन्द्र था। यहाँ पत्थर के मनके, मुद्राएँ, तोल और, हड्डी, शंख, हाथीदाँत आदि की भाँति-भाँति की वस्तुएँ तथा फैंस के बटन, नाक कान के फूल, बटन, काँटे आदि बनते थे। पत्थर, शंख, हाथीदाँत आदि पदार्थों के अघटित ढेले और अधबनी अनेक वस्तुएँ जो इन टीलों में मिली बतलाती हैं कि चन्हुदड़ो व्यापार का केन्द्र था और वाणिज्य वस्तुएं यहाँ से बाहर भेजी जाती थी।

चन्हुदड़ो के टीलों में सिन्धु-सभ्यता की ही प्रधानता पाई गई थी। डा० मेके के अनुसार इस सभ्यता के निर्माता यहाँ तीन सौ वर्ष (ई० पू० २६००-२३००) तक आबाद रहे। इनकी पक्की ईंटों की इमारतें २८ फुट की गहराई के नीचे अब भी पानी की तह के अन्दर फैली हैं। उत्तरकाल में झुकर और झांगर नाम दो और विलक्षण संस्कृतियाँ अस्तित्व में आईं। उनका कथन है कि ये दोनों संस्कृतियाँ सिन्धु-सभ्यता के पतन और आर्य-सभ्यता के आरम्भ के मध्यवर्ती अन्धकाल से सम्बन्ध रखती हैं।

झुकर-संस्कृति—झुकर का खंडहर लारकाना शहर के छः मील पश्चिम में है

(फलक ४)। सन् १९२८ में जब श्री मजुमदार ने यहाँ खुदाई कराई तो उन्हें तीन संस्कृतियों के अवशेष मिले। नीचे की तह में हड़प्पा की संस्कृति थी अनन्तर झूकर की और सबसे ऊपर झंडो ससानियन संस्कृति के चिह्न थे। झूकर के लोग यद्यपि निर्धन थे, तथापि अपनी वैशिष्टिक सभ्यता के स्वामी थे। उनकी कुम्भकला, मनके, मुद्राएँ और अन्य वस्तुएँ हड़प्पा-संस्कृति की वस्तुओं से भिन्न भिन्न थीं। डा० मेके के विचार में चन्हूदड़ो के टीलों में झूकर-संस्कृति के लोग १७०० ई० पू० के लगभग निवास करते थे। इस समय यह अनुमान लगाना कठिन है कि इन लोगों का मूल-स्थान कहाँ था जहाँ से वे चन्हुदड़ो आए।

झाँगर-संस्कृति—इसे झाँगर-संस्कृति इसलिये कहते हैं कि यह सर्वप्रथम सिंध में झाँगर नाम के खंडहर की खुदाई में श्री मजुमदार को उपलब्ध हुई थी। यह स्थान चन्हुदड़ो के पश्चिमोत्तर में ४३ मील की दूरी पर है।

चन्हुदड़ो का महत्त्व—डा० मेके की अध्यक्षता में अमेरिकन एक्सपडीशन ने चन्हूदड़ो में जो खुदाई कराई उसमें पुरातत्त्व सम्बन्धी अनन्त सामग्री मिली। इसमें सिंधु-युग की मुद्राएँ, मुद्रा-छापें, पशु और मनुष्यों की पार्थिव मूर्तियाँ, मिट्टी के खिलौने आदि विविध वस्तुएँ सम्मिलित थी। इनके अतिरिक्त ताँबे और काँसे के शस्त्रोपकरण और बर्तन, तथा पत्थर, सीप, हाथीदाँत आदि के नानाविध पदार्थ थे। परन्तु सबसे अधिक रोचक उपलब्धि जो यहाँ हुई वह रंगीन चित्रित बर्तनों के खंड थे जिन पर कई भाँति के विलक्षण चित्र जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में नहीं मिले, अंकित थे।

३

सिन्धु-सभ्यता

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में जिस सभ्यता की उपलब्धि हुई उसे 'सिन्धु-सभ्यता' का नाम इसलिये दिया गया कि वह एक समय सिन्धु नद के काठे में व्याप्त थी। पुरातत्त्ववेत्ताओं में यह प्रथा है कि वे किसी प्रागैतिहासिक संस्कृति को उस स्थान के नाम से पुकारते हैं जहाँ वह सर्वप्रथम प्रकाश में आई हो। इस प्रथा के अनुसार इस संस्कृति को 'हड़प्पा-संस्कृति' कहना संगत है, परन्तु वस्तुतः 'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्दों में महान् अन्तर है। 'संस्कृति' परिभाषा मे वे कतिपय रूढियाँ और कलाकृतियाँ समाविष्ट हैं जो किसी छोटे से क्षेत्र मे सीमित हों। इसके विपरीत 'सभ्यता' शब्द उन कतिपय समानधर्म संस्कृतियों का समुदाय है जो किसी विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र पर व्याप्त पाया जाए। यही कारण था कि आरम्भ मे सर जान मार्शल ने हड़प्पा-संस्कृति को सिन्धु-सभ्यता के नाम से व्यवहृत किया था। सन् १९४६ ने डॉ० मार्टिमर ह्वीलर ने इस परिभाषा को त्याग कर इसे 'हड़प्पा-संस्कृति' के नाम से निर्दिष्ट करना उचित समझा। उसने अपनी पुस्तक 'एन्शेंट इंडिया नं० ३' मे प्रायः इसी परिभाषा का व्यवहार किया था। परन्तु हर्ष की बात है कि अन्त में उन्होंने अपनी भूल को मान लिया, क्योंकि अपनी दूसरी पुस्तक 'इंडस सिविलाइजेशन' में वे 'सिन्धु-सभ्यता' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानने को बाध्य हो गये है[1]।

सिन्धु-सभ्यता की व्यापकता—सिन्ध का काठा और उसके आस-पास का प्रान्त जो अन्त में सिन्धु-सभ्यता के प्रभाव में आया एक बहुत विस्तृत क्षेत्र है। यह एक हजार मील लम्बा और ४०० मील के लगभग चौड़ा है (फलक ४)। इसका वर्गफल संसार की दो प्रसिद्ध प्राचीनतम सभ्यताओं, अर्थात् मिश्र और बेबीलोनियन, के संयुक्त क्षेत्रफल से भी बड़ा था। श्री ननीगोपाल मजुमदार के अनुसन्धान से सिन्ध में सिन्धु-सभ्यता के समान लक्षण २४ और प्रागैतिहासिक स्थानों की उपलब्धि हुई थी (फलक ४)। इनमें कई सिन्धु नद के साथ के मैदान मे और कई कीर्थर पर्वतावली की अधित्यका में विद्यमान है। इनमें आठ आम्री-संस्कृति के, दस सिन्धु-सभ्यता के और शेष निश्चित आम्री-सिन्धु संस्कृतियों के हैं। सिन्धु-सभ्यता के खण्डहरों मे झुकर, लोहुमजो-दड़ो,

---

१. ह्वीलर—इंडस सिविलाइजेशन, पृ० २।
(सप्लीमेंट टु दि कॅम्ब्रिज हिस्टरी आफ् इण्डिया)।

चन्हुदड़ो, अलीमुराद, लखियो, ढल, पर्चन, शाहजो-कोटीरो, बचनी और दिसोई हैं। मिश्रित आम्री-सिन्धु सभ्यता वालों में आम्री, पड़ी वाही, लोहुरी, गाजीशाह और दम्ब बूथी वर्णनीय हैं[1]।

सिंध तथा पश्चिमोत्तरी भारत का मानचित्र
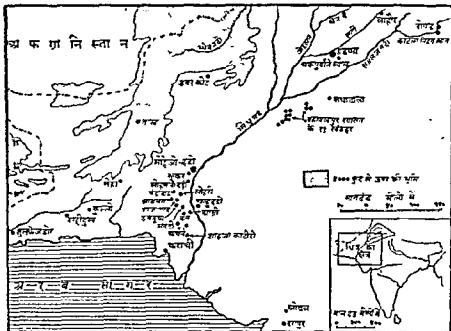
फलक ४

सर आरल स्टाईन को बलूचिस्तान में हड़प्पा-संस्कृति के कई टीले मिले थे[2]। इन सब में मुख्य डबर कोट, सुतकर्जेंडोर, कुहनी और मेही हैं (फलक ४)। डबर कोट उत्तरी बलूचिस्तान के लोरालाई क्षेत्र में और सुतकर्जेंडोर मकरान प्रान्त में अरब सागर के तट पर स्थित है। इस साक्ष्य से स्पष्ट सिद्ध होता है कि हड़प्पा और मोहॅजो-दड़ो के केन्द्रों से धीरे-धीरे प्रगति करती हुई सिन्धु-सभ्यता क्रमशः समस्त सिन्धु-काँठे पर छा गई थी और अन्त में इस भौगोलिक सीमा को लाँघ कर बलूचिस्तान की अधित्यका पर भी व्याप्त हो गई थी।

---

१. मजुमदार—एक्सप्लोरेशन्स इन सिन्ध, पृ० ८१-११५।

२ स्टाईन—मेमॉयर्स आफ् दि आर्क्योलाजीकल सर्वे आफ् इण्डिया, नं ३७ और ४३।

सिन्धु प्रान्त से सिन्धु-सभ्यता का प्रसार पश्चिमोत्तर की ओर ही नहीं अपितु पूर्व दक्षिण की ओर भी हुआ। इस तथ्य का प्रमाण कोटला-निहंग, रोपड़, रंगपुर और लोथल आदि प्रागैतिहासिक स्थानों की उपलब्धि से होता है जो इस सीमा के बाहर पाए गये हैं। इनमे पहले दो स्थान पूर्वी पंजाब में और दूसरे दो काठियावाड़ में है। कुछ समय हुआ पुरातत्त्व विभाग के अनुसन्धान से सतलज और घग्गर (प्राचीन सरस्वती) नदियों के तटों पर कई ताम्रयुगीन खण्डहर मिले थे। परन्तु अभी तक इस विभाग की ओर से इस उपलब्धि पर कोई विस्तृत विवरण प्रकाशित नहीं हुआ। आशा की जा सकती है कि गगा के मैदान तथा उत्तरी भारत में विकीर्ण प्राचीन टीलों का यदि वैज्ञानिक विधि से अनुसन्धान किया जाए तो इस भूखण्ड में भी सिन्धु-सभ्यता के अवशेष अवश्य मिलेंगे। सम्भव है कि इस गवेषणा से उस अन्धकाल पर प्रकाश पड़े जो सिन्धुयुग तथा मौर्यकाल के अन्तराल में पड़ता है।

स्मरण रहे कि रंगपुर और रोपड़ में सिन्धु-सभ्यता का जो रूप मिला है वह इस सभ्यता की अवनति का प्रतीक है। इसमें इसके यौवन काल की कला विलक्षणताओं और उन्नत-कृतियों का अशेषतः अभाव है। मालूम होता है कि उस समय जो लोग यहाँ रहते थे वे हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की उत्कृष्ट शिल्पकला को अधिकांश भूल चुके थे। रंगपुर और रोपड में जो प्राचीन वस्तु-सामग्री मिली उसमे न तो सिन्धु-मुद्राएँ हैं और न ही स्त्री पुरुषों तथा पशुओं की मूर्तियाँ। उन्नत शैली की चित्रित कुम्भकला, फियाँस, शंख और हाथीदाँत के विविध भूषणों और अलकरणों का भी एकदम लोप है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब ये लोग यहाँ आकर बसे तो उनका सम्बन्ध इस सभ्यता के केन्द्रों (हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो) से चिरकाल से टूट चुका था और वे अपनी संस्कृति की उत्कृष्ट बातों को अशेषतः भूल चुके थे। सम्भवतः ये उन लोगों की सन्तान थे जिनके पूर्व-पुरुष कई पीढ़ियाँ पहले सिन्धु साम्राज्य के पतन पर जन्मभूमि छोड़ नये घरों की तलाश मे इधर आ गये थे। पूर्व-पुरुषों के सिन्धु देश त्यागने और उनके वंशजों के रंगपुर और रोपड़ पहुँचने में लम्बा समय लगा होगा जिसमे वे अपनी सभ्यता की उत्कृष्ट कला-शैलियों और रूढियों को भूल गये।

इसमें सन्देह नही कि सिन्धु-सभ्यता की कई रूढियाँ और कला-परम्पराएँ देश की भौगोलिक सीमाओं को लांघ कर मेसोपोटेमिया, ईरान और भूमध्य-सागर के क्रीट-द्वीप तक भी जा पहुँची। मेसोपोटेमिया मे प्राप्त ३३ सिन्धु मुद्राएँ और अन्य विचित्र भारतीय वस्तुएँ इस बात की साक्षी हैं कि राजावली-काल से लेकर सार्गन प्रथम के शासनकाल और उसके बाद तक भी सिन्धु देश का मेसोपोटेमिया से घना सम्पर्क रहा। यही निष्कर्ष उन भारतीय वस्तुओं और अभिप्रायों मे निकाला सकता है जो सूसा, हिसार, सिआल्क आदि ईरानी टीलों से उपलब्ध हुई हैं। इस विषय पर

पुस्तक के पांचवें अध्याय मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

सिन्ध और बलूचिस्तान मे सिन्धु-सभ्यता के अतिरिक्त और भी कतिपय संस्कृतियो के चिह्न मिले हैं। सिन्ध की संस्कृतियो मे आम्री, झुकर और झांगर और बलूची संस्कृतियो मे झोब, क्वेटा, कुल्ली-मेही, नाल और शाहीटुम्प वर्णनीय हैं।

मनुष्य की ताम्रयुग तक प्रगति—उचित होगा कि यहां सक्षेपत इस बात का उल्लेख भी किया जाए कि वन-मानस दशा से प्रगति करता हुआ मनुष्य किस प्रकार सभ्यता के द्वारभूत ताम्रयुग तक पहुँचा। ताम्रयुगी उन संस्कृतियो का वर्णन करना भी प्रासंगिक होगा जो पश्चिमी एशिया मे सिन्धु-सभ्यता की समकालीन थी।

इस भूगोल पर मनुष्य के अस्तित्व का प्रमाण उसके बनाए हुए पत्थर के शस्त्रोपकरण है। इनके अतिरिक्त पाषाण युग के मनुष्य की खोपडियां तथा शरीर के इतर अंग भी मिले है। प्रारम्भिक पाषाण युग, जो दस लाख वर्ष के लगभग लम्बा था, असभ्य मनुष्य की सामूहिक आयु मे सबसे लम्बा विकासकाल था। इसमे मनुष्य असभ्यता की दशा से आगे नही बढा। इस दशा मे उसकी कृतियां केवल कतिपय बेढंगे और बेडौल पत्थर के शस्त्रोपकरण थे जिनसे वह शिकार करता, शत्रुओ से लडता और खाने के लिये कन्द-मूल उखाडता था। आदि पाषाण युग मे वह वन-मानस की दशा मे ही रहा। इसके नीचे का जबडा गोरिला की तरह बाहर निकला हुआ और मस्तिष्क अविकसित एवं विचारशक्तिहीन था। घर बनाकर स्थायी रूप से रहने का उसे ज्ञान नहीं था, न ही उसे पशुपालन व मिट्टी के बर्तन बनाने का ज्ञान था। पशुकल्प असभ्य दशा के इस लम्बे काल मे वह केवल आखेट तथा कन्दमूल से ही जीवन निर्वाह करता रहा। कृषि-ज्ञान उसके उत्तराधिकारी नव पाषाण युग के मनुष्य का दीर्घ-काल व्यापी अनुभव-जन्य मन्द आविष्कार था।

पुराण-पाषाण युग के अन्त पर, ईसा पूर्व १०००० वर्ष के लगभग, असभ्य मनुष्य के मस्तिष्क मे एक विचित्र विराम हुआ जिससे उसने अपने बुद्धिबल से नवीन पाषाण युग मे प्रवेश किया। अब वह जो पाषाण के शस्त्रोपकरण बनाने लगा वे न केवल पहले से उत्कृष्ट ही थे, किन्तु नानाविध भी। ये हथियार सुघड और घुटे हुए होने के कारण चमकदार भी थे। इस समय से लेकर सभ्यता के राजपथ पर आरूढ होकर वह तीव्र गति से उन्नति करने लगा। नव-पाषाण युग के अवसान, अर्थात् छठी सहस्राब्दी के मध्य मे इसने कृषि करना सीखा और आखेट व भ्रमणशील जीवन को छोड कर स्थायी ग्राम जीवन को अपनाया। कृषि ज्ञान के अनन्तर ही नवीन जीवन की समस्याओं ने उसे पशुपालन और मिट्टी के बर्तन बनाना सिखाया। पशुपालन और कुम्भ-कला कृषि-जीवन के अपरिहार्य अंग थे।

गदम, जो आदि अन्न है पौधो की उपलब्धि और अधिक मात्रा मे इनके उत्पा-

दन से इस युग के मनुष्य के जीवन में शान्ति की एक अपूर्व लहर उठी। फलत. संसार में जनसंख्या प्रबल वेग से बढ़ने लगी। भूमि का वही खंड जो पहले, जब मनुष्य घुमन्त था, अपनी उपज से केवल एक हजार मनुष्यों को पाल सकता था, अब कृषि-युग में दस लाख मनुष्यों के पालने के समर्थ हो गया। कृषिज्ञान के अनन्तर थोड़े ही समय में मनुष्य ने खानों से धातें निकालना सीखा। उन प्रान्तों में जहाँ ताँबे की खानें थीं नव-पाषाण युग के मनुष्य ने धातु मिश्रित पत्थरों को पिघला कर उनसे ताँबा निकालने का अनुभव प्राप्त किया और इससे नाना प्रकार के शस्त्रोपकरण प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया।

ताम्रयुग—ताम्रयुग का आरम्भ ईसा पूर्व पंचम सहस्राब्दी के लगभग हुआ। यद्यपि ताँबे के हथियार पत्थर के हथियारों से बहुत श्रेष्ठ थे, फिर भी मनुष्य ने पत्थर के शस्त्रोपकरणों का प्रयोग एकदम नहीं छोड़ दिया। लम्बे काल तक पत्थर और ताँबा एक साथ प्रयोग में आते रहे। इसका कारण सम्भवत. ताँबे की कमी और पत्थर की बहुतायत थी। ताम्रयुग का यह प्रारम्भिक काल पुरातत्ववेत्ताओं में 'ताम्र-प्रस्तर-युग' के नाम से भी विदित है। सिन्धु-सभ्यता इसी युग के परिवार की सभ्यताओं में से एक है।

पश्चिमी एशिया के ताम्रयुगीन खंडहर
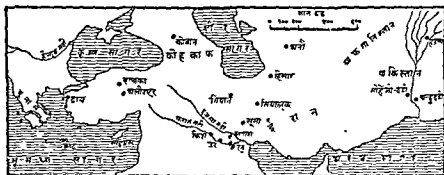
फलक ५

पश्चिमी एशिया की इस युग की सभ्यताओं में मेसोपोटेमिया, मिश्र, ईरान और भूमध्य-सागर के पूर्वी तट की प्राचीन सभ्यताएँ वर्णनीय हैं। मेसोपोटेमिया में प्रायः आठ ऐसी सभ्यताएं मिली हैं। इनके नाम यथाक्रम सार्गोनिक, वंशावली कालीन, जमदेत-नसर, उरुक, अल-उबैद, हलाफ समारा और जर्मो या मर्सिन हैं, और ये उत्तरोत्तर एक दूसरी से प्राचीनतर हैं। इनमें से पहली सात 'प्रस्तर-ताम्र-युगीन' या ताम्रयुगीन हैं, परन्तु अन्तिम दो सभ्यताएँ सम्भवतः नव-पाषाण युग की हैं। राजावली काल की

तिथि ३००० ई० पू० से २४०० ई० पू० है जब कि 'समारा' की तिथि छठी सहस्राब्दी ई० पू० तक व्याप्त होती है। स्मरण रहे कि सिन्धु-सभ्यता का आरम्भ-काल अल-उवेद के अन्त-काल अथवा 'उरक-संस्कृति' के आरम्भ-काल के बराबर है और अन्त ईसा पूर्व २००० के लगभग है। इससे सिद्ध होता है कि इसका जीवन-काल १५०० वर्ष के लगभग रहा होगा।

मिश्र में प्राग्वंशावली-काल की कई संस्कृतियाँ मिली हैं। इनमे तासियन, मेरिम्डियन, बदारियन, अम्रेशियन, गर्जियन और वंशावली-कालीन वर्णनीय है। प्राचीनता मे ये संस्कृतियाँ उत्तरोत्तर कम होती जाती हैं। गर्जियन-संस्कृति काल मे कृषि का ज्ञान हो चुका था और सम्भवत कृत्रिम उपायो से खेती सींचना भी लोग जानते थे। पूर्वोक्त संस्कृतियो की प्राचीनता नापने के लिये सर फ्लिंडर्स पिट्री ने 'सिक्वेंस-डेटिंग (क्रमिक कालमान) नाम की एक संख्यात्मक विधि निकाली। इस विधि का आरम्भ 'संख्या-३०' से होता है और अन्त संख्या-८० पर। इसके अनुसार मिश्र में वंशावली-शासन के प्रवर्तक नरेश फरऊन मेनीज का अभिषेक संख्या-७७ मे पड़ता है और अम्रेशियन संस्कृति का काल संख्या-३० मे। यह 'संख्या-३०' का काल मिश्र के कालमान के अनुसार छठी सहस्राब्दी ई० पू० मे पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्र मे यह गर्जियन संस्कृति थी जिसे निर्मूल करके मेनीज फरऊन ने वंशावली-शासन का सूत्रपात किया।

ईरान मे भी कई प्रागैतिहासिक संस्कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं जिनका अस्तित्व-काल ईसा पूर्व छठी सहस्राब्दी से दूसरी सहस्राब्दी तक व्याप्त है। इनके नाम उन खण्डहरो के नाम पर पड़े हैं जहाँ वे सर्वप्रथम प्रकाश मे आई थी। इनमे सिआल्क, सूसा, गिआन, अनो, चश्मेह-अली, हिसार आदि वर्णनीय हैं (फलक ५) सिआल्क के निम्नतम स्तरो मे धातु की वस्तुओ का नितान्त अभाव है। यद्यपि 'अनो' टीले के निचले स्तर भी बहुत प्राचीन हैं, उनकी बाबत यह नही कहा जा सकता कि वे शुद्ध नव-पाषाण युग के हैं।

पूर्वोक्त विवरण से सिद्ध होता है कि सिन्धु-सभ्यता की तुलना प्राचीन मिश्र, मेसोपोटेमिया और ईरान की ताम्र-पाषाण युग काल की सभ्यताओ से है। इस काल की सभ्यताओ के उदाहरण मेसोपोटेमिया मे अल-उवेद, मिश्र मे गर्जियन और ईरान मे सूसा (द्वितीय) और हिसार (द्वितीय) की संस्कृतियो मे पाए जाते हैं। अत सिन्धु-सभ्यता का तुलनात्मक अध्ययन पश्चिमी एशिया की पूर्वोक्त संस्कृतियो की पृष्ठभूमि में करना ही संगत होगा, न कि एकाकी रूप से।

सिन्धु-सभ्यता के निर्माता—आज तक जो अनुसंधान हो चुका है उसके प्रकाश मे सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओ की जातीयता के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना

कठिन है। क्या वे भारत की मूल जातियों में से थे अथवा विदेशीय इसका निर्धारण तभी हो सकेगा जब इनमें से किसी एक पक्ष के सम्बन्ध में कोई अकाट्य प्रमाण उपलब्ध होगा। कई भारतीय विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये लोग आर्य थे। वाडल महोदय ने तो यह भी कह दिया है कि प्रागैतिहासिक काल में सिन्धु देश सुमेरियन लोगों का उपनिवेश था। मार्शल महोदय के मत में पूर्वोक्त दोनों मत निराधार हैं क्योंकि अब तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला जो इनमें से किसी पक्ष का समर्थन कर सके। इस विषय में जो थोड़ा-बहुत ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह निम्न निर्दिष्ट दो प्रमाणों के आधार पर आश्रित है—(१) हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो से प्राप्त ताम्रयुगीन मनुष्य के शरीर-पंजर और खोपड़ियाँ, (२) मोहेंजो-दड़ो में उत्खात पत्थर की मानव मूर्तियाँ।

नर वंश शास्त्रियों का निर्णय है कि मोहेंजो-दड़ो की खुदाई में जो मानव अस्थि-शेष मिले उनमें चार जातियों का मिश्रण था, जैसे प्रोटो-आस्ट्रोलायड (आस्ट्रेलिया की मूल जाति के समान), एल्पाईन (आल्प्स पर्वतावली की मूल जाति के समान), भूमध्यसागर-कक्ष-निवासी (मेडिटेरेनियन) और मंगोलियन जाति के समान लक्षण। इस विषय में मार्शल महोदय लिखते है—"आर्यजाति की अपेक्षा सिन्धु सभ्यता के लोग नाटे कद, स्याह चमड़ी और चपटी नाक के थे, और सम्भवतः भारत की मूलजातियों में से किसी एक के थे।" हड़प्पा के मानव-कपालों की पड़ताल से डा० गुहा को कब्रिस्तान 'एच' में दो प्रधान मानव-जातियों के अस्तित्व के प्रमाण मिले। इनमें एक जाति के लोग दीर्घ-कपाल थे। इनके अस्थिशेष कब्रिस्तान 'एच' के दूसरे स्तर की कब्रों तथा 'जी' क्षेत्र के सामूहिक दफीने में मिले थे[१]। दूसरी जाति के अवशेष कब्रिस्तान 'एच' के शवभांडो में पाए गये। ये लोग भारत की मूलजातियों में से किसी एक से सम्बन्ध रखते थे। इनके सिर छोटे तथा गोल थे और इनकी मस्तिष्क शक्ति निकृष्ट थी। डा० गुहा का पूर्वोक्त निर्धारण केवल कब्रिस्तान 'एच' के लोगों की खोपड़ियों की जाँच पर ही आश्रित है जो सिन्धु-सभ्यता के अवनति-काल में हड़प्पा आकर बस गये थे। इनके पहले लोगों की जातीयता के विषय में अभी तक कुछ पता नहीं चला। सन् १९३७ में हड़प्पा-संस्कृति के निर्माताओं का जो कब्रिस्तान (आर-३७) मिला उसमें साठ के लगभग मानव अस्थि-पंजर और उनके साथ धरे हुए मिट्टी के बर्तन तथा अन्य अवशेष पाए गये थे। इन अस्थिशेषों का वैज्ञानिक अध्ययन करके जब तक विशेषज्ञ अपना निर्णय व्यक्त नहीं करते, इन मृतकों की जातीयता के विषय में ऊहा-

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० १, पृ० १९७-२०२ और ग्रं० २, फलक ४०।

पोह करना व्यर्थ है। इसमे सन्देह नही कि 'आर-३७' कब्रिस्तान मे मिले हुए अस्थिशेष उन लोगो के हैं जो सिन्धु-सभ्यता के निर्माता थे।

मोहेंजो-दडो के नागरिको मे कई जातियो का मिश्रण था। इसका समर्थन वहाँ से उत्खात पत्थर तथा मिट्टी की मनुष्य-मूर्तियो से भी होता है। इन मूर्तियो मे दो आयत-कपाल, एक दीर्घ-कपाल और एक ही मध्य-कपाल मान का है। काँसे की नर्तकी म मध्यभारत की मूलजाति के लोगो की मुख-मुद्रा की झलक है। स्मरण रहे कि पाषाण-मूर्तियाँ जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है उत्तम शिल्पकला के उदाहरण नही हैं इसलिये उनके कपालो के साक्ष्य को विशेष महत्त्व देना अनुचित है। इस प्रसग मे मार्शल लिखते हैं कि "उत्कीर्ण पाषाण-मूर्तियो तथा कपालो के साक्ष्य को बहुत सावधानी से स्वीकार करना चाहिए।"

पहले निर्देश किया गया है कि मोहजो-दडो की आबादी मे चार जाति के लोगो का मिश्रण था। परन्तु पता नही कि इनमे से किस जाति के लोगो का प्राधान्य था और कौन लोग सिन्धु-सभ्यता के आविष्कर्ता थे। मार्शल की सम्मति मे यह सभ्यता किसी एक जाति का आविष्कार नही था किन्तु कई जातियो के सहयोग का फल था। जहाँ तक सिन्ध और पजाब की जनसख्या का प्रश्न है यह सदा से सकीर्ण चली आई है और सम्भवत प्रागैतिहासिक काल में भी यह इसी प्रकार की थी।

सिन्धु-सभ्यता की उपलब्धि के कुछ वर्ष पहले डा० हाल ने लिखा था कि सुमेरियन जाति का मूलस्थान मेसोपोटेमिया के पूर्व मे था। उनके मत मे यह जाति सम्भवत भारत की द्रविड जाति की ही शाखा थी। द्रविड जाति अब दक्षिण-भारत मे ही सीमित है। परन्तु एक समय यह सारे भारत पर, जिसमे पजाब, सिन्ध और बलूचिस्तान भी सम्मिलित थे, व्याप्त थी। इस बात की पुष्टि मे वे यह प्रमाण देते हैं कि बलूचिस्तान के एक प्रदेश मे अब भी द्रविड भाषा की वशज 'ब्राहुई' नामक भाषा बोली जाती है। सन् १९२२-२३ मे जब सिन्धु-सभ्यता की उपलब्धि हुई तो डा० हाल के इस सिद्धान्त की और पुष्टि मिली।

मार्शल के विचार मे डा० हाल का सिद्धान्त रोचक होने पर भी श्रद्धेय नही माना जा सकता। इसमे प्रथम आपत्ति तो यह है कि सुमेरियन और द्रविड जातियो के शारीरिक लक्षणो के विषय मे भिन्न-भिन्न मत हैं। सर आर्थर कीथ के मत मे सुमेरियन दीर्घ-कपाल और उन्नत मस्तिष्क के लोग थे। इस लक्षण से वे प्रागवशावली काल के मिश्री लोगो अथवा आजकल के मेसोपोटेमियन लोगो के समान रूप थे। वे लिखते हैं कि "इन लोगो के सिर बडे और लम्बे थे। उनकी तुलना कोहकाफ और यरोप के लोगो मे की जा सकती है और उनका मूलस्थान दक्षिण-पश्चिमी एशिया था।" सर लियोनार्ड वूली भी लिखते है कि यदि भौतिक लक्षणो से अनुमान लगाया

जाए तो सुमेरियन लोग इंडो-यूरोपियन जाति के थे और देखने में आजकल की अरब जाति से भिन्न नहीं थे। परन्तु प्रोफेसर लेंगटन के विचार में किश-एडहर में उपलब्ध दीर्घ-कपाल मनुष्य सेमिटिक जाति के और आयत-कपाल सुमेरियन जाति के थे।

इस प्रकार जब सुमेरियन जाति के भौतिक स्वरूप के विषय में इतना मतभेद है तो भारतीय द्रविड जाति के शारीरिक लक्षणों के विषय में इससे भी अधिक मतभेद और संशय है। भारत की मूलजातियों के सांकर्य से द्रविड-जाति के स्वरूप में इतना परिवर्तन हो गया है कि उसे पाँच हजार वर्ष की प्राक्तन द्रविड जाति से तुलना देना दुराग्रह मात्र ही है।

अब इस प्रश्न पर विचार करना है कि क्या पाँच हजार वर्ष की द्रविड़ जाति भारत की मूल जातियों में से थी अथवा कहीं बाहर से आई थी। यदि बाहर से आई थी तो सम्भव है कि वह भूमध्यसागर की तटवर्ती जातियों में से एक हो जिसके अस्थि-शेष किश, अनौ, नाल और मोहेंजो-दड़ो में मिले हैं। कालान्तर में आस्ट्रोलायड तथा अन्य असम्य जातियों के साथ सांकर्य से इसमें अवश्य भौतिक परिवर्तन आ गया होगा। यदि द्रविड जाति भारत की मूलजातियों में से एक थी तो मार्शल के विचार से हमें कल्पना करनी चाहिये कि आरम्भ में वह प्रोटोआस्ट्रोलायड (आस्ट्रेलिया की मूल जातियों के समान) थी और उसमें द्रविड़ जाति के लक्षण क्रमशः विजातीय तत्त्वों के मिश्रण तथा क्रमिक विकास के फलस्वरूप आ गये होंगे। पूर्वोक्त कारणों से मोहेंजो-दड़ो से प्राप्त खोपड़ियों को, जिन्हें नरवंश-वैज्ञानिकों ने 'प्रोटो-आस्ट्रोलायड' अथवा 'भूमध्यसागरीय' कहा है, द्रविड़ जाति के लोगों की खोपड़ियाँ घोषित करना अनुचित होगा।

सिन्धु-सम्यता के निर्माता आर्य नहीं थे—मार्शल महोदय का दृढ़ विश्वास है कि सिन्धु-सम्यता के निर्माता वैदिक आर्यों से सर्वथा भिन्न थे, क्योंकि दोनों जातियों की सम्यताओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। वे लिखते हैं कि "आर्यजाति अभी पशुपाल-दशा में ही थी और हड़प्पा तथा मोहेंजो-दड़ो के नागरिक-जीवन से नितान्त अनभिज्ञ थी। आर्य-जीवन में घोड़े का प्रधान स्थान था, परन्तु सिन्धु-सम्यता में यह पशु नाममात्र को नहीं मिलता। आर्यों के देवता प्रधानतः पुरुषलिंग थे परन्तु हड़प्पा के लोगों का प्रधान इष्ट देवता 'मातृदेवी' थी। आर्यों में 'गाय' पवित्र और पूजनीय थी, परन्तु सिन्धु-सम्यता में इसकी एक मूर्ति भी नहीं मिली। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के लोगों को कवच का ज्ञान नहीं था, परन्तु आर्य लोग युद्ध में इसका प्रयोग करते थे। आर्यों में मछली अभक्ष्य थी, परन्तु सिन्धु-निवासियों का यह अभीष्ट खाद्य था। वेदों में बाघ का कहीं नामोल्लेख नहीं है, और हाथी का वर्णन बहुत कम है, परन्तु सिन्धुवासियों को इन दोनों पशुओं का अच्छा ज्ञान था। वेदों में प्रधानतः निर्गुणो-

पासना है, परन्तु हडप्पा और मोहेंजो-दडो मे मूर्तिपूजा का पद पद पर प्रमाण मिलता है। वैदिक आर्यो मे शिव और मातृदेवी की उपासना का गधमात्र भी नही था, परन्तु इन आदिवासियो के ये प्रधान इष्ट-देवता थे। आर्य अग्निपूजक थे और उनके घरो मे हवन-कुंड होते थे, परन्तु हडप्पा और मोहेंजो-दडो मे कहीं भी इनके अवशेष नही मिले। सबसे महत्व की बात यह है कि वैदिक आर्य लिंग-पूजा को घृणित समझते थे, परन्तु सिन्धु-सभ्यता मे इस पूजा-प्रणाली के प्रचुर प्रमाण मिले हैं।"

पूर्वोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि मार्शल के मतानुसार सिन्धु और वैदिक सभ्यताओ मे महान् अन्तर है। दोनो की परस्पर तुलना के फलस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सिन्धु-सभ्यता की अपेक्षा वैदिक सभ्यता न केवल अर्वाचीन ही है किन्तु इसका क्रमिक विकास भी स्वतन्त्र रूप से हुआ है। उनका विचार है कि जब आर्य जाति ने प्रथम भारत मे पदार्पण किया तो हडप्पा और मोहेंजो-दडो पहले ही उजाड हो चुके थे और सिन्धु-सभ्यता केवल ककालमात्र ही शेष रह गई थी।

मार्शल के विचार मे हिन्दू जाति की बहुत सी धार्मिक और सास्कृतिक विलक्षणताएँ सिन्धु-सभ्यता से उद्भूत हैं। इनमे मातृदेवी, शिव, लिंग आदि की उपासना, नाग, पशु, वृक्ष, पाषाण आदि की पूजा, नदी, पर्वत, वेदिका आदि मे धार्मिक भावना और यन्त्र, मन्त्र, भूत विद्या मे विश्वास आदि वर्णनीय हैं। उनका कहना है कि ये सब बाते वैदिक-काल के आर्यों मे नही थी। केवल उत्तरकालीन सहिताओ और स्मृति, पुराण आदि साहित्य मे ही इनका प्रथम उल्लेख पाया जाता है, जिससे स्पष्ट है कि आर्यों ने ये धर्म के विशेषाङ्ग अपने पूर्ववर्ती सिन्धुवासियो से प्राप्त किये और इन्हे अपने धर्मग्रन्थो में समाविष्ट कर लिया।

यद्यपि आर्य और अनार्य धर्मों की मार्शलकृत व्याख्या अधिकाश युक्तिसगत है, तथापि मेरा उनसे इस विषय मे मतभेद है कि सिन्धुवासियो की उपासना-पद्धति मे 'नारी-अश' अर्थात् देवीपूजा की विशेष महिमा थी। मेरा अपना निर्णय है कि इन लोगो मे देवी-पूजा की इतनी महिमा नही थी जितनी कि 'देव-पूजा' की, अर्थात् इनकी पूजा-पद्धति मे भी 'पुरुष-अश' का ही प्राधान्य था। इस निर्णय की पुष्टि मे जो प्रमाण है उनका विस्तृत विवरण आगे चलकर 'धर्म और धार्मिक कथानक' नाम अध्याय मे दिया गया है।
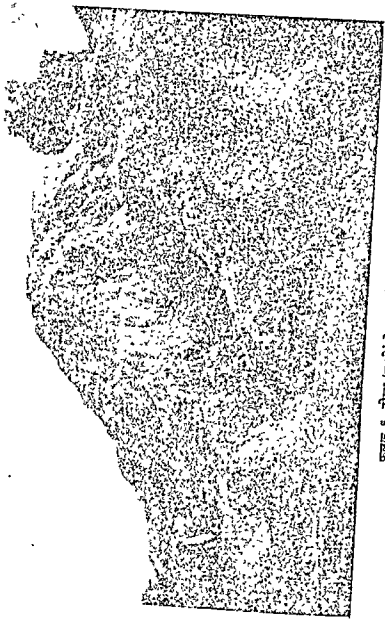
फलक ९. टीला 'ए-बी' के उत्तर में कच्ची ईंटों का बुर्ज

४

सिंधु-सभ्यता का काल-निर्णय

(स्तर-रचना के आधार पर)

मार्शल प्रमुख पुरातत्त्ववेत्ताओं का इस विषय में ऐकमत्य है कि सिन्धु-सभ्यता का जीवनकाल ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी से लेकर तीसरी सहस्राब्दी के मध्य तक अर्थात् पन्द्रह सौ वर्ष के लगभग रहा। उनका यह निर्णय अंशत स्तर-परीक्षा के आधार पर और अंशत सिंधु-सुमेरियन सभ्यताओं की परस्पर तुलना पर आश्रित है। उनके विचार में मोहेंजो-दडो की अपेक्षा हड़प्पा न केवल प्राचीन ही किन्तु दीर्घ-जीवी भी था। मोहजो-दडो के उजाड हो जाने पर भी हड़प्पा कुछ शताब्दियों तक जीवित रहा। इस अन्तिम काल में यहाँ एक अज्ञात जाति के लोग आकर बस गये जिनके अस्थिशेष 'कब्रिस्तान-एच' में पाए गये थे।

परन्तु डा० ह्वीलर और प्रो० पिगट मार्शल के पूर्वोक्त काल निर्णय को स्वीकार नहीं करते। उनके विचार में इस सभ्यता का अस्तित्वकाल २५०० से १५०० ईसा पूर्व तक ही हो सकता है। डा० ह्वीलर ने सन १९४६ में हड़प्पा के टीला 'ए-बी' में जिस दुर्ग-प्राकार की खुदाई कराई थी उसके साक्ष्य पर वे न केवल इसकी आयु को ही कम बतलाते हैं अपितु इस निष्कर्ष पर भी पहुँच जाते हैं कि हड़प्पा का ध्वंस आर्य जाति के हाथ से हुआ था। प्रसंगवश मैं पहले यहाँ दुर्ग प्राकार की आलोचना करूँगा और अनन्तर उन बिन्दुओं पर प्रकाश डालूँगा जिनके आधार पर डा० ह्वीलर और प्रो० पिगट सिंधु-सभ्यता के आरम्भ-काल को ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्य तक ही सीमित रखते हैं।

टीला 'ए-बी' और दुर्ग-प्राकार—प्राकार की उपलब्धि के पहले मार्शल और उनके सहयोगी उत्खाताओं का विश्वास था कि सिंधु-सभ्यता का जीवन काल शान्तिमय रहा। हड़प्पा की खुदाई से प्राय बीस वर्ष तक लगातार सम्बन्ध रहने के कारण मुझे इन खंडहरों की भौतिक परिस्थिति के अध्ययन का विशेष अवसर मिला। सन् १९३१ के लगभग टीला 'ए बी' के ढलुआँ किनारों की गहरी जाँच से पता लगा कि ढलवानों में कहीं कहीं विवर्ण चिकनी मिट्टी के तोदे टीले की सतह के ऊपर उठे थे। मलबे से ढके रहने के कारण साधारण दर्शक के लिये अति कठिन था कि वह इन तोदों को देखकर इस बात का पता लगा लेता कि वे किसी अन्तर्हित प्राकार-शृंखला के अंश

हड़प्पा
ए. बी. तथा एफ टीलों की स्तररचना का तुलनात्मक
चित्र
टीला 'एफ'
प्राकार की चोटी
प्राकार
पुश्ता दीवार
प्राकार पीठ
नदी पंक
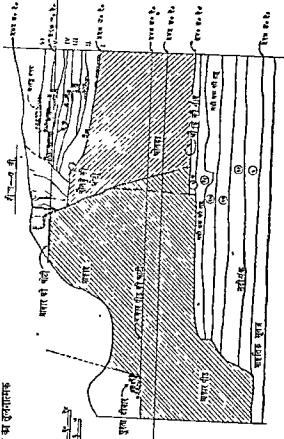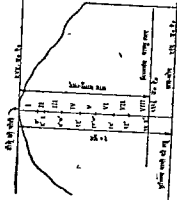
फलक ७

थे। ऐसा संदेह उन उत्खाताओं को भी कभी नही हुआ जिन्होने इस टीले पर कई वर्ष लगातार खुदाई कराई थी। उन्नीसवी शती के आरम्भ मे मेसन और बर्न्स नाम के अंग्रेज यात्रियो ने हड़प्पा के खंडहर देखे। तदनन्तर शती के मध्य मे पुरातत्त्व के अनुभवी पंडित सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने वैज्ञानिक रूप से इनका निरीक्षण और खनन किया। सन् १९२६-२७ मे मार्शल महोदय ने इन टीलो का परीक्षण किया जब श्री माधोसरूप वत्स की अध्यक्षता मे खुदाई का काम चल रहा था। सन् १९३१ मे जब वत्स महोदय ने दक्षिणी खात मे इस प्राकार का एक अंश उदघाटित किया तो इसका यथार्थ स्वरूप एक रहस्य ही बना रहा। अपनी रिपोर्ट मे उन्होने इसे केवल 'कच्ची ईंटो का भराव" मात्र कह कर ही छोड दिया। इस घटना के कई वर्षो के अनन्तर भी किसी को इसके वास्तविक रूप का पता नही लगा। सन् १९३७ मे इंग्लैंड के प्रसिद्ध पुरातत्त्व-वेत्ता सर लियोनार्ड वूली ने जब इन टीलो का निरीक्षण किया तब तक भी यह प्राकार अज्ञात ही था। यद्यपि टीले की उत्तरी सीमा पर कच्ची ईंटो के दो बुर्ज (फलक ६) खडे थे फिर भी इनके विषय मे कभी किसी को सन्देह नही हुआ कि ये किसी प्राकार शृंखला के अंश थे। लोग इन्हे टीला 'ए-बी' के उत्तर मे केवल असम्बद्ध बुर्जो के रूप मे ही देखते रहे।

प्राकार की उपलब्धि—सन् १९३७ मे टीला 'ए-बी' की पश्चिमी ढलवान मे मैने एक खात खुदाया जिसमे एक मोटी कच्ची दीवार प्रकट हुई जो टीले के साथ-साथ चलती हुई पूर्वोक्त 'ईंटो के भराव' के साथ सम्बद्ध मालूम होती थी। इस उपलब्धि से मुझे सन्देह हुआ कि सम्भवत आरम्भ मे यह टीला प्राकार से वेष्ठित था। नवीन अनुभव के प्रकाश मे टीला 'ए-बी' का सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण करने के अनन्तर मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि आरम्भ मे इस टीले के चारो ओर अवश्य एक प्राकार था।

सन् १९४४ के मई महीने मे जब डा० व्हीलर पहली बार हड़प्पा आए तो मैंने उन्हे खंडहर पर के सब प्रकट प्रमाण दिखाए जिनसे प्राकार के अस्तित्व का आभास होता था। दो दिन तक मेरे साथ टीला 'ए-बी' का परीक्षण करने के अनन्तर उन्हे मेरी उपलब्धि पर पूर्ण विश्वास हो गया। मुझे खेद से लिखना पडता है कि अपनी रिपोर्ट मे उन्होने इस उपलब्धि के सम्बन्ध मे मेरे सहयोग की चर्चा तक नही की। वे लिखते हैं—' सन् १९४४ मे जब मैं पहली बार हड़प्पा गया तो मुझे यह देखकर आश्चर्य नही हुआ कि कई सहस्राब्दियो के दर्पातप के प्रकोप से जला कटा टीला 'ए-बी' अब भी पीतवर्ण कच्ची ईंटो की मेखला से घिरा हुआ था[1]।" क्या उन्हे

---

१ व्हीलर-एन्शेंट इंडिया न० ३, पृ० ६२।

हड़प्पा टीला ए-बी
दुर्गाकार - पीठमंदिर
बुर्ज
सिंहद्वार
प्राकार
प्राकार
सुरंग मार्ग
पिट ३
पिट ४
मानदंड
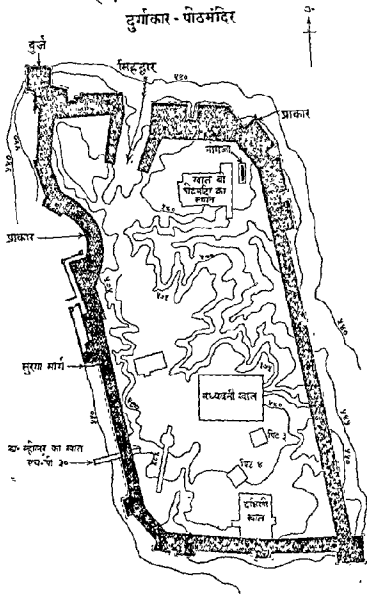
इस प्राकार के अस्तित्व का आभास हड़प्पा पहुँचते ही ऐसी सुगमता से हो गया था जैसा कि उन्होंने लिखा है अथवा इसका मूल कारण वह सूचना थी जो उनके हड़प्पा पहुँचते ही मैंने उनके सामने उपस्थित की थी।

इस सूचना के आधार पर उन्होंने सन १९४६ म टीला 'ए-बी' के चारो ओर जो थोड़ी-सी खुदाई कराई उसके फलस्वरूप यह अभेद्य दीवार नींव तक प्रकाश मे आई। इसी उपलब्धि की सहायता से उन्होंने मोहेंजो-दड़ो मे 'स्तूप-टीला' के इर्दगिर्द ऐसे ही प्राकार की खोज की थी।

डा० व्हीलर की खुदाई और उसके पहले की व ग्ह वर्ष की खुदाई की परस्पर तुलना करने से हड़प्पा के टीलो की स्तर रचना और उनके काल मे महान् विरोध एव अन्तर प्रतीत होता है जैसा कि यथोलिखित समालोचना से स्पष्ट है :

दुर्ग प्राकार—डा० व्हीलर लिखते हैं कि आरम्भ मे कुछ समय तक यहाँ बसने के बाद हड़प्पा के आदि निवासियो ने जब इस स्थान को नदिका बाढो का शिकार पाया तो उन्होंने प्राकार बना कर टीला 'ए-बी' को दुर्ग के रूप मे बदल दिया[1]। यह प्राकार १० से २० फुट तक ऊँचे पीठ पर प्रतिष्ठित है। पीठ के नीचे १० फुट मोटा चिकनी मिट्टी का तोदा बतलाता है कि उस समय नदी मे प्रचण्ड बाढ़ें आती थी। उनके मत मे यह प्राकार प्रौढ सिन्धु सभ्यता के आविष्कर्ताओं की पहली कृति थी। पीठ की नींव के नीचे स्तर न० २६ मे डा० व्हीलर को कुछ असाधारण कुम्भखण्ड मिले थे। उनके विचार मे ये उन लोगो की कुम्भकला के अवशेष थे जो इन नवागन्तुको के पहले यहाँ आबाद थे। वे लिखते हैं कि उनकी खुदाई के खात न० 'एच-पी-३०' मे न केवल दुर्ग प्राकार का पूर्ण इतिहास ही छिपा है, किन्तु टीला 'ए-बी' का आद्योपान्त इतिवृत्त भी[2] अन्तर्हित है।

हमें देखना है कि डा० व्हीलर का यह दावा परीक्षा की कसौटी पर कहाँ तक सत्य उतरता है। चित्र (फलक ७) मे 'ए-बी' और 'एफ' दो पड़ोसी टीलो की स्तर-रचना का तुलनात्मक विवरण दिया गया है। पुरातत्त्व-विभाग ने हड़प्पा मे जो खुदाई कराई थी उसका अधिकांश इन्ही दो टीलो पर है। आश्चर्य का विषय है कि अपनी रिपोर्ट में डा० व्हीलर ने इन टीला पर किये गये अनुसन्धान की सर्वथा उपेक्षा कर दी है। पहली खुदाई श्री दयाराम साहनी और श्री माधोस्वरूप वत्स की कराई हुई है। इसका विवरण वत्स महोदय की "एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा" नामक पुस्तक मे प्रकाशित है।

---

१ एन्शेट इण्डिया न० ३, पृ० ६४।

२ एन्शेट इण्डिया न० ३, पृ० ६६।

फलक ९. टीला-एफ, खात १ में उत्तरोत्तर आठ स्तरों की बस्तियों के ध्वंस

टीला 'ए-बी' पर पहली खुदाई मे खुदा हुआ क्षेत्र समुद्रतल से ५८० और ५७५ की उच्छ्राय-रेखाओ (Contour lines) के बीच पड़ता है। डा० व्हीलर के खात 'एच-पी-३०' की पूर्वी सीमा भी उच्छ्राय रेखा ५७५ को स्पर्श करती है (फलक ८)। सलग्न रेखा-चित्र (फलक ७) से स्पष्ट प्रतीत होगा कि चौतरे पर स्थित इमारतो की छ तहे पूर्वी किनारे की चोटी से १६ फुट ६ इच की गहराई के अन्दर पडती हैं। डा० व्हीलर के मतानुसार यह चौतरा इस ऊँचाई पर समस्त टीले पर फैला हुआ था और किले की अदरूनी इमारतो की साँझी नीव का काम देता था। इसके फलस्वरूप चौतरे पर प्रतिष्ठित पहली आबादी की तह प्राकार की नीव के समकालीन होनी चाहिए। परन्तु ऐसा स्वीकार करने मे 'ए-बी' और 'एफ' टीलो के स्तरो मे जो परस्पर महान् अन्तर एव विरोध आता है उसका समन्वय करना असम्भव हो जाता है। टीला 'एफ' के खात न० १ मे वत्स महोदय ने आठ आबादियो के भग्नावशेष पाए थे (फलक ६)। यह खात टीले के उस भाग मे खुदा है जहाँ सतह जमीन ५४५ और ५४० उच्छ्राय-रेखाओ के बीच पडती है। इसमे सबसे नीचे के स्तर की आबादी सतह जमीन से २५ फुट ६ इच की गहराई पर, अर्थात उ० रेखा ५१६.५ पर मिली थी। इससे प्रकट है कि जब टीला 'एफ' मे पहले स्तर की आबादी ५१६.५ उ० रेखा पर स्थित थी, साथ के टीला 'ए-बी' मे यही आबादी ५५८.५ उ० रेखा पर बसी थी। अर्थात् दोनो टीलो मे पहले स्तर की आबादियो मे परस्पर ३६ फुट का अन्तर था।

इस महान् अन्तर का क्या कारण हो सकता है? दोनो टीलो के निवासी एक ही जाति और सस्कृति के लोग थे। यदि प्राकार के निर्माता ही हडप्पा के आदि निवासी थे तो टीला 'ए-बी' मे प्रथम स्तर की इमारतो की नीव टीला 'एफ' के इसी स्तर की इमारतो से ३६ फुट ऊँची क्यो रखी गई। डा० व्हीलर ने इस विरोध का स्पष्टीकरण और समाधान कही नही किया। वे लिखते हैं—"प्राकार को इतने ऊँचे पीठ पर बनाने का कारण सम्भवत यह था कि इसे बाढो की मार से बहुत ऊँचा रखा जाए[1]।" इसमे सन्देह नही कि पीठ के नीचे १० फुट ऊँचा चिकनी मिट्टी का तोदा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जब दुर्ग-प्राकार बनाया गया तो बाढें अति प्रचड और विनाशकारी थी। प्राकार की नीव उ० रेखा ५४० पर है। जब बाढें इतनी भयकर थी कि वे ५४० उ० रेखा की ऊँचाई तक १० फुट ऊँचा कीच का ढेर लगा सकती थी तो यह कल्पना करनी कि टीला 'एफ' में ५१६.५ उ० रेखा पर प्रथम स्तर की आबादी उसके समकालीन थी, सर्वथा अयुक्त है। सत्य तो यह है कि इन विनाशकारी प्रबल बाढो के कारण टीला 'एफ' मे किसी समय भी टीला 'ए-बी' की छ

१ एन्शेंट इंडिया न० ३, पृ० ६५, ६६।

फलक १० दुर्ग-प्राकार से सम्बद्ध पुश्ता दीवार का खंड

आबादियो मे से किसी के भी समकालीन कोई आबादी नही थी क्योंकि टीला 'एफ' की सतह जमीन उ० रेखा ५४५ से ऊँची नही है। विशेषत इस टीले के मुख्य मुख्य स्मारक, यथा विशाल धान्यशाला, शिल्पियो के निवास गृह, गोल चौतरे आदि, जो उ० रेखा ५४० के नीचे स्थित हैं, टीला 'ए-बी' पर दुर्ग-प्राकार बनने के बहुत पहले नष्ट हो चुके थे।

इस अनुसन्धान से केवल एक ही न्याय्य निष्कर्ष निकल सकता है, और वह यह कि टीला 'एफ' के उजड जाने पर उत्तर-काल मे दुर्ग-प्राकार की नीव डाली गई थी। जब इसका निर्माण हुआ तो न तो टीला 'एफ' और न ही किसी अन्य निम्नतल प्रदेश पर कोई बस्ती थी। केवल टीला 'ई' ही खडहर का दूसरा ऐसा क्षेत्र है जो टीला 'ए-बी' के समकालीन हो सकता है क्योंकि इसकी ऊँचाई भी ५७५ और ५६० उ० रेखाओ के बीच पडती है।

पूर्वोक्त समालोचना के प्रकाश मे डा० व्हीलर की यह कल्पना कि "दुर्ग-प्राकार हडप्पा के आदि-निवासियो की पहली कृति और इन खडहरो के आद्योपान्त इतिहास का प्रतीक है" परीक्षा की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती। खात 'एच-बी-३०' हडप्पा के न केवल सारे इतिहास का ही प्रतीक नही, अपितु इसमे टीला 'ए-बी' के पूरे जीवन की कहानी की भी झलक नही पाई जाती। इस तथ्य का समर्थन प्राकार की रचना तथा अन्य कारणो से, जिनका उल्लेख नीचे किया गया है, सुतरा होता है।

दुर्ग प्राकार, जैसे कि ऊपर निर्देश किया गया है, १० से २० फुट तक ऊँचे सुदृढ कच्चे पीठ पर स्थित है। मूल मे इसकी चौडाई ४० फुट, और आरम्भ मे पूरी ऊँचाई ३५ के लगभग थी। प्राकार और पीठ दुर्ग-रक्षा के प्रधान साधन थे। पीठ की साधारण ऊँचाई १० फुट है, परन्तु एक स्थान पर जहाँ बाढ के कारण १० फुट गहरा गढा पड गया था, इसकी ऊँचाई २० फुट तक है। बीच के अन्दर म बाढ के कारण बना हुआ यह २० फुट गहरा गढा इस बात का साक्षी है कि तत्कालीन बाढें कितनी प्रचड थी। इस पीठ की चोटी पर प्राकार के मूल म पकी ईंटो की उस पुश्ता दीवार का खड है जो कभी प्राकार के कच्चे शरीर पर आवरण-रूप से बनाई गई थी (फलक १०)। पुश्ता दीवार का यह खड बतलाता है कि जब दुर्ग बना तो इसकी बाहरी सितह जमीन इस खड के समतल थी। बाढो के आतक से बचने के लिये यही सितह सुरक्षा-रेखा समझी गई थी।

पीठ और प्राकार दोनो कच्ची ईंटो के बने हैं। प्राकार और चौतरे के सगम-स्थान पर खडी दरार स्पष्ट बतलाती है कि दोनो भिन्न भिन्न काल के हैं। चौतरा प्राकार की ओर झुका है और अपने सारे भार को उस पर फेंक रहा है। प्रतीत होता
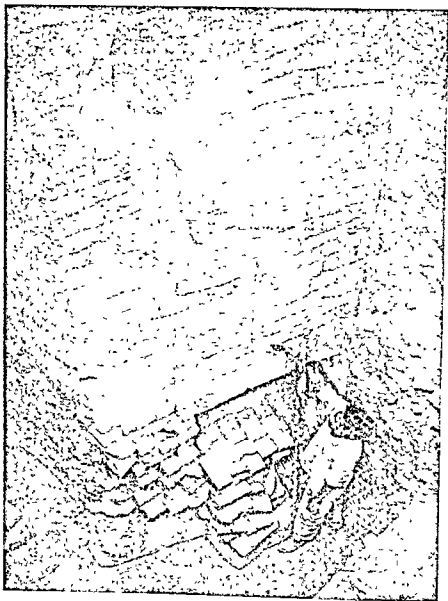
फलक ११ टीला 'एफ'—दुर्ग-प्राकार के नीचे पकी ईंटों के प्राचीनतर वास्तु

है कि यह तथा-कथित 'चौतरा' अदरुनी इमारतों को उठाने के लिये नहीं किन्तु प्राकार को थामने के लिये एक पुश्ते के रूप में बनाया गया था। पीठ के मूल में तह २६ में डा० व्हीलर को एक विलक्षण कुम्भकला के अंश मिले थे, जिन्हें वे उन लोगों की कृति बतलाते हैं जो सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं के आने से पहले यहाँ आबाद थे। ऊपर दिखाया गया है कि प्राकार के निर्माता हड़प्पा के आदि निवासी नहीं थे। हड़प्पा-सभ्यता प्राकार निर्माण-काल से एक हजार वर्ष पुरानी है। अतः जो थोड़े से असाधारण कुम्भ खंड उन्हें इस तह में मिले थे भी उन्हीं लोगों के थे जो प्राकार बनने के पहले यहाँ आबाद थे। इस तथ्य के समर्थक कुछ प्रमाण डा० व्हीलर को टीले के पश्चिमोत्तरी कोने पर अपनी खुदाई में मिले थे। जब उन्होंने यहाँ प्राकार के मूल में खुदाई कराई तो उन्हें कुछ खण्डित इमारतें बुर्ज की नींव के नीचे दबी मिलीं[1] (फलक ११)। ये इमारतें निस्सन्देह प्राकार के पहले काल की थीं। मैंने ऊपर लिखा है कि पक्की ईंटों की पुश्ता दीवार ५४८ उ० रेखा पर प्रतिष्ठित हैं और किले के बाहर की सतह जमीन उ० रेखा ५५० की पहुँच में है। इसलिये दुर्ग निर्माण के समय टीला 'एफ' तथा खडहर के अन्य निचले प्रदेशों पर कहीं आबादी नहीं थी, क्योंकि ये सब स्थान इन रेखाओं से बहुत नीचे स्थित होने के कारण बाढ़ों के उपद्रवों से आक्रान्त थे। फीके रंग के जो थोड़े से असाधारण ठीकरे डा० व्हीलर को तह न० २६ में मिले वैसे ही कुम्भ खंड पहली खुदाइयों में लाल कुम्भकला के ठीकरों से मिश्रित बहुत पाए गये थे।

तथा-कथित चौतरा (प्लेटफार्म)—चौतरे के वर्णन-प्रसंग में डा० व्हीलर लिखते हैं—"पीठ तथा प्राकार से सुसम्बद्ध ३३ फुट ऊँचा एक समकालीन कच्चा चौतरा है जो किले की अदरुनी इमारतों की नींव के लिये बनाया गया था[2]।" उनका यह कथन भ्रान्तिमूलक है। चौतरा प्राकार से सम्बद्ध नहीं है किन्तु पृथक् बना है क्योंकि दोनों के बीच एक मोटी विभाजक रेखा स्पष्ट दिखाई देती है (फलक ७)। न ही यह चौतरा किले की इमारतों की नींव का काम देने के लिये बनाया गया था। किले के अंदर ४०० गज लंबे और २०० गज चौड़े विस्तृत क्षेत्र पर ३३ फुट ऊँचे पर्वताकार प्लेटफार्म के बनाने का क्या तात्पर्य था। बजाय इसके चार पाँच फुट ऊँचा चौतरा काम दे सकता था। और फिर इसकी नींव उ० रेखा ५४० पर क्यों रखी गई जब कि बाहर से यह एक महान् पीठ से, जिसकी नींव इससे १३ फुट अधिक गहरी है, चारों ओर घिरा हुआ था। दूसरी बात यह है कि इसकी चोटी

---

१ एन्शेंट इंडिया न० ३, पृ० ६७।

२ एन्शेंट इंडिया न० ३, पृ० ६५।

उ० रेखा ५६२५ अर्थात् बाढ़ों की पहुँच के ऊपर की रेखा से भी १४ फुट ३ इंच तक क्यों उठाई गई थी। इस परिस्थिति में चार अथवा पांच फुट ऊँचा चौतरा सुरक्षा के दृष्टिकोण से पर्याप्त था।

पूर्वोक्त समालोचना के आधार पर मैं समझता हूँ कि व्हीलर महोदय का तथा-कथित प्लेटफार्म (चौतरा) किले की इमारतों को उठाने का पीठ नहीं था। यदि ऐसा होता तो टीला 'ए-बी' की पहली खुदाई में इस तह पर कहीं न कहीं यह अवश्य प्रकट होता, क्योंकि मध्यवर्ती तथा दक्षिणी ढलवान के खातों में कई स्थान पर खुदाई चौतरे की चोटी से बहुत गहरी हुई है। न ही इसका कोई अंश उन गहरी दरारों में कहीं देखने में आया था जो सदियों की वर्षाओं के कारण नौ गजा कब्र के पास टीले की पूर्वी ढलवान में कटी पड़ी हैं। मेरा अपना अनुमान है कि यह तथा-कथित प्लेटफार्म एक महान् पुश्ता था जो प्राकार तथा पीठ को अपने स्थान पर अटल रखने के लिये उस समय बनाया गया था जब किले की दीवार बाहरी दबाव से अंदर की ओर झुक रही थी। इस विकट परिस्थिति से बचने के लिये प्राकार के पूर्वी माथे का कुछ भाग जो अंदर की ओर झुका था तराश कर तिरछा कर दिया गया था, जिससे दबाव अंदर की ओर न पड़े, और प्राकार को सुदृढ़ करने के लिये यह तथा-कथित चौतरा पुश्ते के रूप में तराशे हुए माथे के साथ बना दिया गया था।

यह पर्वताकार पुश्ता प्राकार तथा पीठ का समकालीन नहीं किन्तु उत्तर-कालीन है। आबादियों के छ: स्तर जो डा० व्हीलर को इस पुश्ते की चोटी पर मिले, दुर्ग की आयु के अन्तिम काल के अवशेष थे। वे उस समय अस्तित्त्व में आए जब दुर्ग-प्राकार प्रायः ध्वस्त हो चुका था। ये दुर्बल और मड़ियल इमारतें इस प्रकार के विशाल और सुदृढ़ दुर्ग के सम्बन्ध में नहीं बनाई गई थीं। इन छ: तहों में एक दूसरी के बीच इतना थोड़ा व्यवधान है कि इन सारी तहों की आबादियों की आयु दो या तीन सौ वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। इतने ऊँचे टीले की आयु के लिये यह समय बहुत थोड़ा है।

प्राकार की आयु में तीन काल—डा० व्हीलर के मतानुसार प्राकार की शरीर-रचना में तीन भिन्न-भिन्न कालों का आभास होता है। प्रथम वह काल जब सिंधु-सभ्यता के लोग हड़प्पा आए और कुछ काल तक यहाँ बसने के अनन्तर उन्होंने प्राकार बनाकर इसकी दृढ़ता के लिये पकी ईंटों के खंडों की पुश्ता दीवार से इसे सर्वतः ढक दिया। द्वितीय-काल में इस प्राकार में उन्होंने कुछ परिवर्तन किये। इस प्रसंग में डा० व्हीलर लिखते हैं—"चिरकाल तक वर्षातप के थपेड़ों की निरन्तर मार सह कर जब यह प्राकार दुर्बल हो गया तो पहली पुश्ता दीवार का पुनर्निर्माण हुआ और विशेषतः पश्चिमोत्तरी कोने पर इसे सुदृढ़ बनाया गया। इस समय पकी ईंटों के खंडों

की बजाय साबत ईंटें लगा कर इसे उत्तम कोटि की इमारत का रूप दिया गया। यह हड़प्पा की सभ्यता का उत्कर्ष-काल था।" तृतीय काल में, प्राकार के पश्चिमोत्तरी कोन में एक नवीन वप्र बना कर इसे दृढ़ किया गया। डा० व्हीलर के विचार में इस समय हड़प्पा के निवासी शत्रुभय के कारण किले को अभेद्य बनाने में व्यस्त थे। पूर्वोक्त तीन कालों के अतिरिक्त उन्होंने एक चौथे काल का भी अनुमान लगाया है। इस काल के स्मारकों में निकृष्ट कोटि के कुछ वास्तु खंड उन्हें पश्चिमी द्वार के पास मिले थे। और इनके आस-पास बिखरे हुए 'कब्रिस्तान एच' की कुम्भकला के अवशेष भी पाए गये थे।

प्राकार के इतिहास में पूर्वोक्त चार काल विभाग कहाँ तक युक्ति संगत हैं अब इस विषय पर आलोचना की जाती है। डा० व्हीलर के मत में सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं का हड़प्पा में प्रथम आगमन और प्राकार के निर्माण का सूत्रपात ये दोनों घटनाएँ प्रायः एक ही समय हुईं। क्योंकि हड़प्पा की पुरानी ईंटें सिन्धु-सभ्यता के लोगों का ही आविष्कार था इसलिये इसमें सन्देह नहीं कि ये लोग जब यहाँ आए तो पहले पहल ईंटों का बनाना उन्होंने ही आरम्भ किया। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि उन्होंने पुश्ता दीवार, जो प्राकार का प्रधान अंग था, ईंटों के टुकड़ों से क्यों बनाई। साधारणतः ईंटों के खंड उस समय प्रयोग में लाए जाते हैं जब वे प्राचीन ध्वंसावशेषों से प्रचुर-संख्या में सुलभ हों। इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर हो सकता है, और वह यह कि जब नवागन्तुकों ने प्राकार बनाना आरम्भ किया तो टूटी फूटी ईंटें वहाँ प्रचुर मात्रा में सुलभ थीं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इस काम के आरम्भ करने के समय सिन्धु सभ्यता यहाँ कई शताब्दियाँ पहले से ही विद्यमान थी और असंख्य वास्तुखंड इस स्थान पर बिखरे पड़े थे जिनका तत्कालीन लोगों ने दुर्ग बनाने में खुले दिल से उपयोग किया। सारांश यह है कि दुर्ग-निर्माता लोग नवागन्तुक नहीं थे। वे एक हजार वर्ष पहले से वहाँ आबाद थे। प्रतीत होता है कि प्रलयकर सामयिक बाढ़ें जब असह्य हो गईं तो उन्होंने खंडहर के निचले भागों को त्याग कर टीला 'ए बी' और 'ई' जैसे ऊँचे स्थानों पर जा बसना ही उचित समझा और जब वे इन टीलों पर आ बसे तो उन्होंने उजाड़ स्थानों की टूटी इमारतों की ईंटों को पुश्ता दीवार बनाने में व्यवहृत किया।

उत्कर्ष काल—द्वितीय काल के विषय में डा० व्हीलर से मेरा प्रायः ऐक-मत्य है। मैं मानता हूँ कि यह हड़प्पा का उत्कर्ष काल था, और यह स्वाभाविक ही था कि इस समय नई पुश्ता दीवार के निर्माण में साबत ईंटें लगाई जातीं। परन्तु मतभेद इस बात में है कि दीर्घजीवी सिन्धु-सभ्यता के जीवन में केवल यही एक उत्कर्ष-काल नहीं था, किन्तु कम से कम एक और भी था जब विशाल धान्यशाला, शिल्पि-

गृह, गोल चौतरे आदि लोक-हितकर सार्वजनिक वास्तुओं का निर्माण हुआ। ये वास्तु तत्कालीन उच्च नागरिक जीवन के भव्य उदाहरण हैं। पहले निर्देश किया गया है कि टीला 'एफ' तथा अन्य निम्नतल प्रदेश 'एन्बी' और 'ई' टीलों से बहुत प्राचीन हैं। पूर्वकाल की नाली-व्यवस्था और उसके अगभूत कुएँ, स्नानागार, चौतरे आदि नगर के सुन्दर स्वास्थ्य प्रबन्ध के ज्वलन्त उदाहरण हैं। वत्स महोदय ने इस काल को 'मध्ययुग' के नाम से निर्दिष्ट किया है। इसका विशेष लक्षण यह है कि इस समय की इमारतें मात्र ईंटों की और सुदृढ बनी हैं।

अब इस बात पर विचार करना है कि क्या डा० व्हीलर के कथनानुसार तृतीय-काल के लोग वस्तुतः शत्रुभय से दुर्ग-रक्षा के उपायों मे सलग्न थे। इसकी पुष्टि में जो प्रमाण उन्होंने उपस्थित किया है वह पर्याप्त नहीं है। प्राकार के पश्चिमोत्तरी कोने को दृढ बनाना और किले की पश्चिमी दीवार में एक छोटे से द्वार को बन्द कर देना ये इस कथन की पुष्टि में बलिष्ठ प्रमाण नहीं हो सकते। ये क्षुद्र परिवर्तन अन्य कारणों से भी हो सकते थे। स्मरण रहे कि किले का सिंह द्वार पूर्वी या पश्चिमी दीवार में नहीं किन्तु उत्तरी दीवार में था (फलक ८)। जहाँ कोनों पर खड़े दो बुर्ज प्रहरियों की तरह अब भी इसका संरक्षण कर रहे हैं (फलक ६)। इन बुर्जों के बीच टीले के उत्तरी माथे मे एक गहरी दरार किनारे को काटकर दूर तक अन्दर चली गई है जिससे एक अर्धचन्द्राकार चौगान सा बन गया है। इसी प्रकार का एक बड़ा द्वार सम्भवतः किले की दक्षिणी दीवार में था जिसके संरक्षक दो बुर्जों के चिन्ह अभी तक वहाँ विद्यमान हैं। इसमें सन्देह नहीं कि किले की पूर्वी व पश्चिमी दीवारों में भी कई एक छोटे द्वार अवश्य होंगे। डा० व्हीलर ने पश्चिमी दीवार मे जो द्वार खोदा वह इनमें से ही एक था। इस द्वार की चौडाई बाहर आठ फुट परन्तु दीवार के पास आकर पाँच फुट ही रह जाती है। प्राकार मे पाँच फुट चौड़ा द्वार अवश्य ही एक तंग मार्ग था और किसी विशेष अवसर के लिये ही बनाया गया होगा। इस द्वार के बाहर प्रधान इमारतों में दो समानान्तर लम्बे चौतरे (प्लेट फार्म) और उनके साथ सम्बद्ध एक टेढ़ा मार्ग था। इनकी बनावट और योजना से प्रतीत होता था कि दुर्ग के जीवन काल मे यह एक गुप्त सुरंगामार्ग था जिसके द्वारा संकट के समय दुर्ग निवासी भागकर अपने प्राण बचा सकते थे। जैसे ही यह संकुचित मार्ग प्राकार से बाहर निकलता था उस तंग गली मे जा मिलता था जो चौतरों के बीच बनी थी और वहाँ से यह टेढे मार्ग में प्रवेश करता था। पूर्वोक्त तंग गली और टेढे मार्ग पर छत डाल देने से यह एक अत्यन्त गुप्त सुरंगा-मार्ग बन जाता था, जहाँ से मनुष्य प्राकार के मोड पर बने हुए एकान्त और अदृश्य स्थान पर पहुँच कर वहाँ से पास के जंगल में भाग सकता था। सम्भव है कि पश्चिमी द्वार के पास बने हुए ये वास्तुखंड दुर्ग की एक बड़ी आवश्यकता को पूर्ण करते थे।

डा० व्हीलर का यह कथन कि पूर्वोक्त चौतरे और उनके साथ का टेढ़ा मार्ग किन्ही धार्मिक समारोहो के लिए थे, एक क्लिष्ट-कल्पना है। ऐसे समारोहो के लिये दुर्ग का पिछवाडा उपयुक्त स्थान नही हो सकता। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार के विशाल दुर्ग की रक्षा के लिए अत्यावश्यक था कि इसके चारो ओर एक गहरी खाई भी होती। अभी तक इसकी खोज मे कोई खुदाई नही की गई और ऐसी दशा मे इसका होना या न होना सँशयित है। परन्तु यदि मान लें कि दुर्ग परिखावेष्टित था तो प्लेटफार्मों के सामने धार्मिक समारोहो के लिये कोई रिक्त स्थान नही रह जाता। इसके विपरीत यदि इसे सुरगामार्ग मान ले तो यह दुर्गरक्षा-योजना के बहुत अनुकूल सिद्ध होता है।

चतुर्थ-काल—प्राकार की आयु के अन्तिम काल की समालोचना करने मे डा० व्हीलर ऐसे निर्णय पर पहुँचता है जो अतीव विवादास्पद है। उन्ह अपनी खुदाई म जो निकृष्ट कोटि के वास्तुखड और कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला के ठीकरे किले की पश्चिमी दीवार के साथ मिले वे उनके विचार मे एक बडी क्रान्ति के प्रमाण हैं। उनका सुझाव है कि अन्तिम काल की हडप्पा-सभ्यता मे इन विजातीय अशो के मिश्रण का तात्पर्य यह हो सकता है कि ईसापूर्व १५०० के लगभग आर्य जाति के लोगो ने यहाँ आक्रमण किया था। इस सुझाव के प्रस्तुत करन मे यद्यपि पहले वे कुछ सकोच प्रकट करते हैं, तथापि अन्त मे वे इस सुझाव को निश्चित सिद्धान्त का रूप ही दे देते हैं। वे लिखते हैं कि "वे आर्य लोग थे जिन्होंने सिंधु देश के दुर्गों का ध्वस किया। सिन्धु-सभ्यता तथा उसके निर्माताओ का समूल विनाश करके सप्त सिंधु देश पर आधिपत्य जमाया।" उनका यह भी कथन है कि मोहेंजो-दडो मे जो उत्तरकालीन मुर्दे पाए गये थे वे आर्यजाति के अत्याचारो के ही उदाहरण थे[1]। अन्त म वे इस निणय पर पहुँचते हैं कि आर्यजाति का रणदेवता इन्द्र सिन्धु सभ्यता की हत्या के अपराध मे अभियुक्त सा प्रतीत होता है। अर्थात् यह आर्यजाति थी जिसने सिन्धु-सभ्यता और उनके निर्माताओ का समूलोच्छेद किया।

उचित होगा कि इस प्रसग मे कब्रिस्तान 'एच' और सिन्धु-सभ्यता मे जो परस्पर सम्बन्ध है पहले उस पर विचार किया जाए। कब्रिस्तान 'एच' मे मृतकों के साथ गडे हुए बर्तनो के सिवाय अन्य कोई वस्तुएँ उपलब्ध नही हुई थी। अत डा० व्हीलर के इस निर्णय से सहमत होना कठिन है कि चौतरों के ऊपर बने हुए निकृष्ट

---

१ स्मरण रहे कि मोहेंजो-दडो मे कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला के कोई अवशेष नही मिले जिससे वहाँ आर्यजाति के आक्रमण का अनुमान लगाया जाता। अत यह कहना अनुचित है कि मोहजो-दडो का ध्वस भी आर्यजाति ने ही किया था।

वास्तुखंड आर्यजाति के निवासगृह थे[१]।

वत्स महोदय की खुदाई में यह दैनिक अनुभव था कि कब्रिस्तान की शैली के कुम्भखंड प्रायः हड़प्पा के अन्तिम तीन स्तरों से सम्बद्ध पाए जाते थे। इस साक्ष्य के आधार पर निःसंकोच कहा जा सकता है कि कब्रिस्तान 'एच' के लोग सिंधु-सभ्यता के ह्रासकाल में हड़प्पा आए और दो तीन शताब्दियों तक इस स्थान पर आदि-निवासियों के साथ मिलकर इकट्ठे रहे। प्रतीत होता है कि उन्होंने समूची सिन्धु-सभ्यता को अपना लिया था, क्योंकि उनकी पृथक् संस्कृति का केवल एक ही चिह्न जो अब हमें मिलता है वह उनकी विलक्षण कुम्भकला है (फलक २९-३२)। इसलिये यह अनुमान लगाना अनुचित होगा कि उनकी कोई अपनी स्वतन्त्र सभ्यता थी। इस बात की पुष्टि में अणु-मात्र भी प्रमाण नहीं है कि कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला आक्रमणकारी आर्यजाति की कृति थी। यदि ऐसा होता तो इसके साथ आर्य सभ्यता की अन्य विविध वस्तुएँ भी अवश्य दृष्टिगोचर होतीं। यह सर्वसम्मत है कि आर्यजाति की अपनी स्वतन्त्र तथा विलक्षण सभ्यता थी जिसे वे पराजित जाति की सभ्यता से नितान्त उत्कृष्ट समझते थे। समझ में नहीं आता कि उन्होंने अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पराजित विजातीय जाति में क्योंकर डुबो दिया। और इसके विपरीत अपनी उत्कृष्ट सभ्यता को पराजितों पर क्यों नहीं ठूंसा। दूसरी विचित्र बात यह है कि दो तीन शताब्दियों तक हड़प्पा में रहकर कब्रिस्तान 'एच' के लोग अकस्मात् कहाँ और क्योंकर अदृश्य हो गये।

जब से आर्यों ने भारत के पश्चिमोत्तर में पदार्पण किया तभी से वे स्थायी रूप से यहाँ बस गये और कालान्तर में यहाँ से प्रगति करते हुए गंगा-यमुना के मैदानों तथा देश के अन्य भागों में फैल गये। ऐसी दशा में यह बात बुद्धिगम्य नहीं कि कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला केवल हड़प्पा में ही क्योंकर सीमित रही, अन्य स्थानों में क्यों नहीं पाई गई। आर्य लोग हड़प्पा में आकाश से नहीं उतरे थे। पश्चिमोत्तर से यहाँ तक पहुँचने के लिये जिस लम्बे मार्ग का उन्होंने अनुसरण किया वहाँ वे कई स्थानों पर बस गये थे जहाँ इस विलक्षण कुम्भकला के अवशेष मिलने चाहियें थे। परन्तु अभी तक नहीं मिले, यद्यपि पश्चिमोत्तरी भारत में पुरातत्त्व अनुसन्धान कार्य विस्तृत रूप से हो चुका है। यह बात भी विचारणीय है कि भारतीय आर्य अपने मृतकों का अग्निदाह करते थे, उन्हें कब्रों में नहीं गाड़ते थे। जैसा कि कब्रिस्तान 'एच' में पाया गया है। अच्छा होता कि डा० व्हीलर इस निर्णय पर पहुँचने के पहले कि कब्रिस्तान 'एच' के लोग आर्य थे, अन्य प्रमाणों का प्रतीक्षण कर लेते।

---

१. एन्शेंट इंडिया नं० ३ पृष्ठ ७५।

५
सिन्धु-सभ्यता का काल-निर्णय
(भौतिक प्रमाणों के आधार पर)

टीलों की अन्दरूनी स्तर रचना के अतिरिक्त बहुत से भौतिक प्रमाण भी हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सिन्धु-सभ्यता की प्राचीनता चौथी सहस्राब्दी ईसा पूर्व तक जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि इस सभ्यता का जीवन-काल १५०० वर्ष पर्यन्त रहा और इस अन्तर में इसने उन्नति और अवनति के अनेक चढ़ाव उतार देखे। पश्चिमी एशिया की ताम्रयुगीन संस्कृतियाँ प्राय इसकी सजातीय और समान धर्म हैं, इसलिये सिन्धु-सभ्यता की बहुत सी प्राचीन कला-कृतियों की मेसोपोटेमिया की समान कृतियों से तुलना करने से उनके काल का पता लगाना कठिन नहीं। कालभेद से भौतिक प्रमाणों को तीन भागों में विभक्त कर दिया है जिससे उनकी तुलना मेसोपोटेमिया के प्राग्-वंशावली काल, वंशावली काल और उत्तर-वंशावली काल की विविध पुराण वस्तुओं से सुगमतया हो सके। इनमें प्राग् वंशावली काल ५००० ई० पू० से ३००० ई० पू० तक प्राय दो हजार वर्ष-व्यापी है, और इसमें पाँच के लगभग संस्कृतियाँ समाविष्ट हैं जैसे प्राक् हलाफ, हलाफ, अल-उबैद, उरुक और जमेदत-नसर। वंशावली काल ३००० ई० पू० से २४०० ई० पू० तक और उत्तर वंशावली काल २४०० ई० पू० से २००० ई० पू० तक।

प्राग्वंशावली काल के प्रमाण

मुखमुद्रा और केशवेश (फलक १२)—प्राचीन सुमेरियन और सिंधुदेश निवासियों की मुखमुद्राओं की परस्पर तुलना महत्वपूर्ण है। लम्बी दाढ़ी रखना, मूँछें सफाचट मुड़ाना, सिर पर लम्बे बाल रखना और उन्हें स्त्रियों की तरह जूड़ा बनाकर बाँधना—ये ऊँची श्रेणी के तत्कालीन सुमेरियन लोगों के प्रचलित फैशन थे। कभी कभी वे चेहरे को सफाचट मुँडवा भी देते थे। मोहंजो दडो में जो कई एक पुरुष मूर्तियाँ मिली उनकी मुखमुद्रा और केश रचना भी इसी प्रकार की हैं (फलक १२, क-घ)। ये मूर्तियाँ उन पुरुषों की हैं जो सिन्धु समाज में उच्च कोटि के लोग थे। सम्भवत सुमेरियन पड़ोसियों की तरह ये व्यक्ति राज्य शासन और धार्मिक संस्थाओं के सर्वोच्च

क १ 1(a) क २ 1(b) ख 2

ग 3 घ 4 ङ 5

च

छ
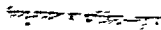
अधिकारी थे। दृष्टान्ततः खड़िया पत्थर के बने हुए दो नरमुंड[1], जो इस समय की मूर्तिकला के विलक्षण उदाहरण हैं, अति प्राचीन सुमेरियन लोगों की मुखमुद्रा से घनिष्ठ समानता रखते हैं। अल-उबेद काल में भी जार्डन महोदय को इसी प्रकार के केशवेश और आकृतियों वाली नर मूर्तियाँ मिली थीं। फ्रैंकफर्ट के मतानुसार पूर्वोक्त लक्षणोपेत मूर्तियाँ सुमेरियन लोगों की थीं। वे सुमेर के प्राचीनतम निवासी थे। उनके वर्णन प्रसंग में वे लिखते हैं—"यह तथ्य अत्यन्त रहस्यपूर्ण है कि मोहेंजो-दड़ो की मूर्तियाँ जो सिन्धु देश के तत्कालीन महापुरुषों का चित्रण करती हैं उसी वेश और मुखमुद्रा में हैं जो मेसोपोटेमिया में उरुक अथवा सम्भवतः उससे भी पहले अल-उबेद काल में प्रचलित थे। पुरुष कभी कभी लम्बे केशों को सिर के पीछे जूड़ा बनाकर बाँधते थे। जैसे कि 'ई-एनेटम' राजा के मूर्ति फलक पर स्पष्टरूप से चित्रित है[2]। सुमेरियन लोगों के अपने आख्यानों के अनुसार उन्होंने पूर्वी समुद्र (अरब-सागर) की ओर से मेसोपोटेमिया में प्रवेश किया और 'एरिडु' नाम नगर को अपनी राजधानी बनाकर देश के दक्षिणी भाग को पहले बसाया (फलक ५)[3]। सुमेरियन और सिन्धु काल की सभ्यताओं में इस घनिष्ठ सम्बन्ध से प्रभावित होकर प्रो० चाईल्ड को ऐसी ही विचारधारा का अवलम्बन करना पड़ा था। वे लिखते हैं—"क्या सुमेरियन सभ्यता की विलक्षणताएँ भारत से ली गई थीं और क्या अलक्षत्रक सुमेरियन जाति ने मेसोपोटेमिया में विजेता के रूप में प्रवेश करके इन विलक्षणताओं का वहाँ संचार किया था[4] ?"

लिपि का प्रमाण—सिन्धु-सभ्यता की प्राचीनता के विषय में अन्य श्रद्धेय प्रमाण सिन्धु-लिपि की चित्रात्मक रचना है जो इस सभ्यता के आरम्भ-काल से लेकर अन्त तक एक ही रूप में मिलती है। लिपि-शास्त्रियों की सम्मति में सिन्धु-लिपि अपने अन्तिम काल में भी जमदेत-नसर की लिपि से सादृश्य रखती है (फलक १४, क-ग)। इसी प्रकार इलम और सिन्धु देश की प्राचीन लिपियों में न केवल बहुत से अक्षर ही किन्तु अक्षर-योग भी परस्पर समान हैं[5]। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि सिन्धु-सभ्यता अपनी प्रौढ़ दशा में भी इलम और सुमेर की तत्कालीन सभ्यताओं के सम-

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एंड दि इंडस सिविलाइजेशन, ग्रन्थ ३, फलक ६६, न० ४-६ और ७-६।

२ फ्रैंकफर्ट—सिलिंडर सील्स।

३ वर्तमान समय में 'एरिडु' जो अब 'आबू-सहरीन' नाम के खंडहर से प्रसिद्ध है, समुद्र तट से १२५ मील के लगभग दूर है।

४ चाईल्ड—न्यू लाईट आन मोस्ट एन्शेंट ईस्ट, पृष्ठ २००।

५ हंटर—स्क्रिप्ट ऑफ हड़प्पा एण्ड मोहेंजो-दड़ो, पृष्ठ ४७-४८।

फलक १२. भाग

कालीन थी, जब मेसोपोटेमिया की लिपियाँ अभी चित्रमय दशा में ही थी। कालान्तर में जब इन चित्रलिपियों का स्थान कीलाक्षर-लिपि (Cuneiform Writing) ने ले लिया तो मेसोपोटेमिया और सिन्धु-सभ्यता के बीच सम्बन्ध का विच्छेद हो गया। लिपि सम्बन्धी यह साक्ष्य स्पष्ट प्रमाण है कि चौथी सहस्राब्दी ई० पू० में सिन्धु प्रान्त का मेसोपोटेमिया से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

सिन्धुलिपि की प्राचीनता—डा० हंटर का कथन है कि सुमेरियन चित्रलिपि से सिन्धुलिपि का सादृश्य तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता जब तक हम जमदेत-नसर काल में प्रवेश नहीं करते। उस काल (३५०० ई० पू०) की लिपि मौलिक इलम-लिपि के इतनी अनुरूप है कि प्रो० लेंगडन के विचार में दोनों लिपियों का एक ही प्रभव होना चाहिए (फलक १४, क ग)। डा० हंटर के अपने शब्दों में 'सिन्धुलिपि आरम्भ दशा में प्रधानतः ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक भी थी। यह आरम्भकाल ३००० ई० पू० से कई शताब्दियाँ पहले था, क्योंकि इस काल में इसके अधिकांश अक्षर पहले ही चित्रमय रूप त्याग रेखात्मक रूप धारण कर चुके थे। सिन्धु सुमेर और इलम की लिपियों की उत्पत्ति ४००० ई० पू० से भी पहले की है, चाहे वे एक ही प्रभव से उत्पन्न हुई हों अथवा एक दूसरी से[१]।

जमदेत-नसर काल की मुद्रा—जमदेत नसर काल की एक शलाका मुद्रा पर एक विचित्र वनायतन का दृश्य खुदा है (फलक १३, घ)। इसमें एक देवद्रुम दिखाया गया है जिसके आस-पास कुछ पशु खड़े हैं। देवद्रुम पर्वत शिखर से उभर रहा है। इसके दाईं ओर घुटनों के बल बैठकर एक बैल वृक्ष की पत्तियाँ चर रहा है, और बाईं ओर एक विचित्र संकीर्ण पशु, जिसका शरीर बैल का और सिर हाथी का है, खड़ा है। इस संकीर्ण प्राणी के सामने गौ जाति के तीन पशु भयभीत से वृक्ष के पत्ते चरने के लिये अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। संकीर्ण पशु संरक्षक के रूप में इस प्रकार डटकर खड़ा है मानो देवद्रुम को पशुओं के आक्रमण तथा अन्य आगन्तुक भयों से बचाने के लिये किसी ने पहरुआ नियुक्त किया हो। यह जन्तु हमें सिन्धु मुद्राओं पर बने हुए उस विचित्र संकीर्ण पशु (फलक १३ ग) का स्मरण दिलाता है जो सिन्धु-सभ्यता के परम पवित्र कल्पवृक्ष का संरक्षक था। भेद केवल इतना है कि यह विचित्र जीव सुमेरियन जन्तु से अधिक संकीर्ण है क्योंकि इसकी शरीर-रचना में सात-आठ प्राणियों के अवयवों का अपूर्व समावेश है। इन संकीर्ण पशुओं में साधारण समानता यह है कि दोनों के मुँह हाथी के हैं। मेसोपोटेमिया के पशु में समूचा सिर हाथी का दिखाया गया है परन्तु भारतीय पशु का सिर मनुष्य का है केवल सिर के अधोभाग में लटकता हुआ कन-

---

१ हंटर—वही, पृष्ठ २०-२१।

फलक १३. प्राग्वंशावली-काल के भौतिक प्रमाण

कालीन थी, जब मेसोपोटेमिया की लिपियाँ अभी चित्रमय दशा मे ही थी। कालान्तर मे जब इन चित्रलिपियो का स्थान कीलाक्षर-लिपि (Cuneiform Writing) ने ले लिया तो मेसोपोटेमिया और सिन्धु सभ्यता के बीच सम्बन्ध का विच्छेद हो गया। लिपि सम्बन्धी यह साक्ष्य स्पष्ट प्रमाण है कि चौथी सहस्राब्दी ई० पू० मे सिन्धु प्रान्त का मेसोपोटेमिया से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

सिन्धुलिपि की प्राचीनता—डा० हटर का कथन है कि सुमेरियन चित्रलिपि से सिन्धुलिपि का सादृश्य तब तक दृष्टिगोचर नही होता जब तक हम जमदत-नसर काल मे प्रवेश नही करते। उस काल (३५०० ई० पू०) की लिपि मौलिक इलम-लिपि के इतनी अनुरूप है कि प्रो० लैंगडन के विचार मे दोनो लिपियो का एक ही प्रभव होना चाहिए (फलक १४, क ग)। डा० हटर के अपने शब्दो मे 'सिन्धुलिपि आरम्भ दशा मे प्रधानत ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक भी थी। यह आरम्भकाल ३००० ई० पू० से कई शताब्दियाँ पहले था, क्योकि इस काल मे इसके अधिकाश अक्षर पहले ही चित्रमय रूप त्याग रेखात्मक रूप धारण कर चुके थे। सिन्धु सुमेर और इलम की लिपियो की उत्पत्ति ४००० ई० पू० से भी पहले की है, चाहे वे एक ही प्रभव से उत्पन्न हुई हो अथवा एक दूसरी से[३]।

जमदेत नसर काल की मुद्रा—जमदेत नसर काल की एक शलाका मुद्रा पर एक विचित्र कथानक का दृश्य खुदा है (फलक १३, घ)। इसमे एक देवद्रुम दिखाया गया है जिसके आस-पास कुछ पशु खडे हैं। देवद्रुम पर्वत शिखर से उभर रहा है। इसके दाईं ओर घुटनो के बल बैठकर एक बैल वृक्ष की पत्तियाँ चर रहा है, और बाईं ओर एक विचित्र सकीर्ण पशु जिसका शरीर बैल का और सिर हाथी का है, खडा है। इस सकीर्ण प्राणी के सामने गौ जाति के तीन पशु भयभीत से वृक्ष के पत्ते चरने के लिये अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सकीर्ण पशु सरक्षक के रूप मे इस प्रकार डटकर खडा है मानो देवद्रुम को पशुओ के आक्रमण तथा अन्य आगन्तुक भयो से बचाने के लिये किसी ने पहरुआ नियुक्त किया हो। यह जन्तु हमे सिन्धु मुद्राओ पर बने हुए उस विचित्र सकीर्ण पशु (फलक १३ग) का स्मरण दिलाता है जो सिन्धु-सभ्यता के परम पवित्र कल्पतरु का सरक्षक था। भेद केवल इतना है कि यह विचित्र जीव सुमेरियन जन्तु से अधिक सकीर्ण है क्योकि इसकी शरीर-रचना मे सात-आठ प्राणियो के अवयवो का अपूर्व समावेश है। इन सकीर्ण पशुओ मे साधारण समानता यह है कि दोनो के मुंह हाथी के हैं। मेसोपोटेमिया के पशु मे समूचा सिर हाथी का दिखाया गया है परन्तु भारतीय पशु का सिर मनुष्य का है केवल सिर के अधोभाग मे लटकता हुआ कन-

---

३ हटर—वही, पृष्ठ २०-२१।

फलक १३. प्राग्वंशावली-काल के भौतिक प्रमाण

कालीन थी, जब मेसोपोटेमिया की लिपियाँ अभी चित्रमय दशा मे ही थी। कालान्तर मे जब इन चित्रलिपियो का स्थान कीलाक्षर-लिपि (Cuneiform Writing) ने ले लिया तो मेसोपोटेमिया और सिन्धु सभ्यता के बीच सम्बन्ध का विच्छेद हो गया। लिपि सम्बन्धी यह साक्ष्य स्पष्ट प्रमाण है कि चौथी सहस्राब्दी ई० पू० मे सिन्धु प्रान्त का मेसोपोटेमिया से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

सिन्धुलिपि की प्राचीनता—डा० हटर का कथन है कि सुमेरियन चित्रलिपि से सिन्धुलिपि का सादृश्य तब तक दृष्टिगोचर नही होता जब तक हम जमदेत-नसर काल मे प्रवेश नही करते। उस काल (३५०० ई० पू०) की लिपि मौलिक इलम-लिपि के इतनी अनुरूप है कि प्रो० लेंगडन के विचार मे दोनो लिपियो का एक ही प्रभव होना चाहिए (फलक १४, क-ग)। डा० हटर के अपने शब्दो मे 'सिन्धुलिपि आरम्भदशा मे प्रधानत ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक भी थी। यह आरम्भकाल ३००० ई० पू० से कई शताब्दियाँ पहले था, क्योकि इस काल मे इसके अधिकाश अक्षर पहले ही चित्रमय रूप त्याग रेखात्मक रूप धारण कर चुके थे। सिन्धु सुमेर और इलम की लिपियो की उत्पत्ति ४००० ई० पू० से भी पहले की है, चाहे वे एक ही प्रभव से उत्पन्न हुई हो अथवा एक दूसरी मे[१]।

जमदेत नसर काल की मुद्रा—जमदेत-नसर काल की एक शलाका मुद्रा पर एक विचित्र कथानक का दृश्य खुदा है (फलक १३, ख)। इसमे एक देवद्रुम दिखाया गया है जिसके आस-पास कुछ पशु खडे हैं। देवद्रुम पर्वत शिखर से उभर रहा है। इसके दाईं ओर घुटनो के बल बैठकर एक बैल वृक्ष की पत्तियाँ चर रहा है, और बाईं ओर एक विचित्र सकीर्ण पशु, जिसका शरीर बैल का और सिर हाथी का है, खडा है। इस सकीर्ण प्राणी के सामने गो जाति के तीन पशु भयभीत से वृक्ष के पत्ते चरने के लिये अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सकीर्ण पशु सरक्षक के रूप मे इस प्रकार डटकर खडा है मानो देवद्रुम को पशुओ के आक्रमण तथा अन्य आगन्तुक भयो से बचाने के लिये किसी ने पहरुआ नियुक्त किया हो। यह जन्तु हमे सिन्धु मुद्राओ पर बने हुए उस विचित्र सकीर्ण पशु (फलक १३ ग) का स्मरण दिलाता है जो सिन्धु सभ्यता के परम पवित्र कल्पतरु का सरक्षक था। भेद केवल इतना है कि यह विचित्र जीव सुमेरियन जन्तु से अधिक सकीर्ण है क्योकि इसकी शरीर-रचना म सात आठ प्राणियो के अवयवो का अपूर्व समावेश है। इन सकीर्ण पशुओ मे साधारण समानता यह है कि दोनो के मुँह हाथी के हैं। मेसोपोटेमिया के पशु मे समूचा सिर हाथी का दिखाया गया है परन्तु भारतीय पशु का सिर मनुष्य का है, केवल सिर के अधोभाग मे लटकता हुआ कन-

---

१ हटर—वही, पृष्ठ २०-२१।

फलक १४. सुमेर और इलम की प्राग्-वंशावली-काल की लिपियों का सिंधुलिपि से सादृश्य

खजूरा हाथी की सूंड का भ्रम पैदा करता है। मेसोपोटेमिया में हाथी विदेशीय पशु था, इसलिए सुमेरियन लोगों ने यह अभिप्राय निस्सन्देह भारत से लिया था जहाँ यह सदा से देशीय चतुष्पाद चला आया है। स्मरण रहे कि यह शलाका मुद्रा जमदेत-नसर काल की है, अत भारत से इस अभिप्राय का आदान अवश्य प्राक् राजावली काल, अर्थात चौथी सहस्राब्दी ई० पू० में हुआ होगा। इन दोनो सकीर्ण पशुओ का न केवल रूप ही किन्तु नाम भी परस्पर समान है। जमदत-नसर काल के दूसरे उदाहरण जिनमे हाथी के समान आकृतियो का चित्रण है कुछ शलाका-मुद्राएँ हैं जिनके चित्र फ्रेंकफर्ट की पूर्वोक्त पुस्तक के फलक '६ बी' और '५ एच' मे प्रकाशित हुए हैं[1]।

मोहेंजो दडो की मुद्राछाप—मोहेंजो-दडो से प्राप्त पकी मिट्टी की मुद्रा-छाप पर पशुओ का समूह अकित है (फलक १५, ख)। छाप के मध्य मे घडियाल और उसके दायें बायें तीन पशु हैं। इस समूह मे रोचक बात यह है कि मध्यवर्ती घडियाल के कुछ अग पार्श्ववर्ती पशुओ के अगो का काम भी दे रहे हैं। घडियाल के खुले हुए जबडे पास के दो बैलो के सीगो का भी काम देते हैं, और इसकी गावदुम पूंछ हाथी की सूंड और एक शृंग की पूंछ का बोध भी कराती है। इसी प्रकार घडियाल की ऊपर को मुडी हुई आगे की टाँगों से उन टोकरो का भ्रम पैदा होता है जो सिन्धु मुद्राओ पर जगली पशुओ के आगे धरे हुए प्राय दिखाई देते हैं। सिन्धु कलाकार की यह विलक्षणता प्राक्-राजावली काल की एक शलाका मुद्रा पर अकित उस दृश्य के बहुत समान है जहाँ एक हिरण के दो सीग दूसरे हिरण की दो टाँगों का काम भी देते हैं (फलक ३३, घ)।

देवद्रुम और देव-मुकुट—सिन्धुकाल की देवमूर्तियो के सिरो पर बने हुए शृंग-मुकुट के मध्य मे देवद्रुम की शाखा का शिखण्ड लगा होता है। मेसोपोटेमिया मे शाखा-शिखण्ड वाले शृंग मुकुट का प्रयोग केवल राजावली काल की देवमूर्तियो के सिरो पर ही पाया जाता है, उत्तर काल मे नही। राजावली काल मे इसका प्रयोग और उत्तर काल मे इसका आत्यन्तिक अभाव बतलाता है कि यह शाखा शिखण्ड मेसोपोटेमिया मे विदेशीय था और सम्भवत सुमेरियन लोगों ने इसे सिन्धु देश से प्राप्त किया था जहाँ देवमूर्तियो के सिरो पर आरम्भ से अन्त तक इसका व्यापक प्रयोग देखा जाता है।

बैल की टाँगों वाले पीठ—सिन्धु-मुद्राओ पर एक देवता बैल की टाँगों वाले ऊँचे पीठ पर बैठा हुआ प्राय देखा जाता है (फलक १८ घ)। सिंह अथवा बैल की टाँगों वाले पीठ और सिंहासन अति प्राचीन काल मे मिश्र एव मेसोपोटमिया की घरेलू सामग्री के आवश्यक अग थे।

---

१ फ्रेंकफर्ट—सिलिंडर सील्स, फलक ७ 'डी'।
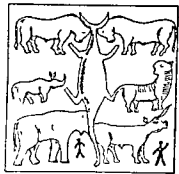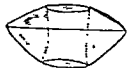
फलक १५ प्राग्-वंशावली-काल के अन्य प्रमाण

हलाफ और हड़प्पा—रिचर्ड स्टार का मार्शल से इस विषय में ऐकमत्य है कि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के निम्नतम स्तर में सिन्धु-सभ्यता का जो प्रौढ़ रूप प्रकट हुआ है उसकी पृष्ठभूमि में इस सभ्यता का एक लम्बा इतिहास छिपा हुआ है[1]। कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला पर जो ऊर्ध्वकेश मनुष्य-मूर्तियाँ मिली थी वे 'समारा' की ऊर्ध्वकेश मूर्तियों के बहुत सदृश हैं (फलक ३२, छ, ज)। वक्र-रेखाएँ, नदी के आकार, शिखा-चिह्न, उड़ती हुई विहगावली' आदि मूगा (प्रथम) के अलकरण हड़प्पा की कुम्भकला पर भी पाए जाते हैं। स्टार महोदय लिखते हैं कि सिन्धुकालीन कुम्भकला ईरान और मेसोपोटेमिया की कुम्भकलाओं से अणुमात्र भी सादृश्य नही रखती। उनके मत में सिंध की कुम्भकला में दो प्रकार की विशिष्टताओं का मिश्रण है। इनमें एक पाश्चात्य और दूसरी भारतीय है। उनका विचार है कि अन्य कुम्भकलाओं की अपेक्षा हड़प्पा और हलाफ की कुम्भकलाओं में बहुत समानता है। बहुत से अलकरण हलाफ, सियाल्क और हड़प्पा में एक समान मिलते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से अभिप्राय केवल हलाफ और हड़प्पा में ही पाए जाते हैं, विशेषत उलझे हुए और सतत वृत्त (फलक ४३, छ)। उनके मत में हलाफ इन अलकरणों का उत्पत्ति-स्थान था और उनके हड़प्पा पहुंचने के मार्ग में सियाल्क एक पड़ाव थी। हड़प्पा, हलाफ तथा सियाल्क की कुम्भकलाओं में परस्पर सादृश्य तथा सजातीयता बतलाती है कि सिन्धु देश और मेसोपोटेमिया के सम्पर्क प्राक्-राजावली काल के हैं।

चिपटी ईंटों का प्रयोग—प्राचीन काल से लेकर जमदेत-नसर काल तक मेसोपोटमिया की वास्तुकला में चिपटी ईंटों का व्यवहार होता रहा। परन्तु जमदेत नसर काल में इनका स्वरूप बदल गया और तब से उत्कृष्ट चिपटी ईंटों के स्थान निकृष्ट समोन्नतोदर आकार की ईंटें प्रयोग में आने लगीं। सिन्धु-सभ्यता काल में भी आरम्भ से अन्त तक चिपटी ईंटों का ही प्रयोग होता रहा जो प्राचीनतम मेसोपोटेमिया के साथ सिन्धु-सभ्यता का एक और सादृश्य है (फलक ३५, ड)।

कुन्तल-शीर्षक सूइयाँ—'हड़प्पा की कुछ सूइयाँ और एक गदाशिर" नामक अपने लेख में प्रो० पिगट इन वस्तुओं के आविर्भाव और तिरोभाव पर प्रकाश डालते हैं। सिन्धु सभ्यता की दो सूइयों में से एक मोहेंजो दड़ो में १८४ फुट की गहराई पर और दूसरी चन्हुदड़ो की खुदाई में ताँबे की अन्य वस्तुओं के साथ झूकर-संस्कृति के स्तर में पाई गई थी (फलक १२, छ)। चन्हुदड़ो के टीले में झूकर-संस्कृति का स्तर सिन्धु सभ्यता के स्तर पर विद्यमान होने के कारण निस्सन्देह सिन्धु-सभ्यता से अर्वाचीन था। अपने लेख में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ये सूइयाँ विदे-

१ रिचर्ड एच एस स्टार—इडस वेली पेंटेड पाटरी, पृष्ठ ९-१०।

शीय थी और २००० ई० पू० के लगभग ईरान की ओर से सिन्धु देश मे आई। उनके कथनानुसार इस शैली की सूई का आविर्भाव 'एनेटोलियन-इजियन' प्रदेश मे २६०० ई० पू० के लगभग हुआ, और इसका प्रसार तथा व्यवहार २००० ई० पू० और इसके बाद तक भी रहा। अत: वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि मोहेंजो-दड़ो की सूई जो १८ ४ फुट की गहराई पर मिली भारत में २००० ई० पू० के पहले नही पहुँच सकती थी, और चन्हुदड़ो की सूई तो इससे भी बाद की थी क्योंकि यह झूकर काल के स्तर में मिली थी।

इस शैली की सूइयाँ ईरान के दो प्रागैतिहासिक टीलो —सिआल्क और हिसार— तथा रूसी तुर्किस्तान के 'अनौ' टीले मे भी पाई गई थी। सिआल्क मे ये सूइयाँ ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी के स्तर ४ मे मिलती है। इसी प्रकार की कुन्तल-शीर्षक सूइयों के चित्र सिआल्क-३ और हिसार—१ (बी) के स्तरों से प्राप्त चित्रित बर्तनों पर भी पाए गये हैं जो और भी पुराने हैं। पिगट महोदय मानते हैं कि इस शैली की सूई का जन्म सर्वप्रथम सिआल्क मे हुआ था जहाँ से यह पश्चिम की ओर गई और एनेटोलिया-इजियन (लघु-एशिया) प्रदेश में २६०० ई० पू० के लगभग दृष्टिगोचर हुई। वे पुन: लिखते हैं कि कुछ शताब्दियो मे वहाँ लोकप्रिय हो जाने पर यह ईरान की ओर लौटी और वहाँ से २००० ई० पू० के लगभग सिन्धु घाटी में पहुँची। इन सूइयों के प्रसार के विषय मे पिगट की पूर्वोक्त विचारधारा का अनुसरण करना कठिन है। सूई का यह आकार जब २६०० ई० पू० के एक हजार वर्ष पहले सिआल्क के लोगों को सुविदित था, और प्रारम्भिक राजावली काल (३००० ई० पू०) के समय हिसार तथा अनौ मे भी प्रचलित था तो चौथी सहस्राब्दी के अन्त अथवा तीसरी के आरम्भ मे सिन्धु प्रान्त मे भी सुगमता से आ सकता था। इस कल्पना में कोई युक्ति नही है कि पहले यह आकार ईरान से पश्चिम की ओर यूनान तक गया, फिर लौटकर ईरान आया और अन्त में २००० ई० पू० के लगभग वहाँ से भारत पहुँचा। सिन्धु-सभ्यता का आरम्भ-काल वस्तुतः चौथी सहस्राब्दी ई० पू० तक पहुँचता है और आश्चर्य नही कि ईरान और भारत के बीच कला-सम्बन्धी विचारों और अभिप्रायों का परस्पर विनिमय चौथी सहस्राब्दी ई० पू० तक पहुँचता है और आश्चर्य नही कि ईरान और भारत के बीच कला-सम्बन्धी विचारों और अभिप्रायों का परस्पर विनिमय चौथी सहस्राब्दी ई० पू० में हुआ हो। मुझे स्मरण है कि वत्स महोदय की खुदाई मे सीसे की बनी हुई इस आकार की एक-दो सूइयाँ हड़प्पा में मिली थीं, परन्तु अत्यन्त खडित और असार्थ होने के कारण वे उन्हे अपनी पुस्तक मे प्रकाशित नही कर सके। सन् १९३५ में सीसे की कुन्तल-शीर्षक एक और सूई मुझे 'टीला-डी' की खुदाई मे ६ फुट ९ इंच की

गहराई पर मिली थी[१] (फलक १२, ज)।

'टीला-एफ' की तरह अति प्राचीन 'टीला-डी' के गहरे स्तर से इस सूई की उपलब्धि एक स्पष्ट प्रमाण है कि इस प्रकार की सूइयाँ विदेशीय नहीं अपितु देशीय कला-कृतियाँ थी। डा० मेके ने ठीक ही कहा था कि चन्हुदड़ो के टीले में जो सूई हड़प्पा स्तर के ऊपर झूकर-स्तर में मिली थी वह मोहेंजो-दड़ो की सूई की वंशज थी। पिगट का यह कहना कि "क्योंकि प्रौढ़ सिन्धु-सभ्यता का सुमेरियन-सभ्यता से सम्पर्क 'सार्गोन' काल में हुआ, इसलिए सिन्धु-सभ्यता प्रारम्भिक राजावली काल (२८०० ई० पू०) से प्राचीन नहीं" सर्वथा भ्रममूलक है। हड़प्पा और मोहेंजो दड़ो के टीलों की स्तर-रचना तथा उपलब्ध वस्तु सामग्री इस तथ्य का अकाट्य प्रमाण है कि चौथी सहस्त्राब्दी ई० पू० सिन्धु-सभ्यता का सुमेरियन सभ्यता से निकट सम्बन्ध था।

पशु-शीर्षक शलाका—सिन्धु-सभ्यता की अर्वाचीनता की पुष्टि में पिगट का दूसरा प्रमाण 'पशु शीर्षक शलाकाएँ' हैं। इनमें से एक (फलक १२, झ) हड़प्पा और दूसरी (फलक १२, ज) मोहेंजो दड़ो में मिली थी। हड़प्पा की शलाका टीला 'डी' के खान न० ३ में एक फुट गहराई पर पाई गई थी। यह टीला, जैसा कि वत्स महोदय ने लिखा है, हड़प्पा खंडहर के प्राचीनतम क्षेत्रों में से एक है, और इस कारण टीला-'एफ' का समकालीन है। यहाँ से खड़िया पत्थर की बहुत सी क्षुद्राकार मुद्राएँ (फलक ४६, घ, ३ १३) सचित्रिष्ट टाँगों वाले पशु अविच्छिन्न कला शैली के ताँबे के बर्तन आदि ऐसी वस्तुएँ जो प्राक् मोहेंजो दड़ो काल की है, मिली थी। इसलिये यहाँ से प्राप्त शलाका सिन्धु-सभ्यता के अन्तिम काल की वस्तु नहीं हो सकती जैसा कि पिगट का विचार है। मोहेंजो-दड़ो की शलाका १२ फुट की गहराई पर भिन्न-भिन्न काल की दो बाढ़ कांडा की तहों के बीच पाई गई थी। पिगट का तर्क है कि ये दोनों शलाकाएँ सिन्धु-सभ्यता में बेजोड़ हैं, परन्तु भारत के बाहर इनका बहुत प्रचार था। चौथी सहस्त्राब्दी ई० पू० के आरम्भ-काल की इसी आकार की प्राचीनतम शलाकाएँ जो मेसोपोटेमिया से मिली थी सुमेरियन सभ्यता से सम्बन्ध रखती है। यही आकार सूसा (उरुक-प्रान्त) में मिला है और लगाश के टीले में प्राप्त प्रसिद्ध नर्तक-शलाका भी इसी काल की है। एक और शलाका जो किश के खंडहर के कब्रिस्तान में उपलब्ध हुई थी, प्रारम्भिक राजावली काल (३००० ई० पू०) की है।

पिगट के इस तर्क में भी वही आपत्ति है जो कुल्हाड़ शीर्षक सूइयों के सम्बन्ध में ऊपर दिखाई गई है। चौथी सहस्त्राब्दी ई० पू० जब सुमेर में यह शलाका प्रयोग में

---

१ एन्युअल रिपोर्ट ऑफ आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, १९३४-३५, पृष्ठ ११, २।

आती थी तो यह असम्भव नहीं कि सिन्धु देश में भी इसका ज्ञान हो। कुंतल शीर्षक तथा पशु शीर्षक सूइयाँ सिन्धु-सभ्यता के अति प्राचीन होने का एक बलिष्ठ प्रमाण है। पिगट के मत में सुमेरियन शलाकाओं से उतरकर प्राचीनतम तीन पशु शीर्षक शलाकाएँ जो यूनान से मिली थीं २५०० ई० पू० काल की है। परन्तु इसके विपरीत हटचिन्सन महोदय लिखते हैं कि थर्मी स्थान से प्राप्त काँसे की पक्षि-शीर्षक दो सूइयाँ तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रथम पाद के पहले की हैं[1]। उनके कथनानुसार ये शलाकाएँ पूर्वोक्त सुमेरियन और यूनानी शलाकाओं के मध्यकाल की होने से सुमेरियन से अर्वाचीन और यूनानी शलाकाओं से प्राचीन हैं। मिआल्क, अनौ और हिसार में प्राप्त-कुन्तल शीर्षक सूइयों की तरह सुमेर की पशु-शीर्षक शलाकाएँ भी २५०० ई० पू० काल की यूनानी शलाकाओं की पितृस्थानीय थीं। यदि भारत ने कभी इन शलाकाओं को बाहर से लिया था, जिसका हमारे सामने अभी तक कोई प्रमाण नहीं है, तो उसने यह कला दूरस्थ इजियन प्रान्त से नहीं अपितु अपने पड़ोसी सुमेर से ही ली होगी। पिगट के द्वारा अनुमोदित टेढ़े मार्ग से सूइयों के प्रसार की क्लिष्ट कल्पना करना सर्वथा असगत है।

राजावली-काल के प्रमाण

मैसोपोटेमिया में जो भारतीय वस्तुएं मिलीं प्राचीनता की दृष्टि से वे दो कालों में विभक्त की जा सकती हैं—(१) वे जो प्रारम्भिक राजावली-काल की (३०००-२८०० ई० पू०) की हैं, और (२) वे जो राजा सार्गान के समय की हैं। पहली श्रेणी की वस्तुओं में (क) पत्थर के कुछ बर्तन हैं जो सुमेर इलम के आठ खण्डहरों में पाए गये थे (फलक १५ ब), (ख) वृक्ष पूजा का एक चित्र जो बगदाद के पास दयाला क्षेत्र से मिला था (फलक २५ क) तथा (ग) प्राक्-सार्गान काल की दो पाषण-मुद्राएँ जिन पर सिन्धु-लिपि और भारतीय पशुओं की मूर्तियाँ अंकित हैं (फलक ४६, क १, २)।

प्रो० लेंगडन की सम्मति में गुसा (द्वितीय) में उत्खात सिन्धु शैली की शलाका मुद्रा पर अंकित लिपि जमदेत-नसर, किश और निपर की सुमेरियन लिपि से बहुत अनुरूप है[2] (फलक १४ ग)। इस सम्पर्क का समर्थन करने वाली अन्य वस्तुओं और अभिप्रायों में निम्न निर्दिष्ट उल्लेखनीय हैं—

अल-उबेद से प्राप्त बर्तनों के खण्ड जो उसी प्रकार के खड़िया-पत्थर के बने

हैं जो अब भी भारत में इसी नाम से आता है[1] (फलक १५, च)। सिन्धु-सभ्यता की वस्तुओं पर सिपत्ती का अलंकरण (फलक १५ ग) जो सुमेर के अति प्राचीन 'दिव्य वृषभों' पर भी बना है[2], ताँबे के उपकरणों का गुच्छा जिसमें चिमटा, कान की मैल निकालने की शलाका आदि सम्मिलित है, उर से प्राप्त इसी प्रकार की उपकरण सामग्री के समान है जो प्रथम राजावली काल के कब्रिस्तान में मिली थी[3], दयाला क्षेत्र से प्राप्त प्रारम्भिक राजावली काल का एक बर्तन जिस पर सिंधु शैली का 'बैल-और-टोकरा' अभिप्राय बना है (फलक ४, १५, क), अकीक के खचित मन के जो किश में उत्खनन प्राक्-सार्गान काल की कब्रों के मनकों से मिलते हैं, एक विशेष आकार का मिट्टी का ढक्कन जिसके समान ढक्कन जमदेत-नस्र में मिले थे, शंख की मुन्दरियाँ[4] चपटी पैंदी का बर्तन[5] (फलक ४२, ठ), खड़ी पैंदी के बलि पात्र[6] (फलक ४२, च, छ,), पत्थर के तोल[7] (फलक ४१, ठ), पत्थर की सहूर्णी आदि ये समस्त प्राचीन वस्तुएँ डा० मेके की सम्मति में चौथी और तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मेसोपोटेमिया की वस्तुओं से सादृश्य रखती हैं। इसी प्रकार सीढ़ी और वर्षा के अभिप्राय (फलक १५, ज) जो सूसा (प्रथम) की कुम्भकला की विशेषताएँ हैं, मोहेंजो दड़ो में अलंकृत जड़ाई के टुकड़ों और चित्रित कुम्भखण्डों पर प्रकट होते हैं। ये दोनों अलंकरण सूसा (द्वितीय) में नहीं मिलते और निस्सन्देह सूसा (प्रथम) की सभ्यता के समय भारत आए थे।

मार्शल महोदय की पुस्तक के फलक नं० १२८ और १३६ में प्रकाशित कुल्हाड़े (फलक ४०, ख, ञ) सूसा (प्रथम) की सस्कृति के कुल्हाड़ों से मिलते हैं। बाँस का आरा[8] (फलक ४० ड) मिश्र के प्राचीनतम आरों के बहुत अनुरूप है। अल-उबेद के लोग अपने मुर्दों को पार्श्व के बल सिटाकर कब्र में गाड़ देते थे और उनके साथ खाद्य

१ चाईल्ड—न्यू लाईट आन मोस्ट एन्शेंट ईस्ट।

२ हाल एण्ड वूली—अल-उबेद, पृ० ४२।

३ एण्टिक्विटी—जिल्द ८, १९२८।

४ एण्टिक्विटी (चाईल्ड के लेख)।

५ मार्शल—वही, फलक १५६, ४, ५।

६ मार्शल—वही, फलक ८१, १७।

७ मार्शल—वही, फलक ७९, १७ २१।

८ मार्शल—वही, फलक १५४, ६, ७।

९ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इंडस वेली सिविलाइजेशन, फलक १३१, २६, २७।

पदार्थ, भूषण, शस्त्र आदि सामग्री रखते थे। मुर्दे की टांगों को अन्दर की ओर सिकोड़ कर उनके हाथों में पान पात्र (प्याला) देकर हाथों को मुंह के पास ले जाते थे मानो वह कब्र में जल पी रहा हो। मुर्दा गाड़ने की यह प्रथा साङ्गोपाङ्ग रूप में हड़प्पा के कब्रिस्तान (फलक २८, घ) में पाई गई थी। करघे के लटकन और जाल में बांधने के मिट्टी के गोले जो आबू-सहरीन और अल-उबेद के टीलों में मिले, सिन्धु प्रान्त में भी असंख्य पाए गये हैं (फलक ४१, ज)। दीवारों में अलङ्करण रूप में गाड़े हुए मृन्मय शंकु जो लाफटस को वार्का में मिले थे वैसे ही हजारों शंकु हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के खण्डहरों में खोदे गये हैं। इस प्रसंग में टीला 'ए-बी' के दक्षिणी भाग में प्राप्त छः सौ के लगभग चित्रित शंकुओं का समुदाय विशेष रूप से वर्णनीय है। आबू सहरीन के भवनों की भित्तियों पर बने हुए चित्राक्षर अधिकतर हड़प्पा के बर्तनों पर चित्रित चित्राक्षरों से मिलते हैं (फलक १४ घ, ङ)।

चक्र का आविष्कार—सुमेरियन लोगों ने चक्र का आविष्कार करके इसे रथ चलाने तथा बर्तन बनाने के व्यवहारों में प्रयुक्त किया। ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी में सुमेरियन लोग तांबे को पिघला तथा सांचों में ढालकर नाना प्रकार की वस्तुएँ प्रस्तुत करते थे। वे कांसे और इलेक्ट्रम जैसी मिश्रित धातों के निष्पादन और प्रयोग में भी प्रवीण थे। इन विलक्षणताओं में सिन्धु-सभ्यता सुमेरियन सभ्यता की समकक्ष थी। यातायात तथा कुम्भकला में चाक का प्रयोग, कांसे और इलेक्ट्रम का ज्ञान तथा मधूच्छिष्ट विधि से सांचों में कांस्य-मूर्तियां ढालना भी सिन्धु-निवासियों को अति प्राचीन काल से ज्ञात था।

देवद्रुम-कथानक और गिलगेमेश—सुमेरियन लोगों के प्राचीन लेखों से पता चलता है कि वे देवद्रुम की पूजा करते थे। इस दिव्य तरु ने एक जटिल कथानक को जन्म दिया। उनका जातीय महापुरुष गिलगेमेश अपने निर्जीव जीवन-सखा ई-बनी (एन-किडु) को जिलाने के लिये इस द्रुम की खोज में अधोलोक गया। सिन्धु मुद्राओं पर बने हुए अनन्त चित्रों से स्पष्ट है कि सिन्धु निवासी भी देवद्रुम में विश्वास रखते थे और गिलगेमेश के समान उनका भी एक जातीय महापुरुष था जो दो बाघों को गले से पकड़कर पछाड़ सकता था। परस्पर इतना अधिक सादृश्य होने पर भी यह निर्धारण करना कठिन है कि क्या इन दोनों देशों ने इस कथानक को एक दूसरे से लिया अथवा किसी अन्य तीसरे देश से। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक राजावली में ये दोनों देश एक दूसरे के साथ सम्पर्क रखते थे।

खण्डशः मूर्ति बनाने की कला—हड़प्पा में उपलब्ध दो छोटी पाषाण-मूर्तियां (फलक ३९, क, ग) जो खण्डशः बनी थीं कला में राजावली काल की मूर्तियों के समान हैं। सर लिओनार्ड वूली को 'राजकीय-कब्रों' में जो मेढ़ों की मूर्तियां मिली वे

भी खण्डशः बनी थी। यह कला-वैचित्र्य सार्गोन काल तक प्रचलित रहा। इसका समर्थनफ्रेंक कर्ट-कृत खफजे की खुदाई से होता है[1]।

प्राचीन पार्थिव मूर्तियाँ—अन्त में यह निर्देश करना आवश्यक है कि सिन्धु काल की मृण्मय मनुष्य-मूर्तियों के पक्षि समान विकृत मुख तथा अन्य लक्षण मेसोपोटेमिया, मिश्र तथा ईरान की प्राचीनतम मनुष्य-मूर्तियों से बहुत समानता रखते हैं।

पूर्वोक्त अनेक प्रमाण इस बात के साक्षी हैं कि सिन्धु-घाटी का मेसोपोटेमिया के साथ अल-उबेद काल से लेकर राजावली काल, अर्थात् ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध से २५वी शती ईसा पूर्व के अन्त तक साक्षात् अथवा किसी माध्य के द्वारा अवश्य सम्बध रहा होगा। राजा सार्गोन के काल (२४वी शती ई० पू०) से लेकर तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त तक यह सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गया। यह निष्कर्ष केवल भौतिक प्रमाणों के आधार पर ही आश्रित नहीं किन्तु इसका समर्थन हड़प्पा, मोहेंजो-दडो तथा चन्हुदडो के टीलों की आन्तरिक स्तर-परीक्षा से भी होता है।

राजावली काल के बाद के प्रमाण

सिन्धु-सभ्यता राजावली-काल के अनन्तर २४०० से २००० ई० पू० तक भी जीवित थी। इसका प्रमाण उन अनेक भारतीय कलाकृतियों से मिलता है जो उर, किश, टेल असमर, गारा, सूसा आदि मेसोपोटेमिया और ईरान के प्राचीन खण्डहरों से सार्गोन तथा उत्तरकाल के स्तरों के सम्बन्ध में प्राप्त हुई।

के मिलने से इस स्तर की आयु का अंदाजा लगाना कुछ सम्भव हो सकता है। इस प्रकार की संदूकचियाँ (फलक १५, च) सूसा, अल-उबेद एवं मेसोपोटेमिया के अन्य टीलों में प्रारम्भिक राजावली-काल के प्रसंग में मिली हैं। इस सम्बन्ध में डा० मेके लिखते हैं कि "मोहेंजो-दड़ो के निचले स्तरों के काल का अनुमान लगाने में संदूकची की उपलब्धि से बहुत सहायता मिलती है। यह संदूकची कुछ गहरे हरे रंग के पत्थर की बनी है और इन पर 'चटाई-अभिप्राय' बना है (फलक १५, च)। इसी प्रकार का अभिप्राय सूसा (द्वितीय) के एक वर्तन पर मिला था। सूसा (द्वितीय) की तिथि भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न नियत की है, जैसे ईसा पूर्व ३००० से २६००, २७०० और ३००० से २८००। इन विविध तिथियों की औसत २८०० है[१]। अब यदि हम २८०० ई० पू० को ही मोहेंजो-दड़ो से उत्खात संदूकची की तिथि मान लें तो स्तर न० ७ को ३००० ई० पू० की तिथि देना उपयुक्त नहीं होगा। यह कहना कठिन है कि इस स्तर के नीचे की आबादियाँ जो अभी जलमग्न है इससे और कितनी पुरानी होंगी। इन जलमग्न स्तरों में सिन्धु-सभ्यता के शैशव तथा किशोर अवस्था का इतिहास छिपा है। स्तर न० ७ मे सिन्धु-सभ्यता का जो रूप प्रकाश में आया है वह आगे ही प्रौढ़ है। सर जान मार्शल के मत में क्रमिक विकास सिद्धान्त के अनुसार शैशव से प्रौढ़ अवस्था तक पहुँचने के लिये सिन्धु-सभ्यता को कम से कम एक हज़ार वर्ष लगे होंगे। इन विकास के लिये यदि हम सात सौ शताब्दियाँ भी मान लें तो इस सभ्यता का आरम्भकाल ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी का प्रथम चरण ही बैठता है। अतः सिन्धु-सभ्यता का आद्योपान्त जीवन-काल ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध से लेकर तीसरी सहस्राब्दी के अन्त तक नियत करना अनुचित नहीं होगा।

---

१. यही 'चटाई' अभिप्राय झोब घाटी के मुर-जंगल नाम खण्डहर से प्राप्त ठीकरों पर भी मिला है।

देखो स्टाईन—मेमायर्स ऑफ दि आर्क्यालाजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया नं० ३७, फलक १३, आर, जी. ६ और फलक २०, एम. जे. ४३।

६

सिन्धु-सभ्यता का काल-निर्णय

(पश्चिमोत्तरी भारत की कुम्भकला के आधार पर)

प्रागैतिहासिक पश्चिमोत्तरी भारत के काल-निर्णय की समालोचना में पिगट महोदय लिखते हैं कि इस भूखण्ड की भौगोलिक रचना दो प्रकार की है—(१) बलूचिस्तान का ऊँचा पठार और (२) सिन्धु नद तथा पश्चिमी पजाब का मैदान। बलूचिस्तान के पठार में बिखरी हुए अनेक छोटी-छोटी प्रागैतिहासिक सस्कृतियाँ पाई गई हैं। इनमें बसने वाले कृषिजीवियों की अल्प-मध्यम जातियाँ परस्पर वियुक्त तग घाटियों में रहती थी और इस एकान्तवास में हर एक ने अपनी-अपनी विलक्षण सस्कृति का निर्माण किया था। इसके विपरीत सिन्धु नद के विस्तृत मैदान में एक ऐसी वैयक्तिक सस्कृति का जन्म हुआ जो बढते-बढते विशाल नागरिक सभ्यता के रूप में विकसित हो उठी। यह सभ्यता हडप्पा और मोहजो-दडो के केन्द्रीय नगरो में जन्म पाकर शनै शनै बढती हुई एक हजार मील लम्बे और चार सौ मील चौडे विस्तृत क्षेत्र पर छा गई। बलूची पहाडियो की स्थानीय विविध सस्कृतियाँ निर्धन लोगो की कृतियाँ थी। उनमे विषमता है। परन्तु सिन्धु घाटी की समान रूप नागरिक सभ्यता मे समृद्धि और ऐश्वर्य की झलक है।

मेक-कौन की विधि का अनुसरण करते हुए पिगट ने सिन्धु सभ्यता के साथ बलूची सस्कृतियो की तुलना त्रिविध दृष्टिकोण से की है। इस तुलना का आरम्भ वह बलूची कुम्भकला के परीक्षण मे करता है। पश्चिमी एशिया की कुम्भकलाओ के समान इस कुम्भकला के भी दो प्रसिद्ध भेद हैं—मटियाली और लाल। मटियाली मे कोयटा, आम्री, कुल्ली, शाही-तुम्प, नाल, झूकर और भांगर से उपलब्ध बर्तनों के खण्ड हैं। ये सब प्राचीन खण्डहर दक्षिणी बलूचिस्तान में हैं। लाल कुम्भकला के अवशेष उत्तरी बलूचिस्तान के सुर जगल, राणा गुंडई, पेरिआनो गुंडई नामक स्थानो मे तथा हडप्पा, मोहेजो-दडो और सिंध की अनेक प्रागैतिहासिक बस्तियो मे मिले हैं। पूर्वोक्त दो प्रकार की कुम्भकलाओ के सम्बन्ध मे प्रो० पिगट लिखता है—

लाल कुम्भकला—'लाल कुम्भकला की सस्कृतियो मे झोब घाटी की सस्कृति, जो राणा-गुण्डई और पेरिआनो-गुण्डई नामक स्थानों में केन्द्रित है, सबसे प्राचीन है। इसके अलकरणो मे कई एक ज्यामितीय अभिप्राय आम्री के अलकरणो से कुछ कुछ
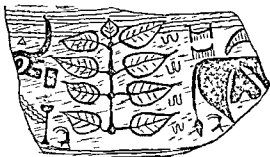
फलक १६. बलूचिस्तान की कुम्भकलाओं पर चित्रित अलंकरण

मिलते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि उत्तर-काल में आम्री-संस्कृति झोव-संस्कृति से प्रधान प्रभावित हुई थी। परन्तु यह सादृश्य अधूरा है क्योंकि स्त्रियों और पशुओं की मूर्तियाँ जो झोव और कुल्ली में पाई गई थी (फलक १७, घ) आम्री और नाल में नाममात्र को भी नहीं मिली। झोव और कुल्ली की मूर्तियों में भी परस्पर बहुत अन्तर है, क्योंकि उन स्थानों से प्राप्त स्त्री-मूर्तियाँ आकार में एक दूसरी से नितान्त भिन्न हैं[1]।"

पिगट के मतानुसार मटियाली कुम्भकलाओं में क्वेटा की कुम्भकला भारत में प्राचीनतम है (फलक १६, ट ड)। आम्री झोव और शाही-टुम्प की कलाओं से इसकी कुछ समानता अवश्य है परन्तु भारतीय कुम्भकलाओं में यह अपनी शैली की निराली ही है, और इसके विषय में पुरातत्ववेत्ताओं को बहुत कम ज्ञान है। पिगट स्वयं इस बात को मानते हैं कि क्वेटा कुम्भकला से किसी अन्य भारतीय कला की तुलना करना भ्रान्तिकारक है। क्वेटा से उतरकर आम्री की कुम्भकला है जो अपने उत्तरकालीन रूप में नुंदारा को कुम्भकला पर प्रभाव डालती है। नाल की कुम्भकला के दो भेद हैं—एक प्राचीन और दूसरा उत्तरकालीन। प्राचीन रूप की नुंदारा में और उत्तरकालीन की नाल की बहुवर्ण कुम्भकला में झलक मिलती है। पिगट के विचार में क्वेटा, आम्री और झोव संस्कृतियाँ हड़प्पा से प्राचीन हैं। आम्री अपने प्राचीन रूप में नुंदारा और कुल्ली की संस्कृतियों को प्रभावित करती है। कुल्ली हड़प्पा से प्राचीनतर है और अन्तिम काल में हड़प्पा सभ्यता पर अपनी छाप डालती है। नाल अंशतः हड़प्पा के समकालीन और अंशतः उत्तरकालीन है[2]।"

अपनी समालोचना के प्रसंग में पिगट महोदय पुनः लिखते हैं—

"यह सम्भव नहीं कि आम्री को जलदेत-नगर से अधिक प्राचीन माना जाए, क्योंकि आम्री-संस्कृति हड़प्पा संस्कृति के बिलकुल ही नीचे मिली है, और हड़प्पा-संस्कृति स्वयं प्रारम्भिक राजावली काल से पहले की नहीं हो सकती। अपने सुर-जंगल रूप में झोव-संस्कृति हिसार (प्रथम) के अन्तिम काल से सम्बद्ध है और इसका वह रूप आम्री संस्कृति के आरम्भ काल से बहुत वियुक्त नहीं। राजावली काल में भारत और सुमेर के बीच वाणिज्य-सम्बन्ध स्थापना करने में यदि कुल्ली का स्थान प्रधान था तो सिन्धु-सभ्यता और सार्गान के समय के उत्तरकालीन सम्पर्क शायद कुल्ली माध्य के द्वारा ही सम्पन्न हुए हों। इसका प्रमाण मकरान के समुद्रतट पर स्थित सुतक्जडोर नामक सिन्धु-सभ्यता का प्राकार-वेष्टित खण्डहर है[3]।"

---

१ एन्शेंट इंडिया, नं० १, पृ० ८-२४।

२ एन्शेंट इंडिया नं० १, पृ० ८-२४।

३ एन्शेंट इंडिया नं० १, पृ० ८-२४।

पिगट के मत में सिन्धु-सम्यता सिन्धु घाटी मे प्रारम्भिक राजावली काल के समस्त सास्कृतिक लक्षणों समेत प्रकाश मे आती है। इन लक्षणों मे नागरिक अनुशासन, लिपि, मूर्तिकला, मुद्राएँ, धातु-विद्या आदि वर्णनीय हैं। उनका सुझाव है कि कुल्ली-संस्कृति शायद सिन्धु-सम्यता की जननी थी और सिन्धु-सम्यता से प्रभावित जो वस्तुएँ कुल्ली से प्राप्त हुईं वे सम्भवतः सक्रान्ति-काल की थी।

पिगट का काल-निर्णय दोषग्रस्त है—पिगट के द्वारा निर्धारित पश्चिमोत्तर भारत की संस्कृतियों का काल-निर्णय दोष-ग्रस्त है। उनका तर्क कही भी श्रद्धेयता की कोटि तक नहीं पहुँचता। अपनी तुलनाओं को अधूरा छोडकर दोलारूढ मन से वे एक विषय से दूसरे की ओर भागते हैं। सिन्धु-सम्यता की अर्वाचीनता मे जो प्रमाण उन्होंने दिये है वे ऐसे दुर्बल और असम्बद्ध हैं कि उनसे उनके पक्ष की पुष्टि नही होती। अपनी प्रौढ दशा मे जब सिन्धु-सम्यता मोहेंजो-दडो के सातवें स्तर मे प्रकट होती है तो वह पहले ही पूर्ण-रूप से विकसित है। इसमें सिन्धु युग के शिल्पियो और कलाकारो की अलौकिक प्रतिभा का प्रतिविम्ब एवं सामाजिक, धार्मिक और कला-विषयक रूढियों का विचित्र समन्वय है जिसकी तुलना अन्यत्र कही नही मिलती। इसका व्यापक क्षेत्र एक हजार मील लम्बा और चार सौ मील चौड़ा सिन्धुनद का मनोहर काठा था जो संसार की अति प्राचीन मिश्र और बाबल की सम्यताओ के संयुक्त क्षेत्र से भी अधिक विस्तृत था। सिन्धुनद की बलवती धारा की तरह इस सम्यता का ओजस्वी प्रवाह डेढ़ हजार वर्ष तक अपनी चिरतन रूढियो और विलक्षणताओ को संग लिये अविच्छिन्न रूप से बहता रहा। सिन्धु-सम्यता की इस सदानीर अखण्ड धारा की तुलना जब हम बलूचिस्तान की झोब, कुल्ली आदि क्षुद्र ग्राम-संस्कृतियों से करते हे तो ये सस्कृतियाँ पकिल पल्वलो की तरह प्रतीत होती है। इस प्रसग में प्रो० चाईल्ड लिखते हैं कि "यह जानना अत्यावश्यक है कि क्या बलूची संस्कृतियाँ सिन्धु-सम्यता की जननी थी अथवा उसके उत्तरकालीन अवनत-रूप की छायामात्र थी।" प्रमाणो के आधार पर कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त दो विकल्पों में से दूसरा अधिक संगत है।

खुदाई का साक्ष्य—मोहेंजो-दड़ो के सातवें स्तर में सिन्धु-सम्यता की जो प्रौढ झलक मिलती है वह प्रारम्भिक राजावली काल की सुमेरियन-सम्यता के प्रदोषन. समान है। प्रश्न उठता है कि ऐसी प्रौढ दशा तक पहुँचने के लिये इसे कितना समय लगा होगा। शैशव से किशोरावस्था और किशोरावस्था से प्रौढता प्राप्त करने के लिये मार्शल के विचार में कम से कम एक सहस्र वर्ष का समय चाहिये। वे अपनी समालोचना मे इस प्रकार लिखते हैं—

"इस सम्यता के विकास के लिये एक लम्बे समय की कल्पना करनी अनिवार्य है। परिपक्व नागरिक जीवन, विशाल भवन मंदिरादि विविध शिल्प-कलाएँ नाना रूप

कुम्भकला, उत्कीर्ण पाषाण मुद्राएँ, सरल चित्राक्षरों से जटिल सिन्धु लिपि का क्रमिक विकास आदि इस सभ्यता की प्रगति के प्रधान लक्षण हैं। मेरे विचार में इस प्रगति के लिये एक हजार वर्ष भी थोड़ा ही समय होगा।" मार्शल महोदय का यह अनुमान मनमानी कल्पना नहीं है किन्तु तथ्यों पर आश्रित पुरातत्त्ववेत्ताओं का क्रियात्मक अनुभव है। स्मरण रहे कि सिन्धु-सभ्यता इस प्रौढ़ दशा में कहीं विदेश से उखाड़ कर इस भूमि में नहीं लगाई गई। यह देश की उपज थी, जैसा कि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के टीलों की स्तर-परीक्षा से स्पष्ट प्रतीत होता है। यह यहीं पैदा हुई, फूली-फली और अन्त में इसी भूमि की गोद में समा गई।

सन् १९४६ के पहले की खुदाई का साक्ष्य—जब हम डा० ह्वीलर की खुदाई का पहली खुदाई के आलोक में अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट मालूम होता है कि टीला 'एबी' पर जब प्राकार बनाया गया तो टीला 'एफ' तथा अन्य निचले क्षेत्रों में मनुष्य जीवन समाप्त हो चुका था। इस समय केवल 'एबी' और 'ई' दो ऊँचे टीलों पर ही आबादी थी। इस दशा में डा० ह्वीलर के 'दुर्ग शासन' की कल्पना करना असम्भव है[1]। वत्स महोदय के विचार में टीला 'एफ' में नीचे के पाँच स्तर मोहजो-दड़ो से पहले के हैं। उनका यह विचार अज्ञात स्तर-रचना और अज्ञात क्षुद्राकार मुद्राओं के साक्ष्य पर आश्रित है। इस भाँति की एक भी छोटी मुद्रा अभी तक मोहेंजो-दड़ो में नहीं मिली। सम्भवतः ये छोटी मुद्राएँ सिन्धु-सभ्यता के शैशव-काल की वस्तुएँ थीं, और खुदाई करने पर शायद मोहेंजो दड़ो के उन स्तरों में मिल जाएँ जो अभी जलमग्न हैं।

मार्शल के द्वारा निर्धारित सिन्धु-सभ्यता की तिथि उस अंश में ठीक है जहाँ तक कि इस सभ्यता के आरम्भ काल का प्रश्न है। मोहजो-दड़ो के सात उत्खात स्तरों और हड़प्पा के लिये उन्होंने जो ऊपर की सीमाएँ नियत की हैं वे यथाक्रम ईसा पूर्व ३२५० और चौथी सहस्राब्दी का पूर्वार्ध हैं। हड़प्पा के लिये सीमा बढ़ाने का कारण यह था कि इसके पाँच स्तर, जिनमें छोटी मुद्राएँ मिलीं, मोहजो दड़ो से पहले के थे। परन्तु गत वर्षों में मेसोपोटेमिया में जो अनुसन्धान हुआ है उसके आलोक में सिन्धु-सभ्यता के अन्तकाल की सीमा में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। सार्गान के समय की सिन्धु मुद्राएँ तथा टीला असमर से प्राप्त वस्तु समुदाय प्रकट प्रमाण हैं कि तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त तक सिन्धु देश और मेसोपोटेमिया में परस्पर वाणिज्य सम्बन्ध था। हमें यह भी ज्ञात है कि सिन्धु-सभ्यता के अन्तिम काल में कुछ विजातीय लोग, जिनके अस्थि शेष कब्रिस्तान 'एच' में उपलब्ध हुए, हड़प्पा आकर बस गये थे। मोहेंजो-दड़ो के नष्ट हो जाने के बाद भी ये लोग वहाँ दो सौ वर्ष के लगभग रहे।

१. एन्शेंट इण्डिया नं० ३, पृ० ७६।

इसलिये हड़प्पा के जीवन-काल की निचली सीमा १८०० ई० पू० के लगभग पहुँच जाती है। अतः सिन्धु-सभ्यता के पूर्वोक्त दोनों केन्द्र-नगरों का काल-मान इस प्रकार बैठता है—

मोहेंजो-दड़ो—(सात उत्खात स्तरों के लिये)—३२५० ई० पू० से २००० ई० पू० तक।

हड़प्पा—चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध से १८०० ई० पू० तक।

पिगट का दावा है कि आम्री-संस्कृति हड़प्पा-संस्कृति से प्राचीन है, क्योंकि सिंध के दो प्राचीन टीलों में आम्री के कुम्भखण्ड हड़प्पा संस्कृति के स्तर के नीचे पाए गये थे। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि सिन्धु-सभ्यता के दीर्घ जीवन में हड़प्पा की कुम्भ-कला आम्री और लोहरी के स्थानों में किस समय पहुँची। इन दोनों टीलों में हड़प्पा के कुम्भखण्ड आम्री संस्कृति के स्तर के नीचे दबे हुए थे। परन्तु सिन्ध के दूसरे दो टीलों—गाजीशाह और पंडीवाह—में ये आम्री के कुम्भखण्डों से मिश्रित मिले थे। स्मरण रहे कि आम्री और सिन्ध के दूसरे प्राचीन स्थान केवल कृषिजीवियों की छोटी छोटी बस्तियाँ थी, जब कि सिन्धु-सभ्यता एक व्यापक सत्ता के रूप में उत्तरी भारत के विस्तृत भू-खण्ड पर व्याप्त थी। मोहेंजो-दड़ो के सातवें स्तर में जब यह प्रकट होती है तो पहले ही प्रौढ़ है और इसकी जड़ इस स्तर के बहुत नीचे तक फैली हुई है। सिंधु घाटी में यह १५०० वर्ष तक फूली और फली। अभी हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं जिससे अनुमान लगाया जा सके कि इसका प्रभाव दूरस्थ बलूचिस्तान और सिन्ध की कृषिजीवी जातियों में कब पहुँचा। हो सकता है कि आम्री और लोहरी में यह प्रभाव सिन्धु-सभ्यता के मध्यकाल में पहुँचा हो। अतः यह निष्कर्ष निकालना अनुचित है कि समूची सिन्धु-सभ्यता ही आम्री-संस्कृति के बाद की थी। जब तक आम्री-कुम्भ-कला के खण्ड हड़प्पा अथवा मोहेंजो-दड़ो के खण्डहरों में सिन्धु-कुम्भकला के नीचे दबे हुए नहीं मिलते यह मान लेना असंगत होगा कि आम्री-संस्कृति सिन्धु-सभ्यता से प्राचीन है।

पिगट के इस विचार का अनुमोदन करना भी कठिन है कि कुल्ली पत्थर की शिल्पकला का केन्द्र था। यह भी असम्भव है कि मेसोपोटेमिया के प्राचीन खण्डहरों से प्राप्त पत्थर की संदूकचियाँ मोहेंजो-दड़ो से नहीं अपितु मकरान से वहाँ भेजी गई थीं। प्रारम्भिक राजावली काल के सुमेर का मोहेंजो-दड़ो से सीधा वाणिज्य-सम्बन्ध था। सिन्धु राज्य अरब सागर तक फैला हुआ था और तटीय सामुद्रिक व्यापार का नियंत्रण इसके शासन में था। खड़िया पत्थर की खण्डित संदूकची (डिब्बा) जो मोहेंजो-दड़ो में २८.२ फुट की गहराई पर मिली थी सिन्धु-सभ्यता के इतिहास में बहुत पुरानी वस्तु है और इसकी तिथि सुगमता से ई० पू० २८०० वर्ष तक पहुँच जाती है। इससे पता

चलता है कि पाषाण शिल्पकला का केन्द्र मकरान नही किन्तु सिन्धु प्रान्त था। मोहेंजो-दड़ो की खुदाई मे जितना भी खड़िया पत्थर मिला वह राजपुताना की खानो की उपज था, क्योकि यही खानें इस पत्थर का निकटतम उत्पत्ति-स्थान हैं[1]। सिन्धु सभ्यता के पूर्वोक्त केन्द्र-नगरो से जितनी मुद्राएँ अथवा पत्थर के बर्तन मिले वे प्राय इसी पत्थर के बने थे। निर्जल और दुर्गम पहाड़ी इलाके मे स्थित होने के कारण कुल्ली इस कला का केन्द्र नही हो सकती। कुल्ली की स्त्री मूर्तियाँ इतनी बेढब और बडौल नही दीखती जितनी कि सिन्धु प्रान्त की। दूसरी बात यह है कि उनकी बनावट म झोब और सिंधु की कला विलक्षणताओ का मिश्रण होने से कुल्ली की स्त्री-मूर्तियाँ कला-सकरता का एक रोचक उदाहरण है। सिन्धु-सभ्यता की पशुमूर्तियाँ (खिलौने) कला-दृष्टि से बहुत साधारण और कुरूप हैं। रेखा-चित्रित सुडौल कुल्ली के खिलौनो से उनका बहुत कम सादृश्य है। कुल्ली का कास्य दर्पण जिसकी मूठ स्त्री की आकृति की है एक उत्कृष्ट कलाकृति है और सिन्धु-सभ्यता के अलकरणहीन सादे दर्पणो का यह उत्तरकालीन उन्नत रूप है।

सिन्धु-सभ्यता और नाल—नाल निस्सन्देह हड़प्पा के बाद का है। यहाँ सिन्धु-सभ्यता के जो अश मिले वे इस सभ्यता के ह्रास-काल के थे। इसका समर्थन नाल से प्राप्त उलझे हुए वृत्त, पीपल की पत्तियाँ आदि अभिप्रायो और पत्थर के तोल, गोल मनके आदि वस्तुओ से होता है। नाल मे ईरानी शैली की पाषाण मुद्राएँ बहुतायत से मिली थी, परन्तु सिन्धु-सभ्यता की एक भी मुद्रा हस्तगत नही हुई। मालूम होता है कि कुल्ली और नाल की बस्तियो का सिन्धु-सभ्यता से साक्षात् सम्बन्ध नही था। हड़प्पा की कला-कृतियाँ कुल्ली मे अवश्य किसी माध्य के द्वारा पहुँची होगी।

सर आरल स्टाईन कुल्ली को झोब से अर्वाचीन और नाल से प्राचीन मानते हैं। इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि डबरकोट और सुतकजडोर नामक झोब सस्कृति के टीलो मे झोब और सिन्धु सस्कृतियो के अवशेष समकालीन स्तरो मे पाए गये थे। इससे स्पष्ट है कि अपने प्राचीनतम-रूप मे सिन्धु सभ्यता झोब की समकालीन और कुल्ली से प्राचीन थी। पिगट का तर्क है कि वलिपात्र, पीपल की पत्तियाँ, पेड आदि हड़प्पा की विलक्षणताएँ कुल्ली मे उसके ह्रास काल म पहुँची थी। परन्तु आपत्ति यह है कि पीपल का पेड कुल्ली की प्राचीनतम अग्निवर्ण कुम्भकला पर भी मिलता है। कुल्ली मे उपलब्ध 'पीपल-का-पत्ता' अभिप्राय अवास्तविक है। निस्सन्देह यह हड़प्पा के अभिप्राय का उत्तरकालीन विकृत रूप है। इसी प्रसग मे पिगट पुन लिखते हैं कि कब्रिस्तान-'एच' के बर्तनो पर बने हुए पशु निस्सन्देह कुल्ली के बर्तनो पर चित्रित

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइजेशन, भाग २, पृ० ६७६।

पशुओं की अनुकृति है। कुल्ली और कब्रिस्तान-'एच' में यह सादृश्य स्पष्ट बतलाता है कि कुल्ली कब्रिस्तान-'एच' की तरह सिन्धु-सभ्यता के ह्रासकाल की संस्कृति थी।

हिसार और अनौ के तीसरे स्तर के काल-निर्णय के विषय में पिगट का मेक्-कौन से जो मतभेद है वह प्रधानतः इस भ्रम पर आधारित है कि सिन्धु-सभ्यता उत्तर कालीन है। पश्चिमोत्तरी भारत का साक्ष्य, जो उसने अपने भ्रान्त सिद्धान्त के समर्थन में उपस्थित किया है, उसकी अपनी सम्मति में भी अधूरा और सशयित होने के कारण अश्रद्धेय है। उदाहरणतः, कुन्तल-शीर्षक सूइयाँ जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में मिलीं भारतीय कलाकृतियाँ थीं, न कि विदेशीय। इस प्रकार चन्हुदड़ो की सूई जो झूकर-स्तर से उपलब्ध हुई, निस्सन्देह मोहेंजो-दड़ो की सूइयों की अनुकृति थी। परन्तु पिगट महोदय भ्रम से भारतीय सूइयों को विदेशीय कलाकृतियाँ बतलाते हैं। उनका यह भ्रममूलक प्रमाण मेक्-कौन के हिसार-विषयक काल-निर्णय पर किसी प्रकार बुरा प्रभाव नहीं डालता। हिसार के टीले में कई एक भारतीय कलाकृतियाँ निचले स्तरों में पाई गई थीं जिनसे भारत और ईरान के बीच राजावली काल और उससे भी पहले का सम्पर्क सिद्ध होता है। इस साक्ष्य का पिगट ने ठीक मूल्य नहीं आँका। उदाहरणतः, हिसार में एक गोल शलाका-मुद्रा जिस पर बैल की मूर्ति कोरी है, मिली थी जिसे पिगट "सदिग्ध सिन्धु-सभ्यता की वस्तु" बतलाते हैं[१]। पुनः सिन्धु-सभ्यता की 'लड़ियों वाली मणि-मालाएँ' जिनमें विछेदक मनके (फलक ३८, ड) लगे हुए हैं हिसार के निचले स्तरों में मिली हैं। हिसार से प्राप्त अनेक भारतीय कलाकृतियाँ पिगट के मत में सिन्धु-सभ्यता के अन्तिम काल की वस्तुएँ हैं। पूर्वोक्त प्रमाणों से प्रतीत होता है कि चौथी सहस्राब्दी ईसा पूर्व ईरान और सिन्धु देश में परस्पर वाणिज्य अथवा यातायात सम्बन्ध अवश्य था। इसी प्रकार भारत और मेसोपोटेमिया के बीच इसी काल के प्राचीन सम्पर्क को भी पिगट ने यथार्थ नहीं समझा है। उनका यह कहना कि मेसोपोटेमिया में उपलब्ध राजावली काल की भारतीय वस्तुएँ जैसे कूबड़ वाले बैल आदि की आकृतियाँ सम्भवतः सीधी कुल्ली प्रान्त से आई थी, न कि सिन्धु प्रान्त से, नितान्त हास्यास्पद है। मैं उनसे यह पूछना चाहता हूँ कि क्या "बैल-और-टोकरा" अभिप्राय, जो बगदाद के पास दयाला क्षेत्र में मिला था और जिसकी तिथि चौथी सहस्राब्दी ई० पू० है, भी कुल्ली से ही लिया गया था? क्या कुल्ली संस्कृति के एक भी खण्डहर में ऐसा अभिप्राय कहीं मिला है? परन्तु सिन्धु-मुद्राओं पर यह बहुत साधारण है। इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि सुमेरियन लोगों ने यह अभिप्राय

---

१. पिगट महोदय ने कारण नहीं बतलाया कि यह मुद्रा क्यों सदिग्ध सिन्धु-सभ्यता की वस्तु है।

कुल्ली से नहीं किन्तु सिन्धु प्रान्त से प्राप्त किया था।

सिन्धु-सभ्यता से कुल्ली संस्कृति प्राचीन नहीं—कुल्ली को सिन्धु-सभ्यता से प्राचीन बतलाना दुराग्रह मात्र है। कुल्ली मे सिन्धु तथा अग्नि वर्ण शैली की कुम्भ-कलाओं पर 'बलि-वेदिका' और उसके साथ बँधा हुआ थूथनवाला बैल पाया जाता है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि कुल्ली-संस्कृति मे 'बलि-वेदिका' अभिप्राय कहाँ से आया? मेसोपोटेमिया की अग्निवर्ण कुम्भकला से इसे नहीं लिया गया क्योंकि उस पर इसका अशेषतः अभाव है। न ही यह कुल्ली की किसी अन्य वस्तु या मुद्रा पर मिलता है। कुल्ली-संस्कृति इस अभिप्राय के प्रादुर्भाव तथा प्रयोजन पर कोई प्रकाश नहीं डालती। इसके विपरीत सिन्धु-सभ्यता मे हमे इस अभिप्राय के क्रमिक विकास और इतिहास का सुसम्बद्ध परिचय मिलता है। सिन्धु-सभ्यता के एकशृंग और अश्वत्थ-देवता से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्या सिन्धुकालीन 'बलि-वेदिका' भी कुल्ली से ही ली गई थी? यह सम्भव नही। यदि ऐसा होता तो कुल्ली में वेदिका के साथ एक शृंग की बजाय बैल का सम्बन्ध क्यो जोड़ा जाता। कुल्ली तथा कुल्ली-संस्कृति के अन्य खडहरो मे एकशृंग का एक भी चित्र क्यो नही मिला। प्रतीत होता है कि यह अभिप्राय कुल्ली के लोगो ने सिन्धु सभ्यता से प्राप्त किया था, और यह आदान-प्रदान उस समय हुआ जब इस चिह्न का संकेतार्थ अशेषतः विस्मृत हो चुका था।

पिगट के विचार मे कोयटा की कुम्भकला के सम्बन्ध मे इतना थोड़ा ज्ञान है कि उससे पश्चिमोत्तरी भारत की अन्य कुम्भकलाओं की तुलना करना निरर्थक है। इस अज्ञान-दशा मे यह कहना कि कोयटा की कुम्भकला भारत की मटियाली कुम्भ-कलाओं मे प्राचीनतम है भ्रान्तिजनक है। उनका यह कहना कि कोयटा के अनन्तर आम्री की कुम्भकला का स्थान है जो अपने अन्तिम काल मे नुंदारा की प्रारम्भिक कुम्भकला से सम्बद्ध है, और भी भ्रान्तिजनक है। वह नाल की कुम्भकला को दो भेदो मे विभक्त करते हैं—(१) प्राचीन रूप जो नुंदारा की कुम्भकला मे झलकता है, और (२) उत्तरकालीन रूप जिस पर बहुवर्ण चित्र बने हुए हैं। एक ओर तो नुंदारा की कुम्भकला का सादृश्य आम्री से दिखलाया गया है और दूसरी ओर कुल्ली से परन्तु दोनो ओर यह सादृश्य अधूरा ही रह जाता है।

पूर्वोक्त संदिग्ध और अधूरे सादृश्यो के आधार पर पिगट महोदय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णयो पर उतर आते हैं। उनके अनुसार कोयटा, आम्री और झोब संस्कृतियाँ हड़प्पा से पहले की हैं और आम्री अपने अन्तिम काल मे नुंदारा और कुल्ली को प्रभावित करती है। वह कुल्ली के प्रारम्भिक काल को हड़प्पा से प्राचीन परन्तु अन्तिम काल को इसका समकालीन बतलाते हैं। नाल को प्रायः हड़प्पा का समकालीन और

अंशतः उत्तरकालीन। सिन्धु-सभ्यता और बलूचिस्तान की संस्कृतियों के बीच निरालम्ब और सदिग्ध सादृश्यों की हवाई नीव पर वे गम्भीर सिद्धान्तों की मायापुरी का निर्माण करते हैं। अतः पिगट अथवा डा० व्हीलर के इस निर्णय को मानना कठिन है कि सिन्धु-सभ्यता राजावली काल के मध्य (लगभग २८०० ई० पू०) में उत्पन्न हुई और १५०० ई० पू० के आस-पास आर्यजाति के आक्रमणों से नष्ट हो गई।

७

धर्म और धार्मिक कथानक

उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर यह निर्विवाद है कि धर्म, सस्कृति तथा जातीयता के विषय मे हडप्पा और मोहेंजो-दडो के लोग एकसमान थे । 'मोहेंजो-दडो एण्ड दि इडस वैली सिविलाइजेशन' नामक अपनी पुस्तक मे मार्शल महोदय ने इनके धर्म पर विद्वत्तापूर्ण समालोचना की है। वे प्रमाण जिनके आधार पर सिन्धु सभ्यता के सक्षिप्त इतिहास का सकलन हो सका है केवल छोटी-छोटी वस्तुएँ है, जैसे मुद्राएँ, मुद्राछापें, ताँबे की लेखाकित पट्टियाँ, मिट्टी और पत्थर की मूर्तियाँ आदि। इनके अतिरिक्त दो ऐसे वास्तु जो सम्भवत देवस्थान हो सकते हैं, भी सिन्धु के काठे मे प्रकाश मे आए हैं। ये देवस्थान प्राकार-परिवृत पीठ-मन्दिर प्रतीत होते हैं। इनमें से एक हडप्पा मे और दूसरा मोहेंजो-दडो मे है। दोनो सबसे ऊँचे टीलों के शिखरो पर स्थित हैं। इन टीलो के आधुनिक नाम क्रमश टीला 'ए-बी' और 'स्तूप-टीला' हैं। दोनो खडहरो से उत्खात वस्तु-सामग्री के परस्पर सापेक्ष होने के कारण हडप्पा के वर्णन प्रसग मे मुझे स्थान-स्थान पर मोहेंजो-दडो की उपलब्धियो का भी उल्लेख करना पडा है।

मार्शल की सम्मति मे सिन्धु काल का सबसे प्रधान देवता मातृदेवी[1] थी जिसकी असख्य मृण्मय मूर्तियाँ हडप्पा और मोहेंजो-दडो की खुदाई से प्राप्त हुई हैं। अधिकाश वे स्थान-मुद्रा मे हैं और कटिवस्त्र के बिना उनका शेष शरीर नग्न है[2]। उनके सिरो पर पखे अथवा तोरण के आकार का ऊँचा शिरोवेष्टन और गले मे कई लडी के हार तथा मालाएँ हैं (फलक १७, क)। उनकी भुजाएँ प्राय शरीर के समानान्तर घुटनो तक लटकती हैं। परन्तु कई मूर्तियाँ भुजाएँ उठाकर हाथो से शिरोवेष्टन को छू रही हैं मानो अभिवादन कर रही हो (फलक १७, ख)। इस देवी की मूर्तियाँ बलूचिस्तान तथा झोब नदी की घाटी मे भी मिली है और उनकी वेदी भी दिखती है। झोब की मूर्तियों के सिरो पर टोपी की तरह आवरण (फलक १७, ग) और कुल्ली की मूर्तियो

---

१ मार्शल के विचार मे सिन्धु-देवताओ मे नारी अश प्रधान था। मेरी अपनी धारणा है कि सिन्धु-काल मे नारी अश नही किन्तु पुरुष-अश प्रधान था।

२ यह कटि-वस्त्र 'कौनक' नामक उस कटिवस्त्र से मिलता है जो राजावली-काल के सुमेरियन लोग पहनते थे।
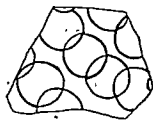
फलक १७. तथाकथित मातृदेवी की व्यंजक मूर्तियाँ

के गलो मे हार और मालाएँ है (फलक १७, घ) जो आकार मे मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० ४२० पर खुदे हुए त्रिमुख शिव के वक्षस्थल पर पहने हुए कवच के समान हैं। इन मूर्तियों के चेहरे घोराकृति, आँखें धँसी हुई और मुख विकराल हैं। मातृदेवी की प्रतिकृतियाँ पश्चिमी एशिया और भूमध्य सागर के पूर्वी तट के पास वाले द्वीपो मे सर्वत्र पाई गई हैं। विशेषत इलम, मेसोपोटेमिया, लघु-एशिया, सीरिया और फलिस्तीन के प्रदेशों मे, उसकी पूजा भिन्न-भिन्न रूपो तथा नामो से सिन्धुनद से लेकर नीलनद तक प्रचलित थी। परन्तु इसने कही भी इतना व्यापक तथा सार्वदेशिक रूप धारण नही किया जितना कि भारत मे, जहाँ वह समष्टि-आत्मा (पुरुष) की अर्धांगिणी रूप से ब्रह्माण्डसत्ता (प्रकृति) की पूर्व-रूप थी। उत्तरकालीन शक्ति-पूजा के मूल मे इसी सिन्धुकालीन मातृदेवी की पूजा थी। मार्शल की सम्मति मे आर्यजाति ने मातृदेवी की उपासना भारत के आदिवासियो से सीखी और इसे अपने धर्म का अग बना लिया। वे लिखते हैं कि वैदिक काल मे पुरुष-लिंग देवताओ का स्थान प्रधान और स्त्री-लिंग देवताओ का गौण था[1]। इस विचार की पुष्टि मे वह हडप्पा की मुद्रा न० ३०४[2] (फलक १७, ङ) के साक्ष्य का प्रमाण देते है। उनकी व्याख्या के अनुसार इस मुद्रा के एक ओर एक नग्न स्त्री शीर्षासन मुद्रा मे पौधे को जन्म दे रही है। दूसरी ओर भूदेवी के उपलक्ष मे नरबलि का दृश्य है जिसमें एक मनुष्य हाथ मे कटार लिये एक असहाय स्त्री का गला काटने को उद्यत है (फलक १७, ङ १)। वह इस दृश्य की तुलना भीटा की मुद्राछाप[3] (फलक १७, च) से करते हैं जिसमे एक देवी टागें फैलाए इसी मुद्रा मे बैठी है, परन्तु कमल का पौधा उनके गर्भ से नही किन्तु गले से निकल रहा है।

हडप्पा की मुद्रा पर दिए हुए दृश्य की व्याख्या के विषय मे मार्शल से मेरा मतभेद है। मेरे विचार मे मुद्रा के दोनो ओर उन भीषण नरक-यातनाओ का चित्रण है जो उस समय के लोगो की धारणा के अनुसार पापी मनुष्य परलोक मे भोगते थे।

---

१. मातृदेवी अथवा भूदेवी की उपासना वैदिक काल मे भी थी। ऋग्वेद-काल से लेकर आर्य इसे सकल सृष्टि की बीज-रूप मौलिक ब्रह्माण्ड सत्ता के रूप मे मानते चले आए हैं। पहले वह द्यौ के सहित पृथ्वी (द्यावापृथ्वी) के रूप मे फिर अदिति के रूप मे और अनन्तर पुरुष के सग प्रकृति के रूप मे प्रकट होती है। उत्तरकालीन आर्य-साहित्य मे वह 'शक्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। दुर्गा, काली, गौरी आदि उसके विविध भावमय रूप है।

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, फलक ९३।

३. भारत पुरातत्त्व विभाग की सन् १९११-१२ की वार्षिक रिपोर्ट, फलक २३, ४०।

उलटी लटकी हुई स्त्री मातृदेवी नहीं हो सकती क्योंकि उसके गर्भ से जो वस्तु निकलती दिखाई देती है वह पौधा नहीं है, और न ही इसका कोई कारण दिखाई देता है कि पौधे को जन्म देने के लिए उसे उलटा लटकने की क्या आवश्यकता पड़ी। भीटा की छाप पर देवी आसीन मुद्रा में सीधी बैठी है, शीर्षासन मुद्रा में नहीं। दूसरी बात यह है कि जिसे उन्होंने पौधा समझा है वह वस्तुत: विच्छू जैसा कोई विषैला कीट या किसी प्रकार का कंटीला यातना-यन्त्र है। मुद्रा के इसी ओर बाएँ किनारे पर दो बाघ पिछली टाँगों पर एक दूसरे के सम्मुख खड़े हैं, जो सम्भवतः पशु रूप में यमलोक के दूत अथवा दानव हैं। शायद ये वही व्याघ्र है जिन्हें मोहेंजो-दड़ो की दो मुद्राओं पर गिलगेमेश के समान एक दिव्य वीर गले से पकड़कर पछाड़ रहा है (फलक १९, छ) दूसरी ओर का दृश्य, जिसमें एक मनुष्य हाथ में कटार लिये एक स्त्री पर आक्रमण कर रहा है, भी परलोक-यातना का ही दृश्य हो सकता है। सम्भव है कि दोनों स्त्री मूर्तियाँ जो मुद्रा के आगे-पीछे बनी हैं एक ही व्यक्ति हो जिसे भिन्न-भिन्न पाप-कर्मों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की यातना दी जा रही हो।

पुरुष-लिंग देवता—मार्शल के मतानुसार मातृदेवी से उतरकर एक पुरुष-लिंग देवता था जो मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ४२० पर योगासन मुद्रा में विराजमान दिखाई देता है[1] (फलक १८, क)। इस देवता को त्रिमुख कहा गया है। इसके सम्बन्ध में उनकी यह भी सम्मति है कि कंधे से कलाई तक कंगणों से लदी हुई उसकी भुजाएँ इस प्रकार तनी हैं कि हाथों के अँगूठे घुटनों को छू रहे हैं। त्रिभुज आकार के हार अथवा उरस्त्राण की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि "यह उरस्त्राण जो देवता धारण कर रहा है उस कवच से सादृश्य रखता है जिसकी शरण शाक्तों ने आसुरी शक्तियों का निवारण करने के लिये ली थी। देवता के शरीर का निचला भाग नग्न है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह ऊर्ध्वमेढ्र है। अथवा हो सकता है कि जिसे हम मेढ्र समझते हैं वह वस्तुतः कटिसूत्र का किनारा हो। देवता के सिर पर सींगों वाला ऊँचा मुकुट है। उसके दाएँ और बाएँ दो-दो पशु हैं जिनमे हाथी और बाघ दाईं ओर तथा गेंडा और भैंसा बाईं ओर हैं। उसके आसन के नीचे दो हिरण आमने-सामने खड़े मुड़कर पीछे की ओर देख रहे हैं। देवता की शरीर-रचना विलक्षण है। उसके तीन मुखों का शायद यह अभिप्राय है कि वह त्रिदेव का प्रतीक है अर्थात् हिन्दू त्रिमूर्ति के समान एक शरीर में तीन देवताओं का समावेश है अथवा देवता चतुर्मुख है। उसका चौथा मुख सिर के पीछे होने के कारण दृश्य नहीं है। ऐसी दशा में वह सम्भवतः

१. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेंजो-दड़ो, ग्रन्थ ३, फलक ९४।

फलक १८. महिष-मुंड देवता और उसके व्यंजक अन्य चित्र

पहने हुए हैं, के बढे हुए किनारे हैं (फलक १८ क)। देवता के महिष मुंड होने का समर्थन उस दृश्य से भी होता है जो मोहेंजो-दड़ो की एक मुद्रा[1] पर उत्कीर्ण है (फलक २७, ३)। इसमें प्राकार-वेष्ठित देवद्रुम के सामने एक यूप है जिसके शिखर र सींगवाला महिषमुंड प्रतिष्ठित है। सींगों के मध्य में शिखण्ड के समान उतरती ई पीपल की शाखा देवत्व का चिह्न है[2]। यूप के शिखर पर महिषमुण्ड के होने का त्पर्य यह है कि महिषमुण्ड देवता देवद्रुम का अधिष्ठातृ-देवता होने के कारण सका संरक्षक था। यह देवद्रुम जीवन-तरु माना जाता था। वे भाग्यवान् जो इनकी खा को अपने सिर पर धारण करते थे अमर और अजय हो जाते थे। पूर्वोक्त रदीवारी के बाहर और महिषमुण्ड देवता की संरक्षकता में एक पुरोहित यज्ञवृषभ र से फांद रहा है। ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि इस देवता का सींगोंवाला कुट मुद्रा नं० ३८७ पर अंकित पीपलवृक्ष की प्रतिकृति है। महिषमुण्ड-देवता के ुट में पत्ते के आकार का शिखण्ड इसी मुद्रा पर अंकित पीपल वृक्ष के छत्राकार छद का अनुकरण है और भैंसे के सींग एकशृंग के सिरों का यथातथ्य अनुकरण हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की कई मुद्राओं पर एक देवता दो फाँक पीपल के अन्दर दिखाया गया है (फलक १९, क)। और मोहेंजो-दड़ो मुद्रा नं० ३८७ पर इसी की रक्षा दो-एक शृंग कर रहे हैं (फलक १८, ड)[3]। इससे स्पष्ट है कि पीपल एकशृंग अश्वत्थ-देवता के प्रतीक थे। फलत वह देवता जो अश्वत्थ और एक दो दिव्य अंशों से संगठित मुकुट अपने सिर पर धारण करता था अवश्य ही

चतुर्मुख महेश का पूर्वरूप था। त्रिदेव-कल्पना भारत मे बहुत पुरानी है और मेसोपोटेमिया में तो यह इससे भी पुरानी है क्योंकि वहाँ 'अनु', 'एन्लिल' और 'ई' अथवा 'सिन्', 'शमश' और 'इश्टर' नाम त्रिदेव की भाव-कल्पना अति प्राचीन काल से विदित थी। मोहेंजो-दडो की मुद्राओ पर जो त्रिशिर पशु बने हैं (फलक २०, क)[1] शायद उनके मूल में भी त्रिदेव की ही भाव-कल्पना थी। इस काल्पनिक पशु के तीन सिरो मे एक नीलगाय का, दूसरा एकशृंग का और तीसरा बकरे का है।"

मार्शल पुन. लिखते हैं—"शिव सर्वोत्तम योगिराज है, इसीलिये वह महातपा और महायोगी भी कहलाता है। वह अलौकिक तपस्वी और शरीर-शोषक है। ··· ·· · ··· शैवमत के समान योगक्रिया का आविर्भाव भी भारत की आदिवासी अनार्य जातियों मे हुआ······ ·· ·· शिव केवल योगिराज ही नही किन्तु पशुपति भी हैं, और उसकी इसी स्वाभाविक विलक्षणता के कारण ही इस मुद्रा पर उसे चार पशु घेरे हुए हैं · ··· ···उत्तरकाल मे सिन्धु-सभ्यता के इस त्रिमुख देवता के सिर पर के सींग त्रिशूल के आकार मे बदल गये और इस रूप मे वे शिव का विशेष लक्षण बन गये·························इसलिये इस मुद्रा पर एक ऐसा देवता बना है जिसकी शरीर-रचना उसे ऐतिहासिक शिव का पूर्वरूप घोषित करने में हमें बाध्य करती है[2]।"

पूर्वोक्त उद्धरण मुद्रा नं० ४२० पर अंकित देवता के विषय मे मार्शल की व्याख्या का सारांश है परन्तु मुद्रा के सूक्ष्म परीक्षण के अनन्तर इस सम्बन्ध मे मेरा उनसे बहुत मतभेद है। यह देवता न तो त्रिमुख है और न ही मनुष्य-मुख। इसका शरीर जो प्रकटतः मानुषी दिखाई देता है वस्तुतः कई पशुओं अथवा उनके अवयवों के विलक्षण संयोग से सगठित है। यह मूर्ति भ्रान्ति और प्रतारणा का भव्य उदाहरण है। पशु-मुख के समान लम्बा चेहरा, उभरी हुई तिरछी आँखें, लम्बे कान, आँखों से लेकर थोथनी तक दोनों ओर गहरी झुर्रियाँ, रोमरहित अस्थिमय छोटा-सा सिर—ये सब लक्षण निस्सन्देह इस सत्य के प्रत्यायक हैं कि सिर पशु का है। और फिर सिर पर कुटिल विशाल सींग जो स्पष्ट रूप से भैंसे के हैं इस बात का और भी समर्थन करते हैं कि देवता महिष-मुंड है। पार्श्ववर्ती दो मुखों की भ्रान्ति लम्बे कानों के कारण है जो सरसरी दृष्टि से देखने पर उन्नत नासावंश प्रतीत होते हैं। कानों के नीचे दोनों ओर दो पड़ी रेखाएँ ओठों का भ्रम पैदा करती हैं। वस्तुतः ये रेखाएँ अंग्रेजी लिपि के 'यू' वर्ण के आकार के किसी भूषण अथवा यन्त्र, जिसे देवता ठोड़ी के नीचे

---

१. मार्शल—मोहेजो-दडो एण्ड दि इडस सिविलाइजेशन, ग्रन्थ ३, फलक ११२, ३८२।

२. म[illegible] वही प[illegible] ५[illegible]७५।

पहने हुए हैं, के बढे हुए किनारे हैं (फलक १८ क)। देवता के महिष मुंड होने का समर्थन उस दृश्य से भी होता है जो मोहेजो-दडो की एक मुद्रा[1] पर उत्कीर्ण है (फलक २७, २)। इसमें प्राकार-वेष्ठित देवद्रुम के सामने एक यूप है जिसके शिखर पर सींगवाला महिषमुंड प्रतिष्ठित है। सींगो के मध्य में शिखण्ड के समान उतरती हुई पीपल की शाखा देवत्व का चिह्न है[2]। यूप के शिखर पर महिषमुण्ड के होने का तात्पर्य यह है कि महिषमुण्ड देवता देवद्रुम का अधिष्ठान्त्-देवता होने के कारण उसका सरक्षक था। यह देवद्रुम जीवन-तरु माना जाता था। वे भाग्यवान् जो इनकी शाखा को अपने सिर पर धारण करते थे अमर और अजय हो जाते थे। पूर्वोक्त चारदीवारी के बाहर और महिषमुण्ड देवता की सरक्षकता मे एक पुरोहित यज्ञवृषभ पर से फाँद रहा है। ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि इस देवता का सींगोवाला मकुट मुद्रा न० ३८७ पर अकित पीपलवृक्ष की प्रतिकृति है। महिषमुण्ड-देवता के मुकुट में पत्ते के आकार का शिखण्ड इसी मुद्रा पर अकित पीपल वृक्ष के छत्राकार आच्छद का अनुकरण है और भैसे के सीग एकशृग के सिरो का यथातथ अनुकरण हैं। हडप्पा और मोहेंजो दडो की कई मुद्राओ पर एक देवता दो फाँक पीपल के अन्दर खडा दिखाया गया है (फलक १९, क)। और मोहेजो दडो मुद्रा न० ३८७ पर इसी वृक्ष की रक्षा दो एक शृग कर रहे हैं (फलक १८, ड)[3]। इससे स्पष्ट है कि पीपल और एकशृग अश्वत्थ-देवता के प्रतीक थे। फलत वह देवता जो अश्वत्थ और एक शृग रूपी दो दिव्य अशो से सगठित मुकुट अपने सिर पर धारण करता था अवश्य ही अश्वत्थ-देवता से निम्न कोटि का देवता था।

मार्शल का विचार है कि देवता की भुजायें कधो से कलाई तक कगनो से लदी है। इसमे सशय नही कि यद्यपि स्थूल दृष्टि से वे मानुषी भुजायें दिखाई देती हैं,

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेंजो दडो, ग्र २, फलक १०३, मुद्रा ८।

२ प्राक् वशावली-काल के सुमेरियन देवताओ के मुकुटो मे वन-वृषभ के सीगो के बीच भी देवद्रुम की मगलमय शाखा है। प्रतीत होता है कि शाखा शिखण्ड की वह विलक्षणता सुमेरियन लोगो ने सिंधु-लोगो से ली थी। मेसोपोटेमिया मे यह शाखा-शिखण्ड कुछ समय के लिए अकस्मात प्रकट होता है परन्तु उत्तर-काल मे लुप्त हो जाता है। विपरीत इसके सिंधु सभ्यता में यह विशेषता इसके दीर्घ-जीवन-काल मे निरवच्छिन्न बनी रहती है और 'देवद्रुम-कथानक' से इसका प्रादुर्भाव इस तथ्य का साक्षी है कि यह कल्पना प्रथम भारत मे उत्पन्न हुई।

३ मार्शल—वही, ग्रन्थ ३, फलक ११२, मुद्रा ३८७।

वस्तुत. वे ऐसी नही। ये साक्षात् कनखजूरे हैं जो शरीर के दोनों ओर कंधों से लटक रहे हैं। अपने विचार की पुष्टि में मैं यहां हड़प्पा की मुद्रा नं० २४६[1] (फलक १८, ग) जिन पर नरमुण्ड सकीर्ण पशु उत्कीर्ण है, का उल्लेख करना चाहता हूँ। इस पशु के विपय मे विचित्र बात यह है कि इसकी ठोडी के नीचे हाथी की सूँड की तरह कनखजूरा लटक रहा है। इस प्रकार के विलक्षण योग का तात्पर्य यह था कि सकीर्ण जीव के इस अग मे हाथी के सूँड की प्रहार शक्ति और कनखजूरे की लोक प्रसिद्ध ग्राह-शक्ति का चारू समन्वय किया जाना। यह पशु एक दिव्य दूत था और इसके विषय मे लोगों की साधारण धारणा थी कि यह अलौकिक दैवी-शक्तियो का स्वामी होने के कारण देवद्रुम का बहुत ही उपयुक्त पहरुआ था। मुद्राओ पर खुदी हुई देवमूर्तियो का यदि सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण किया जाए तो पता लगेगा कि इन सबकी भुजायें, जो देखने मे कटीली मालूम होती है, साक्षात् कनखजूरे है। यही कारण है कि बाघों को पछाड़ने वाले गिलगेमेश के समान वीर पुरुष की भुजायें भी साक्षात् कनखजूरे ही है[2] (फलक १९, छ)।

अब महिषमुण्ड-देवता के शरीर के अधोभाग को घ्यानपूर्वक देखिए। टंककार की कला का यह अद्भुत उदाहरण है। इसे देखने से मालूम होता है कि देवता टाँगों को योगासन-मुद्रा मे बाँधकर ध्यान-मग्न बैठा है। परन्तु वस्तुतः टाँगो के स्थान दो लिपटे हुए नाग योगासन का भ्रम पैदा कर रहे हैं। इन नागो के सिर तो देवता के कटि-प्रदेश मे एक दूसरे से सटे हुए हैं और पूँछे देवता के पाँवों के अग्रभागों में समाप्त होती है। शरीर के इस भाग का सर्पमय होने का पता लगाना अत्यन्त कठिन है जब तक कि मूर्ति को उलटा करके न देखा जाय (फलक ३३, च)। ऐसा देखने से नागो के सटे हुए सिर देवता की कटि है और उनके द्विगुणित शरीर उसकी टाँगे हैं। कटि-सूत्र से लटकता हुआ डोरा उल्टा देखने से नागों के सिरो के बीच की विभाजक रेखा बन जाती है और डोरे के मुड़े हुए गोल सिरे नागों की आँखें का बोध कराते हैं। इस देवता के विचित्र सगठन की दूसरी बात इसकी असम्भव आसन-मुद्रा है। वह पीठ को केवल अपने पावों की अगुलियों से ही छू रहा है, शेप शरीर आकाश में निराधार स्थित है। इसके-अतिरिक्त पावों की मुद्रा भी असम्भव है। पाँव सीधे नीचे की ओर तने हैं और अँगुलियां ६०° के कोण पर ऊपर को उठी हैं। यह आसन-मुद्रा स्वभावतः असाध्य है। परन्तु कलाकार ने सम्भवत. यह मुद्रा इसलिए बना दी कि दर्शक को देवता मे अलौकिक चमत्कार के सामर्थ्य का बोध कराना था।

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रन्थ २, फलक ६१।
२. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ६१।

अधोभाग के सर्पमय होने के समर्थन में उस मुद्रा का उल्लेख करना आवश्यक है जिस पर इसी प्रकार का एक और देवता बना है[1] (फलक १८, घ)। यहाँ भी देवता का सिर लजोत्तरा पशु समान ही है, और भुजाओं के सिवाय गले के नीचे सारा शरीर ही दो नागों का अपूर्व समवाय है। साँपों के सिर देवता की छाती में लीन हो जाते हैं परन्तु उनके शरीर देवता की कमर के नीचे दो भागों में विभक्त होकर टाँगों के आकार में बदल जाते हैं। साँपों के सिर कन्धों के ऊपर फिर प्रकट होते हैं और ऐसे दिखाई देते हैं मानो देवता की कनखजूरा-भुजायें इनके जबड़ों से निकल रही हों। इस मुद्रा पर भी देवता निराधार आसन में बैठा है। उसके अनुपातविहीन लम्बे पाँव वस्तुतः नागों की दुमें हैं।

मार्शल का विचार है कि देवता छाती पर एक त्रिभुज के आकार का उरस्त्राण अथवा कवच पहने हुए है। उनके मतानुसार शाक्तों के तान्त्रिक कवच का जन्म भी इसी से हुआ। परन्तु इसे कवच मानने में आपत्ति यह है कि इसका देवता के सकीर्ण शरीर से समन्वय करना कठिन है। सादृश्य के आधार पर यह मानना उचित होगा कि देवता का वक्षस्थल यदि अशतः बाघ का शरीर नहीं तो कम से कम व्याघ्राम्बर से आवृत अवश्य है। यह उस बाघ के धारीदार शरीर से बहुत सादृश्य रखता है जो देवता की दाईं ओर उछल रहा है। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० ३४७[2] (फलक १६, च) पर एक सकीर्ण देवता जिसका शरीर अशतः मानुषी और अशतः बाघ है, अंकित है। इससे पता लगता है कि सिंधुकालीन देवताओं के शरीर में मनुष्य और बाघ का योग अज्ञात नहीं था। पुनः जब हम देखते हैं कि महिषमुण्ड देवता का बाकी शरीर कई जीवों का सघात है तो यह अनुमान लगाना असंगत नहीं कि इसका मध्य भाग भी किसी ऐसे ही पशु-अंश का बना होगा।

शायद उस कुशल कलाकार का, जिसने इस अद्भुत देवमूर्ति को घड़ा, इसके विचित्र शरीर में एक और भयंकर जीव की कल्पना करना भी उद्देश्य था। यदि हम इस देव-शरीर के ऊपर के भाग को जिसमें सिर, सींग और एक भुजा शामिल है, ध्यान से देखें तो बिच्छू के आकार का आभास भी होने लगता है (फलक ३३, छ) परन्तु यह केवल सम्भावना मात्र ही है।

महिषमुण्ड देवता की एक और विलक्षणता यह है कि इसके पीठ की टाँगें साक्षात् कैंकड़े हैं। मुद्रा न० २२२ पर खुदे हुए इसी देवता के पीठ की टाँगें बैल की

---

१. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ६१।

२. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ८७, २२२

३ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ८६।

टाँगें हैं। यह अच्छी प्रकार ज्ञात है कि मिश्र और मेसोपोटेमिया की प्रागैतिहासिक कब्रों से प्राप्त पलगों और पीठों की टाँगें शेर या बैल की टाँगों के समान थी[१]।

अपनी विचित्र भुजाओं और टाँगों के कारण यह देवता सुमेर और बाबल के देवताओं से बहुत सादृश्य रखता है। मेसोपोटेमिया में भी देवताओं और दिव्य वीरों की भुजायें और टाँगें पशुओं के आकार की होती थी। उदाहरणत राजावली-काल की शलाका-मुद्रा पर खुदे हुए एक देवता की टाँगे सिंहाकार (फलक १६, ठ) और नररूप एक दूसरे देवता का सिर और भुजायें सिंह की है (फलक १६, ड)[२] देवताओं के आयुध भी कभी-कभी भीषण जन्तुओं के आकार के होते थे। इष्टर देवी का खड्ग साक्षात् भुजग था (फलक १६, ८) और एक दूसरे देवता का आयुध बिच्छू के आकार का था।

यह बात उल्लेखनीय है कि डा० मेके को मोहेंजो-दड़ो मे महिषमुण्ड देवता वाली जो चार मुद्रायें मिली उनमे से दो मुद्राये ऊपर के और दो निचले स्तरों में पाई गई थी। इससे स्पष्ट है कि सिधु के काठे मे देवताओं को महिषशृंगों से युक्त चित्रित करना अतिप्राचीन काल से व्यवहार में आता था। इस विषय मे सिन्धु-सभ्यता का सुमेरियन सभ्यता से भेदभरा अन्तर है। सार्गान-काल से पहले की देवमूर्तियों और दिव्य वीरों के सिरों पर सर्वत्र वन-वृषभ के सीग है (फलक १५, छ)। भैसे के कही भी देखने मे नही आते। वार्ड महोदय के अनुसार नरमुण्ड-वृषभ और गिलगमेश आदि विचित्र काल्पनिक आकारो की उत्पत्ति मेसोपोटेमिया के जलप्राय दलदलों वाले दक्षिणी प्रान्त मे नही हुई थी किन्तु वनों से आवृत ऊँची अधित्यकाओं में जो वन वृषभ का स्वाभाविक घर था[३]। स्मरण रहे कि मेसोपोटेमिया मे वन-वृषभ के स्थान भैंसे का चित्रण सार्गान के समय (ईसापूर्व २४वी शती) से हुआ। यही विद्वान् लिखता है कि पुरातत्त्वज्ञो का इस बात मे ऐकमत्य है कि भैंसे का मूलस्थान भारत था, क्योंकि नेपाल की तराई, आसाम आदि कई प्रान्तों मे यह पशु अब भी जगली दशा मे पाया जाता है। उनके विचार मे आज से साढे तीन हजार वर्ष पहले १८वी वशावली काल में यह पशु भारत से मिश्र पहुँचा। इसमे सन्देह नही कि भैंसा आरम्भ से भारतीय पशु है। इसका समर्थन, जैसे कि ऊपर दिखलाया गया है, मोहेंजो-दडो के निचले स्तरो से प्राप्त मुद्राओ से होता है। सम्भवतः सार्गान के समय मे अथवा उससे कुछ पहले यह पशु प्रथम बार भारत से मेसोपोटेमिया गया और वहाँ से

१. फ्रैंकफर्ट—सिलिंडर सील्स, पृ० ३७।

२. फ्रैंकफर्ट—वही, फलक ११, मुद्रा ३२।

३. वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया, चित्र २०८, पृ० १५४।

स्थलमार्ग द्वारा १८वीं वंशावली काल में मिश्र पहुँचा। मोहेंजो-दडो के ऊपरी स्तरों को सार्गान के समकालीन सिद्ध करने में यह श्रद्धेय प्रमाण है।

मेरे विचार में सिन्धुकालीन महिषमुण्ड देवता अपनी विलक्षणताओं के कारण वैदिक देवता 'रुद्र' के बहुत निकट है। ऋग्वेद में रुद्र को घोर, प्रचण्ड और असुर के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन आता है कि रुद्र सृष्टि के समस्त भयंकर तथा आसुरी तत्त्वों का संघात है[1]। वेदों में रुद्र को जो 'पशुपति' विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि वह पशुओं पर घातक आक्रमण करता है इसलिए सब पशु उसी की संरक्षकता में छोड दिए गए हैं[2]। वेदों में यह उल्लेख भी मिलता है कि स्वर्ग में नररूप देवता दिव्य पशुजगत् से परिवृत होते हैं[3]। महिषमुण्ड देवता भी कई पशुओं से परिवृत है। उसके दाईं ओर हाथी और बाघ तथा बाईं ओर गैंडा और भैंसा है एवं उसके सिंहासन के नीचे दो हिरण अथवा पहाडी बकरे खड़े हैं।

इस विषय में विद्वानों का ऐकमत्य है कि सिंधु-सभ्यता अनार्य लोगों की कृति थी। मार्शल ने महिषमुंड देवता को ऐतिहासिक काल के पशुपति शिव से एकात्म सिद्ध किया है। परन्तु यह निर्विवाद है कि ऐतिहासिक शिव वैदिक काल के रुद्र का ही रूपान्तर है क्योंकि उसके बहुत से लक्षणों और विशेषणों को यह धारण करता है। स्मरण रहे कि सिंधुवासियों और आर्यों में जो परस्पर सम्पर्क हुए वे वैदिक काल में ही हुए होंगे। उत्तरकालीन सम्पर्कों के कोई प्रमाण नहीं हैं, कारण कि १५वीं शती ई० पू० के अनन्तर सिंधु-सभ्यता अशेषतः लुप्त हो गई थी। बहुमत से यही शती आर्यों के सर्वप्रथम पश्चिमोत्तर भारत में प्रवेश करने की तिथि है। स्वभावतः इन दोनों जातियों में पहले-पहल जो विचार विनिमय अथवा सांस्कृतिक रूढियों का आदान-प्रदान हुआ वह इसी शती के आस-पास हुआ होगा। अतः यही निष्कर्ष युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि सिंधुकालीन महिषमुंड देवता बजाय उत्तर-कालीन शिव के पूर्वकालीन वैदिक रुद्र का ही पूर्वरूप था।

परन्तु यह भी सत्य है कि महिषमुंड देवता कई बातों में वैदिक रुद्र से और कई में ऐतिहासिक शिव से सादृश्य रखता है। सादृश्य के बिंदु ये हैं—(१) देवता का संकीर्ण शरीर जो पशुओं का संघात होने पर भी नररूप है, (२) जंगली पशुओं से साहचर्य, और (३) योगासन मुद्रा। इनमें पहले दो लक्षण रुद्र में पाए जाते हैं

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण, ३, ३३।

२. मेकडानेल—वैदिक माईथालोजी, पृ० ७५।

३. मेकडानल—वैदिक माईथालोजी, पृ० १४८।

और अन्त के दो शिव मे। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, रुद्र का शरीर भी भयंकर तत्त्वो का संघात था और पशुपति रूप में वह पशुओ का स्वामी था। ऐतिहासिक शिव यद्यपि भयंकर तत्त्वों का संघात नही था तथापि उसका पशुओं से घनिष्ट सम्बन्ध है। अपने घोररूप में वह महाकाल है, अर्थात् काल का भी काल। समस्त भूत, प्रेत, पिशाच आदि गण उसके आदेश में है। विषधर मृणाल के समान उसके शरीर से लिपटे रहते हैं। वह व्याघ्राम्बर और कृत्तिबासस् है जिसका तात्पर्य यह है कि वह भयंकर से भयकर जीव की खाल अनायास ही उधेड कर उसे वमन के रूप मे ओढने के समर्थ है। भारत के कुछ प्रान्तो मे यह कहावत चली आती है कि दिवाली के दिन अर्थात् शीतकाल के आरम्भ मे शिव बिच्छू, साँप, कनखजूरा आदि समस्त विषैले जन्तुओ को समेटकर अपने थैले में भर लेता है जहाँ वे छ मास तक कैद रहते हैं, और ग्रीष्मकाल के आरम्भ मे शिवरात्रि के दिन पुन उन्हें थैले से बाहर फैंक देता है। ऐसी दन्तकथाओ का जन्म अवश्य भारत के अति प्राचीन सिंधुयुग मे ही हुआ होगा।

यह असम्भव नही कि सिंधुकाल का महिषमुंड देवता किसी प्रकार महिषासुर कथानक से सम्बन्ध रखता था। शायद समय के अतिक्रम से वैदिक कालोत्तर आर्यो ने इस अनार्य महिषमुड देवता को देवत्व के उच्चासन से हटाकर असुरों की पंक्ति में बिठा दिया हो। हो सकता है कि कालान्तर में इसी घटना से महिषासुर कथानक का जन्म हुआ हो, उस समय जब कि सिन्धु-सभ्यता का प्रभाव और इसकी चिरतन सस्थाओं की स्मृति भी कालगर्भ में लीन हो गई थी।

सिन्धु-सभ्यता का परम देवता—हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो मे जो असंख्य मुद्राएँ और मुद्राछापे मिलीं उनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुमेरियन लोगो की तरह सिन्धु-निवासी भी अनेक देव देवियों की पूजा करते थे। उनके देवता भी भौतिक जगत् के विविध विभागों और विभूतियों, जैसे अन्तरिक्ष, तूफान, बिजली, पंचभूत, पशुपंक्षी, वनस्पति आदि का मूर्तस्वरूप थे। जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, मार्शल के मतानुसार मातृदेवी सिन्धु-सभ्यता का परम देवता थी, परन्तु मेरा अपना विचार है कि सिन्धुकालीन देवगण में नारी-अंश नही किन्तु नर-अंश प्रधान था। अर्थात् मातृदेवी प्रधान देवता नहीं थी अपितु अश्वत्थ-निवासी पुल्लिंग-देवता इस पूज्य पद का अधिकारी था।

कई सिन्धु-मुद्राओं पर एक देवमूर्ति दो फाँग अश्वत्थ-वृक्ष के अंदर खडी दिखाई गई है। यह दो फाँग अश्वत्थ कभी सीधा और कभी तोरणाकार उलटा बना है। सर्वप्रथम मैं यहां मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ४३० का उल्लेख करता हूँ जिस पर यह चित्र स्पष्ट रूप से अंकित है (फलक १६, क)। ऊपर के रिक्त स्थान मे दाएँ

फलक १९. सिन्धुयुग का अश्वत्थ-निवासी परम-देवता तथा अन्य देवता

किनारे पर एक पीपल का पेड़ वृत्ताकार आलवाल से उभर रहा है। इसके अंदर देवता बाईं ओर मुंह किए खड़ा है। देवता के सिर पर त्रिशूलाकार शृङ्गमुकुट है जिसके नीचे सिर के पीछे कृत्रिम चोटी लटक रही है। यह चोटी शमीजाति के देवद्रुम की शाखा है जो मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० २३५ पर खुदी हुई योगमुद्रासीन देवमूर्ति के सिर पर स्पष्ट रूप मे दिखाई देती है[1]। शतपद के आकार की भुजाएँ देवता के शरीर के समानान्तर लटक रही है। वृक्षमूल मे गोल चक्कर जिससे पौदा उभर रहा है या तो बीज कोष है या केवल जलकुंड। यह बीजकोष मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० ३८७ पर बहुत स्पष्ट है। पत्ते वृक्ष के दो-फांग तने के बाहर की ओर ही दिखाए है जिससे पता चलता है कि वृक्ष दो भागों में फट गया है और उसके अन्तर्गत देवता प्रत्यक्ष हो गया है।

देवता के सामने एक देव-पुरोहित अथवा उपदेवता त्रिशूलाकार मुकुट और नकली चोटी पहने अश्वत्थ देवता से प्रार्थना कर रहा है। उसकी आसन मुद्रा उस संरक्षक यक्ष की सी है जो प्रायः व्याघ्र-दानव की घात मे शमीजाति के देवद्रुम पर बैठा हुआ पाया जाता है। उसकी शतपदाकार भुजाएँ प्रार्थना-मुद्रा मे, ऊपर को उठी हैं और उसके बाएँ घुटने के पास एक काष्ठपीठ है जिस पर कुछ बलि रखी हुई है। इस प्रार्थक के पीछे नुकीली नाक और कुटिल सींगों वाला उलूक-मुख बकरा खड़ा है। ऐसा ही पक्षिमुख बकरा मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ६०६ (फलक २४, ग) पर खुदा है। उसका सकीर्ण स्वरूप और अनुपातहीन विशाल शरीर बतलाता है कि वह साधारण यज्ञछाग (बलि का बकरा) नहीं अपितु कोई देवयोनि का पशु अथवा माध्य उपदेवता है जिसका काम पुरोहित अथवा याजक को अश्वत्थ-देवता के समक्ष ले जाना था। समकालीन मेसोपोटेमिया की मुद्राओं पर ऐसे माध्य उपदेवता अकसर पाए जाते हैं।

सात नर-विहंग—मुद्रा के निचले भाग मे सात मनुष्य बाईं ओर को मुंह किये खड़े हैं। इनमें से प्रत्येक का ऊपर का भाग मनुष्य का परन्तु नीचे का भाग पक्षी का है। इनकी दुमें, पतली टांगे और पांव सब पक्षियों जैसे हैं। उनकी भुजाएँ और चोटियाँ साक्षात् कनखजूरे है। सिरों पर पीपल अथवा शमी की शाखा के शिखंड हैं। ये किन्नरोपम नर-विहंग अश्वत्थाधिष्ठातृ-देवता के अनुचर देवदूत थे जो पक्षियों की तरह वायुमंडल मे निर्बाध विचरण कर सकते थे। अपने इस संकीर्ण-रूप मे ये सुमेरियन कथानकों के 'जू' अथवा 'एटना' नामक नर-विहंगमो से बहुत सादृश्य रखते हैं। मुद्रा के ऊपरी किनारे के साथ-साथ रिक्त-स्थान में दो पंक्ति का चित्राक्षर-मय

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ८७।

लेख है और वृक्षमूल के पास एक और चित्राक्षर है जो सम्भवत अश्वत्थ-देवता के मदिर का प्रतीक है। हडप्पा की एक खडित मुद्रा[१] पर यही सात सकीर्ण देवदूत एक उत्कीर्ण मच के सामने पक्तिबद्ध खडे हैं। इनमे सब से आगे खडा मनुष्य हाथ से चित्राक्षरो की ओर निर्देश कर रहा है (फलक १६, क)।

सर जान मार्शल, डॉ० मेके और कई विद्वानो का विचार है कि पूर्वोक्त सात देवदूत पूर्णांग नररूप हैं और ऐसे कोट-नुमा वस्त्र पहने हुए हैं जिनका नीचे का किनारा तिरछा कटा है। मोहेंजो-दडो मुद्रा न० ४३० के वर्णन-प्रसग मे मार्शल महोदय लिखते है कि "पीपल की शाखाओं मे खडा देवता बहुत छोटा और बेडब बना हुआ है। परन्तु पुल्लिग लक्षणो से हीन होने के कारण और इसलिये कि भारत मे वृक्ष देवता प्राय स्त्रीलिंग है, और देवदूतो की पक्तिबद्ध सात मूर्तियाँ भी स्त्रीलिंग प्रतीत होती हैं, यही मान लेना ठीक है कि पीपल के अदर खडा देवता देव नही किन्तु देवी है। पक्तिबद्ध नीचे खडी सात मूर्तियाँ भी मेरे विचार मे प्रधान देवी की दासियाँ अथवा निम्नकोटि की सहायक देवियाँ हैं। उनके सिरो पर पख के समान वस्तुएँ शायद वृक्ष की शाखाएँ हैं जैसा कि देवदार की पूजा के सम्बन्ध मे काफरिस्तान के लोग आज भी ऐसी शाखाओ को अपने सिरो पर पहनते हैं। इस अवसर पर वृक्षदेवता के प्रसाद के लिये शाखाएँ भी जलाते हैं[२]।"

इसी प्रसग मे डॉ० मेके लिखते हैं—"इसमें सदेह नही कि यद्यपि वृक्षाधिष्ठातृ-देवता एक देवी है, उसके सामने प्रार्थना करने वाली मनुष्याकृति भी देवी ही प्रतीत होती है, क्योकि उसने भी प्रधान देवी के समान ही शिरावेष्टन पहना है। नीचे के रिक्त-स्थान मे अकित सात मानुषी मूर्तियाँ भी निम्नकोटि की देवियाँ ही है। सम्भवत वे प्रधान देवी की पुत्रियाँ हैं। उनकी सख्या 'सात' रहस्यपूर्ण प्रतीत होती है, क्योकि भारत मे 'सात' की सख्या के साथ कुछ तान्त्रिक रहस्य छिपा है जैसा कि ससार के कई अन्य देशो में भी पाया जाता है[३]।"

नर विहग कोट नहीं पहने हैं—सिन्धुकालीन देवताओ और दिव्य वीरो की भुजाएँ साक्षात् कनखजूरे थे, कन्धो से कलाई तक कगणो से लदी हुई मानुषी भुजाएँ नही थी। सात देवदूतो के सिरो पर नकली चोटियाँ न तो पख है और न ही वृक्ष की शाखाएँ, अपितु साक्षात् कनखजूरे। इन दूतो की भुजाओ और चोटियो मे कन-खजूरे की नोक प्रसिद्ध ग्राहशक्ति होने से मालूम होता है कि ये अत्यन्त भयकर

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ९१, २५१।

२ मार्शल—वही, ग्र० १, पृ० ६४, ६५।

३ मेके—वही, ग्र० १, पृ० ३३८।

है । वैदिक साहित्य में यह भी उल्लेख पाया जाता है कि स्वर्गलोक में देवता अश्वत्थ की छाया में विश्राम करते हैं ।

अश्वत्थ और न्यग्रोध (वट-वृक्ष) इन दोनों वृक्षों को शिखण्डधारी (शिखण्डिन्) के विशेषण से भी निर्दिष्ट किया गया है । उत्तरकालीन संहिताओं में वर्णन आता है कि इन वृक्षों में अप्सराओं का निवास है और इस कारण इनमें उनकी वंशियों तथा अन्य वाद्यों की ध्वनि आती है । अर्वाचीन साहित्य में इनके अतिरिक्त उदुम्बर और प्लक्ष के वृक्षों में भी गंधर्व और अप्सराओं के निवास की चर्चा है[1] । इसमें *सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का निवास होने के कारण भारत में अश्वत्थ आदिज्ञान तथा ब्रह्मविद्या* का स्रोत माना गया है । कोई भी हिन्दू जान बूझकर इसे कभी नहीं काटता और न ही इसके नीचे खड़े होकर कभी असत्य बोलता है । भगवद्गीता में कृष्ण भगवान् ने अपनी विभूतियों के वर्णन प्रसंग में कहा है—'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्', अर्थात् वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूं । इस धारणा के अनुसार कि भारतीय आर्यों ने सिन्धु-सभ्यता की बहुत सी धार्मिक विलक्षणताएँ और परम्परागत रूढ़ियाँ आदिवासी जातियों से ग्रहण की, स्वभावतः यह निष्कर्ष निकलता है कि सिन्धुकाल में भी अश्वत्थ देवता का प्रायः वैसा ही स्थान रहा होगा जैसा कि वैदिक अथवा पौराणिक काल में प्रजापति अथवा ब्रह्मा का था । एवं अश्वत्थ के साथ उसका जो घनिष्ट सम्बन्ध है वह हमें यह मानने के लिए बाध्य करता है कि वह सिन्धुकालीन ब्रह्मा एवं सब देवताओं में अग्रणी माना जाता था[2] ।

मार्शल महोदय का निर्णय है कि अश्वत्थ-देवता स्त्रीलिंग है । उनके कथनानुसार यह देवता तथा इसके अनुचर सात देवदूत स्त्रीरूप दिखाई देते हैं । मेरे विचार में इनकी आकृतियों में ऐसी कोई विलक्षणता नहीं जिससे इनको स्त्रीरूप मान लिया जाय । अपने निर्णय की पुष्टि में उन्होंने दो कारण बतलाए हैं—(१) मूर्तियों के सिरों के पीछे लम्बी चोटियाँ, और (२) शरीर के ऊर्ध्व भाग में कोटनुमा वस्त्र का होना[3] । परन्तु इनमें से कोई भी कारण श्रद्धेयता की कोटि तक नहीं पहुँचता । सिर के पीछे लम्बी चोटी का होना केवल स्त्री मूर्तियों की ही विशेषता नहीं थी । सिन्धुकाल के पुरुष और देव-पुरोहित भी इसे धारण करते थे । दूसरी बात यह है कि

---

१. मैकडानेल—वैदिक माईथालोजी, पृ० १३३ ।

२. वेदों में ब्रह्मा का नाम प्रजापति है । जैसे जैसे इसकी महिमा बढ़ती गई [illegible] का प्रधान देवता था, की महिमा घटती गई । (मैकडानेल) ।

३. [illegible] सं० १, मुद्रा ६४ ।

एकशृ ग उसके आयतन का सरक्षक था। इस बात का निर्देश भी पहले किया गया है कि मुद्रा न० ४३० पर अंकित महिषमुड देवता का मुकुट मुद्रा न० ३८७ पर प्रदर्शित अश्वत्थ विटप का केवल अनुकरण मात्र है। उनके मुकुट मे पत्ते के आकार का शिखड उसी आकार के अश्वत्थ के पत्रछद की प्रतिकृति है और भैसे के दो सीग एक शृ ग के दो सिरो के अनुरूप हैं (फलक १८, ख, च, ज)। यह महिषमुड देवता जिसका मुकुट अश्वत्थ निवासी महादेव के पूर्वोक्त दोनो चिन्हो का समन्वय है निस्सन्देह उससे निम्नकोटि का देवता था। इससे यह स्पष्टरूप से सिद्ध होता है कि अश्वत्थ निवासी देवता निर्विवाद सिन्धुकालीन देवगण मे सर्वोच्च स्थान रखता था। अश्वत्थ निवासी इस देवराज के आदेश मे निम्नकोटि के अनेक देवता, उपदेवता तथा देवयोनि के प्राणी थे जिनमे कुछ नररूप, कुछ पशुरूप और कुछ सकीर्ण रूप जीव थे।

चन्हुदडो की मुद्रा छाप—सिन्धुकालीन लोग परमदेवता के प्रतीक शृ गमय मुकुट को अत्यन्त पूज्य और पवित्र मानते थे। इस तथ्य का समर्थन एक और स्वतन्त्र प्रमाण से भी होता है। डॉ० मेके को चन्हुदडो की खुदाई मे हडप्पा सस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण पकी मिटटी की मुद्रा छाप हस्तगत हुई थी[१] (फलक १६, ग)। इस पर दो देव-पुरोहित आमने सामने खडे एक हाथ से शृ गमय पीपल के अभिप्राय को थामे हैं जब कि दूसरा हाथ कटि पर रखा हुआ है।

यह 'सीग-मौर-पीपल' का अभिप्राय मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० ३८७ पर अकित अभिप्राय तथा महिषमुड देवता के मुकुट से बहुत सादृश्य रखता है। जिस वस्तु को पुजारी थामे हुए है वह परमदेवता के प्रतीक उस दिव्य मुकुट का अनुकरण है जिसे निम्नकोटि के देवता परम श्रद्धा से अपने सिरो पर धारण करते थे। डॉ० मेके को न केवल इस अभिप्राय के तात्पर्य का ही पता नही लगा किन्तु उन्होने पीपल की टहनियो के नीचे भैसे के सीगो को भी नही पहचाना।

अश्वत्थ की पवित्रता—भारत मे अति प्राचीनकाल से अश्वत्थ परम पवित्र माना जा रहा है। अश्वत्थ, उत्तरकाल मे पिप्पल (हिन्दी पीपल), भारत के महाविटपों मे से एक है। ऋग्वेद मे इसके बने पात्रों का वर्णन आता है और उत्तरकालीन साहित्य मे इस वृक्ष का निरन्तर उल्लेख मिलता है। यह खदिर आदि दूसरे वृक्षो मे अपनी जड जमाकर प्ररोहण करता है और उन्हे नष्ट कर देता है। अतएव इसे 'वैबाध' के विशेषण से भी निर्दिष्ट किया गया है। यज्ञाग्नि प्रदीप्त करने की दो अरणियो मे से ऊपर की अरणि अश्वत्थ की लकडी की बनाई जाती थी और नीचे की अरणि शमी की होती थी। इसके मीठे फलो को पक्षियो का खाद्य कहा गया

---

१ मेके—चन्हुदडो एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ५२, मुद्रा ३६।

थे। पूर्वोक्त दोनों विद्वानों के विचार में वृक्षाधिष्ठातृ-देवता, याजक और सात देवदूत सभी स्त्रियाँ हैं। परन्तु मेरी गवेषणा से सिद्ध होता है कि वे सब पुरुष हैं। भारत में वृक्षों के साथ केवल देवियों का ही साहचर्य नहीं था किन्तु प्राचीन साहित्य में यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि पुल्लिंग देवयोनि के जीवों का भी वनस्पतियों के साथ सम्बन्ध दिखलाया गया है।

मैंने इन मूर्तियों का सूक्ष्मदृष्टि से परीक्षण किया है और मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि ये देवदूत किसी प्रकार के कोट अथवा जैकट नहीं पहने हैं। उनके मानुषी शरीर कटि के नीचे पक्षी के शरीर का आकार धारण किये हुए हैं जिससे नीचे का किनारा तिरछा दिखाई देता है। उनके सम्बन्ध में यह कल्पना करनी कि वे कोट या जैकट पहने हैं मिथ्या है, क्योंकि सिन्धुकालीन देवताओं के शरीर पर कहीं भी ऐसा कपड़ा नहीं देखा गया। पुरुषलिंग देवता या तो नग्न हैं अथवा केवल लंगोट-धारी। और देवी की मूर्तियाँ सुमेरियन स्त्रियों के 'कौनाक' कटिवस्त्र के समान एक छोटा सा घाघरा पहने देखी जाती हैं।

सिन्धुकालीन लोग अपने देवताओं को अंशत. नर-रूप और अंशतः विहगमरूप कल्पना करते थे। इस तथ्य का एक और भी स्वतन्त्र प्रमाण मिलता है। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० ३४७[1] (फलक १६, च) पर एक संकीर्ण देवता अंकित है। इसका ऊपर का भाग मानुषी, नीचे का विहंगाकार और पीठ मुंड-हीन बाघ की बनी है। दुम और पंजों वाली पतली टाँगें स्पष्टरूप से पक्षी की हैं। इन नर विहगों के सम्बन्ध में विचित्र बात इनकी-संख्या 'सात' है जिससे इन्द्र के अनुचर सात 'मरुत्' देवगण का स्मरण हो उठता है। वेद में 'मरुत्' उपदेवताओं को पूज्य वेदिका पर बैठे हुए पक्षियों के रूप में वर्णन किया गया है और कहा गया है कि वे अन्तरिक्ष के महावराह रुद्र की सन्तान हैं[2]। सुमेरियन कथानकों के अनुसार तूफान के सात आसुरी पुत्र 'ई' देवता के आयतन समुद्र में पैदा हुए और वहीं पले। समुद्रोद्भव ये सात असुर 'अणु' देवता, जो सुमेरियन त्रिदेव में से एक था, के दूत थे[3]।

अश्वत्थ देवता—पूर्वोक्त मुद्रा न० ४२० और ३८७ (फलक १८, क, ड) के साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि अश्वत्थ और एकशृंग दोनों ही अश्वत्थ निवासी प्रधान देवता के प्रतीक थे। अश्वत्थ देवता का आयतन था और

१. मेके—वही, ग्रंथ २, फलक ८६, मुद्रा ३४७।

२. मेकडानेल—वैदिक इंडेक्स, पृ० ६६।

३. सुमेरियन त्रिदेव में 'अणु', 'एनलिल' और 'ई' नाम के तीन देवता समाविष्ट थे।

एकश्रृंग उसके आयतन का संरक्षक था। इस बात का निर्देश भी पहले किया गया है कि मुद्रा न० ४३० पर अंकित महिषमुंड देवता का मुकुट मुद्रा न० ३८७ पर प्रदर्शित अश्वत्थ विटप का केवल अनुकरण मात्र है। उनके मुकुट मे पत्ते के आकार का शिखंड उसी आकार के अश्वत्थ के पत्रच्छद की प्रतिकृति है और भैंसे के दो सींग एक श्रृंग के दो सिरों के अनुरूप हैं (फलक १८, ख, च, ज)। यह महिषमुंड देवता जिसका मुकुट अश्वत्थ निवासी महादेव के पूर्वोक्त दोनों चिन्हों का समन्वय है निस्सन्देह उससे निम्नकोटि का देवता था। इससे यह स्पष्टरूप से सिद्ध होता है कि अश्वत्थ निवासी देवता निर्विवाद सिन्धुकालीन देवगण में सर्वोच्च स्थान रखता था। अश्वत्थ निवासी इस देवराज के आदेश मे निम्नकोटि के अनेक देवता उपदेवता तथा देवयोनि के प्राणी थे जिनमें कुछ नररूप, कुछ पशुरूप और कुछ संकीर्ण रूप जीव थे।

चन्हुदडो की मुद्रा छाप—सिन्धुकालीन लोग परमदेवता के प्रतीक श्रृंगमय मुकुट को अत्यन्त पूज्य और पवित्र मानते थे। इस तथ्य का समर्थन एक और स्वतन्त्र प्रमाण से भी होता है। डॉ० मेके को चन्हुदडो की खुदाई मे हडप्पा संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण पकी मिट्टी की मुद्रा छाप हस्तगत हुई थी[1] (फलक १६, ग)। इस पर दो देव-पुरोहित आमने सामने खडे एक हाथ से श्रृंगमय पीपल के अभिप्राय को थामे हैं जब कि दूसरा हाथ कटि पर रखा हुआ है।

यह 'सींग-पौर-पीपल' का अभिप्राय मोहजो-दडो की मुद्रा न० ३८७ पर अंकित अभिप्राय तथा महिषमुंड देवता के मुकुट से बहुत सादृश्य रखता है। जिस वस्तु को पुजारी थामे हुए हैं वह परमदेवता के प्रतीक उस दिव्य मुकुट का अनुकरण है जिसे निम्नकोटि के देवता परम श्रद्धा से अपने सिरों पर धारण करते थे। डॉ० मेके को न केवल इस अभिप्राय के तात्पर्य का ही पता नहीं लगा किन्तु उन्होंने पीपल की टहनियों के नीचे भैंसे के सींगों को भी नहीं पहचाना।

अश्वत्थ की पवित्रता—भारत में अति प्राचीनकाल से अश्वत्थ परम पवित्र माना जा रहा है। अश्वत्थ, उत्तरकाल मे पिप्पल (हिन्दी पीपल), भारत के महाविटपों मे से एक है। ऋग्वेद मे इसके बने पात्रों का वर्णन आता है और उत्तरकालीन साहित्य मे इस वृक्ष का निरन्तर उल्लेख मिलता है। यह खदिर आदि दूसरे वृक्षों मे अपनी जड जमाकर प्ररोहण करता है और उन्हें नष्ट कर देता है। अतएव इसे 'वैबाध' के विशेषण से भी निर्दिष्ट किया गया है। यज्ञाग्नि प्रदीप्त करने की दो अरणियों मे से ऊपर की अरणि अश्वत्थ की लकडी की बनाई जाती थी और नीचे की अरणि शमी की होती थी। इसके मीठे फलों को पक्षियों का खाद्य कहा गया

---

१ मेके—चन्हुदडो एक्सकेवेशन्स, अ० २, फलक ५२, मुद्रा ३६।

है। वैदिक साहित्य में यह भी उल्लेख पाया जाता है कि स्वर्गलोक मे देवता अश्वत्थ की छाया मे विश्राम करते है।

अश्वत्थ और न्यग्रोध (वट-वृक्ष) इन दोनों वृक्षों को शिखंडधारी (शिखडिन्) के विशेषण से भी निर्दिष्ट किया गया है। उत्तरकालीन संहिताओं मे वर्णन आता है कि इन वृक्षों में अप्सराओं का निवास है और इस कारण इनमे उनकी वशियों तथा अन्य वाद्यों की ध्वनि आती है। अर्वाचीन साहित्य में इनके अतिरिक्त उदुम्बर और प्लक्ष के वृक्षों में भी गधर्व और अप्सराओं के निवास की चर्चा है[1]। इसमें सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का निवास होने के कारण भारत मे अश्वत्थ आदिज्ञान तथा ब्रह्मविद्या का स्रोत माना गया है। कोई भी हिन्दू जान बूझकर इसे कभी नही काटता और न ही इसके नीचे खडे होकर कभी असत्य बोलता है। भगवद्गीता मे कृष्ण भगवान् ने अपनी विभूतियों के वर्णन प्रसग में कहा है—'अश्वत्थ: सर्ववृक्षाणाम्', अर्थात् वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ। इस धारणा के अनुसार कि भारतीय आर्यों ने सिन्धु-सभ्यता की बहुत सी धार्मिक विलक्षणताएँ और परम्परागत रूढ़ियाँ आदिवासी जातियो से ग्रहण की, स्वभावत: यह निष्कर्ष निकलता है कि सिन्धुकाल मे भी अश्वत्थ देवता का प्राय: वैसा ही स्थान रहा होगा जैसा कि वैदिक अथवा पौराणिक काल मे प्रजापति अथवा ब्रह्मा का था। एवं अश्वत्थ के साथ उसका जो घनिष्ट सम्बन्ध है वह हमें यह मानने के लिए बाध्य करता है कि वह सिन्धुकालीन ब्रह्मा एव सब देवताओं में अग्रणी माना जाता था[2]।

मार्शल महोदय का निर्णय है कि अश्वत्थ-देवता स्त्रीलिंग है। उनके कथनानुसार यह देवता तथा इसके अनुचर सात देवदूत स्त्रीरूप दिखाई देते हैं। मेरे विचार मे इनकी आकृतियों मे ऐसी कोई विलक्षणता नहीं जिससे इनको स्त्रीरूप मान लिया जाय। अपने निर्णय की पुष्टि मे उन्होंने दो कारण बतलाए हैं—(१) मूर्तियो के सिरो के पीछे लम्बी चोटियाँ, और (२) शरीर के ऊर्ध्व भाग मे कोटनुमा वस्त्र का होना[3]। परन्तु इनमें से कोई भी कारण श्रद्धेयता की कोटि तक नही पहुँचता। सिर के पीछे नकली चोटी का होना केवल स्त्री मूर्तियो की ही विशेषता नही थी। सिन्धुकाल के देवगण और देव-पुरोहित भी इसे धारण करते थे। दूसरी बात यह है कि

१. मेकडानेल—वैदिक माईथालोजी, पृ० १३३।

२. वेदों में ब्रह्मा का नाम प्रजापति है। जैसे जैसे इसकी महिमा बढ़ती गई उसी मात्रा मे वरुण, जो वैदिक काल का प्रधान देवता था, की महिमा घटती गई। (मेकडानेल)।

३. मार्शल—मोहेंजो-दडो एण्ड दि इंडस सिविलाइजेशन, ग्रं० १, मुद्रा ६४।

जिसे तिरछा कटा हुआ कोट (जैकट) कहा गया है वह वस्तुतः पक्षि शरीर का अधोभाग है।

मोहेंजो-दडो की मुद्राओं पर अश्वत्थ-निवासी देवता के दो और चित्रण है। उनमें से एक पर[1] दिए हुए दृश्य में पूर्वोक्त दृश्य से कुछ अन्तर है। इसमें अजाकार उपदेवता पीछे की बजाय उपासक के आगे खड़ा है, और देवदूतों की पंक्ति ऊपर के किनारे की बजाय मुद्रा के निचले किनारे पर अंकित है। दूसरी मुद्रा[2] पर भी यह विचित्र बकरा उपासक के आगे ही खड़ा है। प्रार्थक के पीछे एक छोटे से मंच पर बलि रखी है। इन दोनों मुद्राओं पर उत्कीर्ण दृश्य में और विलक्षण बात यह है कि दो-फांग पीपल के पेड़ को सीधा दिखाया गया है। परन्तु हड़प्पा की तीन निम्ननिर्दिष्ट मुद्राओं पर दो फाँक इसी पेड़ को तोरणाकार उलटा दिखलाया गया है। प्रसंगवश यहाँ यह लिख देना उचित है कि मेसोपोटेमिया की मुद्राओं पर जिन देवताओं को तोरणाकार वृक्ष के नीचे दिखलाया गया है उनके सम्बन्ध में शंका है कि वे अधोलोक के देवता है। अतः मेसोपोटेमिया की एक शलाकामुद्रा पर अधोलोक की देवी 'अल्लातू' को तोरणाकार झुके हुए एक वृक्ष के नीचे दिखलाया गया है (फलक ३२, ग)। हड़प्पा से उत्खात मुद्रा न० ३१६[3] पर बकरा पूर्वोक्त मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० 'ए' के समान प्रार्थक के पीछे खड़ा है (फलक १६, घ)। अन्तर केवल यह है कि इसमें सात देवदूतों की पंक्ति नहीं है। हड़प्पा की अन्य दो मुद्राओं पर एक ओर पीपल-तोरण के नीचे देवता है और दूसरी ओर चित्रमय लेख है। इनमें से एक (न० ३१७)[4] के पृष्ठ पर लेख के अतिरिक्त स्वस्तिक बना है।

पंखे के आकार का मुकुट—यहाँ यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि सिन्धु के काठे से प्राप्त मृण्मय स्त्री-मूर्तियों के सिरों पर एक प्रकार का पंखे के आकार का मुकुट है। यह मुकुट सम्भवतः मुद्रा न० ४२० पर खुदे हुए महिषमुंड-देवता के मुकुट से बहुत सादृश्य रखता है। इससे भी सिद्ध होता है कि सिन्धु सभ्यता का अश्वत्थ देवता तत्कालीन परम देवता था क्योंकि एकशृंग और पीपल के लक्षणों से बने हुए मुकुट को ये देवियाँ बड़े आदर से अपने सिरों पर धारण कर रही हैं। इन मूर्तियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे मातृदेवी की प्रतिकृतियाँ हैं, परन्तु प्रधान देवता के अनुशासन में होने के कारण मेरे विचार में ये निम्नकोटि की देवियाँ ही थी।

---

१ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक ११६, मुद्रा न० १।

२ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ८२, १ सी।

३ वत्स—हड़प्पा एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ६३।

४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० २, फलक ६३।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि कई सिन्धु-मुद्राओं पर एक उपदेवता अथवा देव-पुरोहित प्रधान देवता के सामने एक दो-फांक यत्र का उपहार कर रहा है। उसकी आसन मुद्रा ४३० नबर की मुद्रा पर अकित याजक की मुद्रा के समान है जो अश्वत्थ देवता के सामने गिडगिडाकर प्रार्थना कर रहा है। एक और मुद्रा पर उपासक जीवन-तरु 'शमी' को इसी यत्र का उपहार कर रहा है और दूसरी मुद्रा पर योगासनारूढ महिषमुड देवता को (फलक १६, ज ढ)[1]। इस आकार का यंत्र दो-फांक अश्वत्थ-वृक्ष से उद्भूत होने के कारण उस देवद्रुम मे निवास करने वाले परम देवता का प्रतीक था। अत. निम्नकोटि के देवता अथवा जीवनतरु शमी को इस यत्र के उपहार करने का तात्पर्य मानो प्रार्थक की यह प्रार्थना थी कि "मैं अमुक नाम वाला परम देवता की कृपादृष्टि प्राप्त करने के लिये आपकी सहायता का प्रार्थी हूँ।"

योगासन में विराजमान देवता—हड़प्पा की दो मृण्मय मुद्राछापों पर एक योगासनारूढ देवता अकित है। इनमे से एक मुद्राछाप (नं० ३०३)[2] के दोनो ओर भिन्न-भिन्न धार्मिक दृश्य बने है। सामने की ओर ऊँचे पीठ पर योगमुद्रासीन एक देवता है (फलक १३, च १)। उसने नकली चोटी तो धारण की है परन्तु सीगों वाला मुकुट सिर पर नही है। उसकी शतपदाकार लम्बी भुजाएँ घुटनो तक लटक रही हैं। दाईं ओर *व्याघ्र-वशीकरण दृश्य है* और बाईं ओर एक अहाते के अंदर खडा एक पशु मुड कर पीछे को देख रहा है। सम्भवतः यह पशु व्याघ्र-दानव है जो पकडा जाने पर इस अहाते में बद कर दिया गया है। देव पीठ के पास देवता का कृपापात्र हिरण है और अहाते की दीवार पर खडा छोटा पशु सम्भवतः दूसरा हिरण है जो नीचे मुँह किये अपने साथी की तरफ देख रहा है। छाप के दूसरी ओर यही देवता जालीदार मदिर के बाहर खडा है (फलक १३, च २)। उसके सामने देवद्रुम के पास बैल बंधा है और दाएँ किनारे पर तीन चित्राक्षर भी है। दूसरी मुद्राछाप (नं० ३१०)[3] तीन पहलू की है। इसके हर पहलू पर एक पौराणिक दृश्य है। पहलू (१) बहुत घिसा हुआ है फिर भी ध्यानपूर्वक देखने से इतना पता अवश्य लगता है कि इस पर योगमुद्रा मे एक देवता पीठ पर विराजमान है और पास ही एक उपासक भी है (फलक १३, ञ १)। पहलू (२) (फलक १३, ञ २) पर एक मनुष्य बैल से द्वन्द्वयुद्ध कर रहा है; और तीसरे पहलू (फलक १३, ञ ३) पर सींगों वाला एक देवता है जिसकी शतपदाकार भुजाएँ घुटनो तक लटक रही है।

---

१. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक १०३,६।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ६३।
३. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ६३।

सिन्धु-मुद्राओ पर प्रदर्शित उपदेवताओ मे नर पशुरूप उस सकीर्ण देवता का वर्णन करना आवश्यक है जो मोहजो-दडो की मुद्रा न० ३४७ पर खुदा है (फलक १६, च)[1]। कटि के ऊपर यह मनुष्याकार है परन्तु भुजाओ के स्थान कनखजूरे लटक रहे है। इसकी पीठ मुडहीन बाघ का शरीर है तथा कटि प्रदेश और टाँगें पक्षी की हैं। कृत्रिम चोटी से अलकृत सिर पर बकरे के कुटिल सीगो के बीच दवद्रुम की टहनी ऊपर को उभर रही है। ऊपर के किनारे के पास चार चित्राक्षर है। हडप्पा की ३१८ और ३१६ नबर की मुद्राछापो मे से हर एक के एक ओर शतपदमयी भुजाओ वाला शृ गयुक्त देवता और दूसरी ओर एक लेख है।

आकार भेद से सिन्धु-काल के देवता दो प्रकार के हैं, अर्थात् मनुष्यरूप या नरपशुरूप। पशुरूप मे उनमे ऐसे उत्तम जाति के पशुओ का मिश्रण है जो अपने विलक्षण गुणों के कारण लोक मे प्रसिद्ध हैं। इस विषय मे वे सुमेर के उन प्राचीन देवताओ के बहुत सदृश हैं जो आरम्भ मे पशुओ अथवा सकीर्ण जन्तुओ के आकार के थे।

देव और दानव—सुमेरियन शलाका मुद्राओ के समान सिन्धुमुद्राओ पर भी देव दानव युद्ध का आभास मिलता है। पशुओ अथवा सकीर्ण विचित्र जन्तुओ के रूप मे दानव देवताओ पर घातक आक्रमण करते थे। सुमेर मे वृक्ष-दानव, सिंह-दानव और सकीर्णरूप दानव थे[2]। उकाब की तरह उनके पख होते थे (फलक १३ ड), हिरण के समान द्रुतगति, और साँप के समान धूर्त और सजग थे। दृढता से पकडने के लिये उनके आहनी पजे थे, क्षत विक्षत करने के लिये सीग और शत्रुओ पर घातक प्रहार करने के लिये सिंह के समान बलिष्ठ भुजाएँ थीं। सिन्धुकाल के सकीर्ण पशु मे इन सब विलक्षणताओ का एकाधार मे समावेश है। यद्यपि यह सकीर्ण पशु दानव नही किन्तु देवयोनि का काल्पनिक जीव है। मेसोपोटेमिया म देवताओ के आयुध भी कभी-कभी हिंस्र जन्तुओ के आकार के होते थे। इश्टर-देवी का खडग भुजग के आकार का (फलक १६, ट) था और एक अन्य देवता का आयुध बिच्छू के आकार का था[3]।

लिंग और लिंग पीठ—हडप्पा और मोहेंजो-दडो के खडहरो मे पत्थर, मिट्टी, पियास, शख, हाथीदाँत आदि विविध द्रव्यो के बने हुए छोटे-बडे असख्य नोकदार शकु और मडल मिले थे। मडल आधे इच से लेकर चार फुट तक व्यास के है (फलक

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, प्र० २, फलक ८६।

२ मेकेंजी के विचार में सूअर, बकरा, घोडा, श्वेन, सिंह आदि के शरीरो मे दानव प्रवेश कर सकते थे।

३ वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया, चित्र २०८।

१७, झ और फलक ३६, थ)। बड़े आकार के शंकु चिपटी गोल पैंदी के और सादे हैं[1]। परन्तु छोटे आकार के शकुओं में बहुत से चित्रित, कई एक पहलूदार और बहुतों के तलों में छेद हैं। मार्शल की सम्मति में इनमें से बहुत से धार्मिक अभिप्राय के थे और सम्भवत: लिंग और पीठ के रूप में पूजे जाते थे। उनके विचार में पत्थर के महाकाय मंडल सम्भवत: भूत-प्रेत आदि आसुरी शक्तियों से बचने के लिये एक प्रकार के यंत्र थे। इस प्रकार की वस्तुएँ 'बीटिल' अर्थात् सौभाग्य और समृद्धि लाने वाले यंत्र थे। हड़प्पा की खुदाई में छ: सौ से अधिक क्षुद्राकार लिंगों का एक समुदाय मिला था। ये दोरंगी पट्टियों से चित्रित थे और हर एक की पैंदी में एक छेद था। इनका समान आकार, नाप (१ इंच ऊँचाई) और पैंदियों में रंगीन पट्टियों का होना इस बात का संकेत है कि वे अवश्य ही अलंकरण की वस्तुएँ थीं। पिछली शती के मध्य में लाफटस को वार्का में इसी प्रकार के शकुओं का एक बड़ा समुदाय मिला था। ये शकु प्राक्-राजावली काल की एक दीवार में सजावट के लिये लगाए हुए थे। मालूम होता है कि सिन्धु-प्रान्त में भी अधिकांश शंकु जिनकी पैंदियों में छेद हैं आरम्भ में रंगीन थे और सम्भवत. सजावट के काम में ही आते थे तथापि यह निर्विवाद है कि सिन्धु-सभ्यता के लोगों को लिंग-पूजा का ज्ञान अवश्य था, क्योंकि पत्थर के अंडाकार बड़े लिंग जो हड़प्पा और मोहेंजो-दडो में मिले निस्सन्देह पूजा में व्यवहृत होते थे। परन्तु यह लिखना आवश्यक है कि बड़े आकार के लिंग और मंडल जो खुदाई में मिले, न तो परस्पर संयुक्त थे और न ही किसी देवालय अथवा धर्मस्थान में प्रतिष्ठित थे।

दिव्य वीर और उनकी पूजा—कई एक सिन्धु-मुद्राओं पर नररूप मूर्तियाँ, व्याघ्र, बैल, महिष आदि वास्तविक अथवा काल्पनिक पशुओं से द्वन्द्वयुद्ध में प्रवृत्त दिखलाई गई हैं। इन अलौकिक बलशाली दिव्य वीरों का सादृश्य प्राक्-राजावली काल के सुमेरियन दिव्य वीरों से है। मोहेंजो-दडो से उपलब्ध दो मुद्राओं[2] पर एक पराक्रमी वीर दो व्याघ्रों के बीच खडा शतपदाकार अपनी भुजाओं से उनका गला घोटकर उन्हें पछाड़ रहा है। हड़प्पा की मुद्रा-छाप नं० ३०८[3] के एक ओर ऊपर के रिक्त स्थान में यही वीर उसी प्रकार व्याघ्रों को पछाड़ रहा है, परन्तु नीचे एक हाथी की मूर्ति है। छाप के दूसरी ओर शमी वृक्ष पर बैठे हुए उप-देवता के द्वारा व्याघ्रदमन

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ११७, ४, ५।
२. मेकें—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेंजो-दड़ो, ग्रं० २, फलक ८४,८५।
३. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ९३।

का दृश्य है (फलक १३, छ)। मोहेंजो दड़ो की मुद्रा नं० ३८७[1] (फलक १३, क) पर नर-वृषभ सींगोंवाले बाघ पर, जिसने देवद्रुम की शाखा चुराने का साहस किया है, विकट रूप से झपट रहा है। इसके शरीर का ऊपर का आधा भाग मनुष्य का और नीचे का आधा भाग बैल का है। इस नर-वृषभ के पीछे शमी जाति का देवद्रुम है। मुद्राछाप नं० ३६६[2] पर भी यह नर-वृषभ विजय मुद्रा में एक भुजा ऊपर को उठाए खड़ा है (फलक १३ झ)। हड़प्पा से उत्खात तीन पहलू की एक मुद्राछाप[3] के प्रत्येक पहलू पर जो नररूप मूर्ति बनी है वह भी सिन्धु-सभ्यता के किसी दिव्य वीर की प्रतीत होती है। इनमें से दो मूर्तियाँ जो कंधों पर कोई शस्त्र या उपकरण उठाए हुए हैं पुरुष दिखाई देते हैं, परन्तु तीसरी मूर्ति शरीर की रूपरेखा से स्त्री दिखाई देती है। इन तीनों मूर्तियों की टाँगें बैल की टाँगों के समान हैं।

गिलगेमेश कथानक—ठीक इसी प्रकार के दो वीर पुरुष जो गिलगेमेश और 'इं-बनी' अथवा 'एन किडु' के नामों से प्रसिद्ध थे, सुमेरियन कथानकों में बहुधा वर्णित हैं। एक कथानक इन दिव्य वीरों के पराक्रम की रोमहर्षण घटनाओं का वर्णन करता है। गिलगेमेश जलप्लावन के पूर्वकालीन सुमेर के उन अमानुषी राजाओं में से एक था जिनके सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि उनमें से हर एक ने कई हजार वर्ष राज्य किया। वह सुमेरियन लोगों का जातीय महापुरुष था जिसके अलौकिक पराक्रम तथा सामर्थ्य में सब विश्वास करते थे। वह सिंह, वृषभ, महिष आदि वन्य पशुओं से द्वन्द्व-युद्ध करके उन्हें अपने वश में कर लेता था। इस प्रकार के पराक्रम के कामों में उसकी सहायता के लिये देवताओं ने नर-वृषभ 'एन किडु'[4] की सृष्टि की जो गिलगे-

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इंडस वेली सिविलाइजेशन, ग्र० ३, फलक ११२।

२ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इंडस वेली सिविलाइजेशन ग्र० ३, फलक १११।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० २, फलक ९३, मुद्रा ३०५।

४ सुमेरियन मुद्राओं पर प्रदर्शित नर-वृषभ प्रायः गोजाति के पशुओं का सहचर दिखाया गया है। सुमेरियन कथानकों में इस विचित्र वीर के केश स्त्रियों के केशों की तरह लम्बे पीठ पर लटकते हुए वर्णन किये गये हैं।

फ्रेंकफर्ट—सिलिंडर सील्स, फलक १२, ए ४।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ३५५ (फलक १२, क) का नर-वृषभ कटि से ऊपर मनुष्य और नीचे बैल है। सुमेरियन नर-वृषभ के समान न केवल इसके लम्बे केश ही पीठ पर लटक रहे हैं, किन्तु इसके स्तन भी स्त्रियों की तरह उभरे हुए दिखलाए गये हैं।
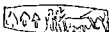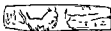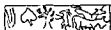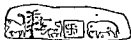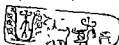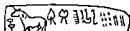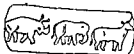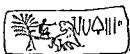
फलक २०. देवद्रुम-कथानक के व्यंजक चित्र.

मेश का अनन्य-हृदय मित्र और छाया-समान सहचर बन गया। गिलगेमेश ने जब इश्टर देवी की प्रेम-पिपासा को ठुकरा दिया तो देवी ने क्रोधावेश मे आकर गिलगेमेश के विनाश के लिये महाबलशाली एक दिव्य वृषभ की सृष्टि की जिसे गिलगेमेश और उसके सहचर एन-किडु ने मिलकर मार गिराया। इस अपमान से क्रुद्ध होकर देवी ने शाप के द्वारा एन-किडु को नष्ट कर दिया। गिलगेमेश ने अपने मित्र की मृत्यु पर विलाप किया और अमृत तथा सजीवनी की खोज मे अधोलोक की यात्रा के लिये प्रस्थान किया जिससे कि वह अपने मित्र को जिला सके और शाश्वत यौवन प्राप्त कर सके। इस यात्रा मे गिलगेमेश सुमेरियन जलप्लावन कथानक के नायक पिरनपिश्टिम (बेबीलोनिय काल का 'नूह') से मिला और सजीवनी प्राप्त करने मे उससे सहायता ली। इसे प्राप्त करके जब वह मृत्युलोक को लौट रहा था तो रास्ते मे सर्प-वेश में भूमि-सिंह ने इसे चुरा लिया।

यह है गिलगेमेश कथानक का सक्षिप्त विवरण जो सुमेरियन काल के लेखो मे मिलता है। सुमेरियन शलाका-मुद्राओ पर गिलगेमेश और एनकिडु बहुधा इकट्ठे चित्रित हैं। परन्तु सिन्धु-मुद्राओ पर उनके अनुरूप वीर पुरुष एक बार भी इकट्ठे नही पाए गये। यह कहना कठिन है कि सुमेरियन कथानको के पूर्वोक्त वीर पुरुष सिन्धु-काल के तत्समान वीर पुरुषो से कहाँ तक और किस प्रकार सम्बद्ध हैं। तथापि इसमे सन्देह नही कि दोनो देशो के इन कथानको मे अवश्य मौलिक सम्बन्ध था। इस समय यह जानने का कोई साधन नही है कि ये दोनो कथानक पितृस्थानीय किसी प्राचीनतर कथानक से प्रादुर्भूत हुए थे अथवा इनमे से एक कथानक दूसरे की उत्पत्ति का कारण बना। सुमेरियन कथानक प्राक्-राजावली काल का होने से बहुत प्राचीन है और इसी प्रकार सिन्धुकालीन भी बहुत प्राचीन है। सिन्धु मुद्राओ म से कतिपय ही ऐसी हैं जिन पर इन वीर पुरुषो का कथानक अकित है। फिर भी पूर्वोक्त मुद्राएँ यह सिद्ध करने मे पर्याप्त प्रमाण है कि प्रागैतिहासिक काल मे भारत मे भी ऐसा कथानक था जो गिलगेमेश कथानक से निकट सादृश्य रखता था।

वृक्ष पूजा—सिन्धु प्रान्त से ऐसी मुद्राएँ बहुत मिली हैं जिन पर पीपल अथवा शमी जाति का एक वृक्ष प्रधान रूप से अकित है। जैसे कि ऊपर सिद्ध किया गया है, पीपल सिन्धु निवासियो के सर्वोत्कृष्ट देवता का आयतन होने के कारण अतिपवित्र और पूज्य तरु था। इसी कारण निम्न कोटि के सभी देवता इसकी शाखा को देवद्रुम का प्रतीक समझ कर शिखड रूप से अपने सिरो पर धारण करते थे। यह भी पहले दिखलाया गया है कि ब्रह्मतरु होने के कारण अश्वत्थ ज्ञानतरु और सृष्टितरु भी समझा जाता था। सिन्धु निवासियो का दृढ विश्वास था कि वे मनुष्य अथवा देवता

जो इसके शाखा-शिखड को अपने सिर पर धारण करते थे यथार्थ ज्ञान के अधिकारी बन जाते थे, परन्तु यह अधिकार केवल देवताओं तथा देवयोनि के जीवो का ही था जो मनुष्य के भाग्यविधाता थे[1]। अश्वत्थ का समकोटि ही शमी जाति का एक वृक्ष विशेष था जिसे लोग जीवन-तरु अथवा अमृत विटप समझते थे। चित्रों में दिए हुए आकार से यह वृक्ष कंटीला दीखता है, परन्तु भारत के वृक्षो मे से किसी वृक्ष विशेष से इसकी एकात्मता सिद्ध करना कठिन है। सम्भावना यह है कि यह वृक्ष शमी, बबूल, नीम, बेल और खदिर इन पाँच वृक्षो मे से एक हो सकता है। इनमे शमी और बबूल चित्रगत वृक्ष के बहुत समान प्रतीत होते है। विविध मुद्राओं से प्राप्य साक्ष्य को यदि हम एक सूत्र में पिरो दें तो सुमेरियन कथानक के समान सिन्धु कालीन देवद्रुम-कथानक का स्वरूप भी स्पष्टतया प्रकट होने लगता है[2]। इन मुद्राओ पर दिए हुए दृश्यो से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इस जीवन तरु अथवा इसकी शाखा को हस्तगत करने के लिये देवताओ और दानवों मे अविराम संघर्ष चल रहा था। मनुष्य अथवा पशु के रूप में दानव सदा इस घात मे लगे रहते थे कि इस दिव्य तरु की शाखा को किस प्रकार प्राप्त करें। परन्तु यह देवद्रुम एक नररूप यक्ष के द्वारा सुरक्षित था जो व्याघ्र-दानव के दमन के लिए वृक्ष पर हरदम सचेत बैठा रहता था। यक्ष के अतिरिक्त इस तरु के और भी कतिपय सरक्षक थे। इन सब मे प्रधान एक नरमुंड संकीर्ण पशु था (फलक १८, ग) जिसका सिर तो

---

१. वैदिक काल से लेकर आज तक भारत में निम्नलिखित वृक्ष पवित्र एव पूज्य माने जाते हैं—

पीपल (अश्वत्थ), वड़ (न्यग्रोध), शमी, उदुम्बर, बिल्व, खदिर, तुलसी, नीम (निम्ब), बबूल, कुश और कमल।

इनमे उदुम्बर यूप और स्रुव बनाने के लिये, न्यग्रोध चमस (यज्ञपात्र) बनाने के लिये, खदिर स्रुव और यन्त्र बनाने के काम मे आते थे। बिल्व का महत्त्व इस लिये था कि इसकी लकड़ी के यूप बनते थे और फल खाए जाते थे।

२. अथर्ववेद में शमी के सम्बन्ध मे वर्णन मिलता है कि यह वृक्ष चौड़े पत्तों वाला, रोमनाशक एव मादक है। परन्तु उन दो वृक्षो में से जो आजकल 'शमी' के वाचक समझे जाते हैं पूर्वोक्त गुणों का अभाव है। इनमें से एक जंड है जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के समीपवर्ती जंगलों में बहुत पाया जाता है। इसी संहिता मे यह भी वर्णित है कि शमी की कोमल लकड़ी से नीचे की अरणियाँ बनाई जाती थी और ऊपर की अरणियां अश्वत्थ की कठिन लकड़ी की होती थी। धन्वन्तरीय निघंटु में लिखा है कि शमी और इसके फल रोमनाशक होते हैं। परन्तु जंड मे वैदिक काल के

मनुष्य का है परन्तु शरीर कई पदार्थों के अवयवों का संघात है[1]। ऐसा संकीर्ण जन्तु जीवन तरु का निस्सन्देह बहुत उपयुक्त संरक्षक था। इसकी तुलना मेसोपोटेमिया में जमेदत-नसर काल की शलाका मुद्रा पर खुदे हुए संकीर्ण पशु से है[2] (फलक १३, घ)। इस पशु का सिर हाथी का और शरीर बैल का है। यह भी जीवन-तरु के सामने पहरुए के समान खड़ा आक्रमणकारियों से देवद्रुम की रक्षा कर रहा है।

इस संकीर्ण जन्तु के अतिरिक्त एक और अलौकिक पशु है जिसका शरीर तो एक है परन्तु सिर तीन हैं[3] (फलक २० क)। मोहेंजो-दड़ो की दो मुद्राओं पर यह देवद्रुम के पहरुए के रूप में प्रदर्शित है। एक मुद्राछाप पर (फलक २१, ग) नाग से सुरक्षित बैल एक नररूप प्रतिपक्षी से लड़ रहा है और सम्भवतः उसे देवद्रुम के निकट आने से रोक रहा है। पकाई मिट्टी की एक और मुद्राछाप[4] के एक ओर वृषभ से सरक्षित जीवन तरु है। वृक्ष के एक ओर बैल एक योद्धा से लड़ रहा है और उसके दूसरी ओर एक मनुष्य इसकी टहनियों को चुरा रहा है (फलक-२०, छ १)। इसी छाप के दूसरे माथे पर पूर्वोक्त नरमुंड संकीर्ण जन्तु एक निर्जीव अजगर अथवा व्याघ्र की ओर देख रहा है (छ २) जिसे उसने सम्भवतः द्वन्द्वयुद्ध में या केवल घातक दृष्टिपात से ही मार गिराया है। इसके तीसरे पहलू पर तीन सिरवाला अलौकिक पशु

शमी के गुण नहीं पाए जाते। जड़ के पत्ते सूक्ष्म और लकड़ी बहुत कठिन एवं भारी होती है। इसके फल भी नहीं होते और न ही इसमें मादकता है। परन्तु सिन्धु मुद्राओं पर शमी जाति का देवद्रुम वर्तमान काल के जड़ से बहुत भिन्न है। यदि इसके पत्ते रोमनाशक होते तो देवता तथा देव-पुरोहित शमी शाखा का शिखंड अथवा कृत्रिम चोटी के रूप में अपने सिरों पर क्यों धारण करते।

१ नरमुंड संकीर्ण पशु के विवरण के लिये पृष्ठ १४१ देखें।

२ फ्रेंकफर्ट—सिलिंडर सील्स, फलक ६ सी।

३ मेसोपोटेमिया के 'अस्मर' नामक खंडहर में उपलब्ध पकी मिट्टी का एक खिलौना भी इसी आकार का है। इसमें एक ही मूल से तीन पशुमुंड उभर रहे हैं। ये पशु बैल, मेढा और बाघ हैं। फ्रेंकफर्ट—टेल अस्मर एण्ड खफजे, पृ० २३।

वैदिक साहित्य में त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के भी तीन सिर वर्णन किये गये हैं। वृत्र और इन्द्र ने मिलकर इसका वध किया था। वेद में तीन सिर और छः आँखों वाले एक दानव का भी उल्लेख है जिसे त्रित ने युद्ध में मार गिराया था। (मैकडानेल)।

४ मेके—वही, ग्र० २, फलक ६१, मुद्रा ४।

जीवनतरु की रक्षा कर रहा है, जब कि महिषमुंड देवता के कृपापात्र दो हिरणों में से एक पिछली टांगो के बल खड़े होकर आनन्द से इसके पत्तों को चर रहा है (फलक २०, छ ३)। मोहेंजो-दडो से प्राप्त मिट्टी की मुद्राछाप नं० ६ ए-बी (फलक १८, ढ)[1] के एक माथे पर उपासक हाथ में अश्वत्थ-देवता के प्रतीक दो फांक यंत्र को लेकर जीवनतरु की पूजा कर रहा है, और दूसरे माथे पर एक फणिहर अथवा नागदेवता वृक्ष की रक्षा कर रहा है (फलक २०, ङ)। इसी स्थान से उपलब्ध मुद्रा नं० ८ (फलक २०, ख)[2] पर दीवार से घिरा हुआ एक विशाल शमीवृक्ष (जीवनतरु) है। अहाते के द्वार पर गड़े हुए यूप के शिखर पर महिषमुंड देवता का सिर है। द्वार के सामने तरु महोत्सव के अवसर पर देव-पुरोहित छलांग लगाकर यज्ञवृषभ को फाद रहा है।

व्याघ्र-दानव और जीवनतरु—कई सिन्धु-मुद्राओं पर एक असाधारण दृश्य बना है, जिसमे व्याघ्र-दानव[3] जीवनतरु की शाखा चुराने में यत्नशील दिखाई देता है (फलक २०, घ, च)। वह इस वृक्ष के नीचे खड़ा ऊपर बैठे हुए संरक्षक यक्ष की ओर मुड़कर देख रहा है। यक्ष भी एक हाथ से वृक्ष की शाखा को थामे और दूसरे हाथ को सम्मोहन-मुद्रा मे फैलाए व्याघ्र को मंत्र-मुग्ध और निष्क्रिय बनाने मे प्रवृत्त दिखाई देता है। साथ ही साथ पाद-प्रहार से वृक्ष की कँटीली शाखा को व्याघ्र के शरीर में चुभो कर वह उसे यातना भी दे रहा है। एक दो मुद्राओं पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो व्याघ्र को दंड देने के लिये शाखा के नीचे नुकीली काल भी बंधी हो। संरक्षक यक्ष विचित्र आसन-मुद्रा में बैठा है। उसका एक घुटना शाखा पर टिका है और दूसरा ऊपर को उठा है जैसे कोई वीरासन में बैठा हो। मंत्रमुग्ध व्याघ्र वृक्ष के नीचे निश्चेष्ट खड़ा इति-कर्तव्यताविमूढ-सा होकर गर्दन घुमाकर यक्ष की ओर ताक रहा है। जब जब व्याघ्र-दानव शाखापहरण के लिये प्रकट होता है वृक्षस्थ यक्ष उसकी सब दुष्ट योजनाओं पर पानी फेर देता है।

व्याघ्र-दानव और यक्ष का दृश्य बहुत सी मुद्राओं पर पाया जाता है। कहीं पर अकेला और कहीं पर अन्य घटनाओं के साथ। ये घटनाएँ निस्सन्देह देवद्रुम-कथानक का ही अंश थी। अकेले दृश्यो वाली मुद्राएँ केवल तीन हैं, जैसे मोहेंजो-दडो की

---

१. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रंथ २, फलक १०१।

२. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रंथ २, फलक १०३।

३. ऋग्वेद मे उल्लेख है कि दानव कुत्तो, गीधों, उल्लुओं तथा अन्य पशुओं का रूप धारण कर लेते हैं।

मुद्रा न० ५२२[1] और ३५७[2] तथा हड़प्पा की मुद्राछाप न० २४८[3]। वे मुद्राएँ जिन पर यह दृश्य अन्य घटनाओं से सम्बद्ध पाया जाता है निम्ननिर्दिष्ट हैं—मोहेंजो-दडो की तीन मुद्राछापें, न० १ १३ और २३। इनमे मुद्राछाप न० १ तीन पहलू की है (फलक २०, ज)[4]। इसके एक पहलू पर बाएँ से दाएँ को संकीर्ण पशु जीवनतरु की ओर पीठ किये पहरा दे रहा है और इसकी दाईं ओर वृक्षारूढ यक्ष और व्याघ्र-दानव हैं। इनके दाईं ओर स्वस्तिक और उसके पास एक हाथी जीवनतरु और स्वस्तिक का अभिवादन कर रहा है। यहाँ स्वस्तिक चिह्न का वही मगलमय अभिप्राय मालूम होता है जो हिन्दू-समाज मे आज भी इसका है। देवद्रुम के साथ इसके साहचर्य का तात्पर्य वृक्ष की अनिरिक्त सुरक्षा है। वृक्ष और स्वस्तिक के सन्निधान मे हाथी का अभिवादन उन बौद्ध जातक-कथाओ का स्मारक है जिनमे हाथी तथा अन्य उत्तम जाति के पशु बौद्ध स्तूपो पर पुष्पमाला आदि का उपहार चढा रहे हैं। मुद्राछाप के दूसरे माथे पर एकशृंग और वेदिका तथा आठ चित्राक्षरो का लेख है (फलक २०, ज ३)। तीसरे माथे के बाएँ किनारे पर अश्वत्थ-देवता पीपल के दो फाम तने के अदर खडा है, उसके दाईं ओर विचित्ररूप बकरा और उपासक है। उपासक के पीछे बलिवेदि है (फलक २०, ज २)। इसमे सन्देह नही कि इस मुद्राछाप के तीन पहलुओ पर अकित भिन्न भिन्न दृश्य एक ही बृहत् कथानक के भाग हैं। पहले पहलू पर प्रदर्शित अश्वत्थ-देवता स्पष्ट रूप मे सिन्धुकालीन देवताओ मे सर्वोच्च स्थान रखता था, और शेष दो पहलुओं पर चित्रित दृश्य इसी देवताविषयक कथानक की भिन्न-भिन्न घटनाओ के व्यजक हैं। दूसरे पहलू पर अकित एकशृंग इस देवता का वाहन अथवा कृपापात्र पशु था जैसे कि हम मुद्रा न० ३८७ पर पहले देख चुके हैं। यह अनुमान युक्तिसगत है कि शमीजाति का देवद्रुम (जीवनतरु), जिसकी रक्षा यक्ष और सकीर्ण पशु करते हैं, भी इसी परम देवता का प्रिय द्रुम था, और शिखड रूप से इसकी शाखाओं को धारण करने का अधिकार केवल देवताओं, देवयोनि के वीर पुरुषों तथा देव पुरोहितों का ही था।

मुद्राछाप न० १३[5] के एक माथे पर व्याघ्र-दमन का दृश्य तथा पचाक्षरी

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ६६, मुद्रा ५२२।

२ मार्शल—मोहेंजो-दडो एण्ड दि इडस वेली सिविलाइजेशन, ग्र० ३, फलक १११, मुद्रा न० ३५७।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा ग्र० २, फलक ६'

४ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ८२।

५. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ८२।

लेख है (फलक २०, भ ३) और दूसरे माथे पर गैंडा, हाथी तथा एकशृंग एक दूसरे के पीछे बाएँ से दाएँ को चलते दिखाए गये हैं (फलक २०, भ २)। सम्भवत ये पशु पहले माथे पर बने हुए देवद्रुम के अभिवादन के लिये प्रस्थान कर रहे हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे पूर्वोक्त मुद्राछाप पर हाथी जीवनतरु और स्वस्तिक का अभिवादन कर रहा है। तीसरे माथे पर एक विशाल शमीवृक्ष है जिसके पत्तो को पिछली टांगों के बल खड़े होकर महिषमुंड देवता के कृपापात्र दो हिरण आनन्द से चर रहे हैं, और इस दृश्य के दाईं ओर भूमिस्थ एक मनुष्य हाथ मे सलाख या डंडा लिये किसी काम मे व्यस्त दिखाई देता है और पास खड़ी हुई एक स्त्री उसकी ओर झुककर काम में सहायता कर रही है (फलक २०, भ १)। सम्भव है कि यह मनुष्य जीवनतरु का सरक्षक यक्ष हो जो व्याघ्र दानव को यातना देने के लिये मचान बना रहा हो। यह बात वर्णनीय है कि छाप के दूसरे माथे पर प्रदर्शित पशुपंक्ति मे एकशृंग सबके आगे चल रहा है जिससे सिद्ध होता है कि यह सर्वश्रेष्ठ चतुष्पाद एक काल्पनिक दिव्य पशु था न कि 'एक चश्म' मुद्रा मे खड़ा एक साधारण बैल जैसा कि कई विद्वानों का विचार है।

मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० २३ (फलक २१, ज)[1] के सामने माथे पर बने हुए दृश्य मे बाएँ से दाएँ को चित्र इस प्रकार खुदे है—पहले माथे पर अमृत घट,[2] उसके साथ जीवनतरु पर आरूढ यक्ष के द्वारा व्याघ्र-दानव का दमन और मध्य में शतपदाकार भुजाओं वाले एक देवता के द्वारा व्याघ्रमुख दो दानवों का घर्षण। दानवों के हाथो मे दोफांक देवद्रुम का आधा आधा भाग है। देवता उनके मध्य मे खडा है और अपनी शतपदमयी भुजाओं को फैलाकर देवद्रुम को उखाड़ने के अपराध में दानवों को गले से पकडकर पछाड़ने का प्रयत्न कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्याघ्रमुख दानव देवद्रुम को उखाड़ कर जैसे ही ले जाने को उद्यत हुए वृक्ष फट गया और तदधिष्ठातृ-देवता उन्हें इस अपराध का दंड देने के लिये अचानक प्रकट हो पड़ा[3]।

---

१. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रं० २, फलक ९०।

२. मेकेजी महोदय लिखते हैं कि मनुष्यों की तरह देवताओं को भी अन्न और जल की आवश्यकता है। वे इसलिये अमर है कि उन्होने अमृत का पान एवं जीवनतरु के फल का आस्वादन किया है।

३. सिन्धुकालीन देवताओं, उपदेवताओं तथा दिव्य वीरो की भुजाएँ साक्षात् शतपद हैं। शतपद के कुडलों की ग्राहशक्ति लोकप्रसिद्ध है। उत्खाताओं ने इन्हें साधारण मानुषी भुजाएँ समझा है और इनके कँटीले स्वरूप का मंडन करने के लिये लिखा है कि वे कधे से कलाई तक कगणों से लदी हैं।
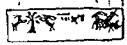
फलक. २१ देवद्रुम-कथानक के व्यंजक चित्र

सिन्धुमुद्राओं पर देवद्रुम-कथानक के साथ ओतप्रोत अन्य कई घटनाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। मुद्रा नं० ३७६ पर जंतुओं का विचित्र मिश्रण है (फलक २१, छ)। मध्य में संकीर्ण पशु विषधर-मयी अपनी पूंछ को ऊँचे उठाकर खड़ा है। उसके सामने एक निर्जीव व्याघ्र पड़ा है। उसके दोनो ओर बिना पूंछ के दो बिच्छू है[1]। चित्र बहुत अस्पष्ट है इसलिये इसमे समाविष्ट घटनाओ की विशेष व्याख्या करना कठिन है। परन्तु इसमे संदेह नही कि चित्रगत घटना की पृष्ठभूमि मे जीवनतरु है जिसकी धुंधली शाखाएँ संकीर्ण पशु के समक्ष अब भी दिखाई देती है। पहले हम देख चुके हैं कि यह विचित्र जीव जीवनतरु का पहरुआ है। यदि इसके सामने पड़ा हुआ निर्जीव व्याघ्र वही व्याघ्र-दानव है जो जीवनतरु की शाखा चुराने के लिये बार-बार इसके पास आता था तो यह उचित ही था कि अहर्निश जागरूक-पहरुए के हाथ से उसे अपने पापों के लिये प्राण-दण्ड मिलता। इस प्रसंग मे बिच्छू या तो संकीर्ण पशु के सहायक थे, अथवा यदि वे अपराधी के साथी थे तो शायद व्याघ्र की तरह उन्हे भी पहरुए के हाथ से यह दण्ड ही मिला हो कि उनकी विषैली दुमें काट दी गई हों जिससे भविष्य मे वे अपने दंश रूपी शस्त्र से वंचित हो जाएँ और किसी को कष्ट न पहुँचा सकें[2]।

एक और मुद्रा जो स्वभावतः जीवनतरु-कथानक से सम्बद्ध प्रतीत होती है नं० ४८८ (फलक २१, क)[3] है। इस पर पशुओ के बीच लंबे पत्तों वाले दो वृक्ष और तीन पक्षिमुख मगर हैं जो अपनी चोंचो मे एक-एक मछली पकड़े हुए है। ऊपर के रिक्त स्थान मे तीन पक्षी उड रहे है। उनमे से एक पक्षी चोंच खोले चिल्लाता सा प्रतीत होता है मानो किसी आगन्तुक भय से सचेत कर रहा हो। पशु-पक्षियों का यह समारोह बाएँ से दाएँ को अग्रसर हो रहा है। चित्र मे दिये हुए दो वृक्ष शमी-जाति के नही दीखते और दो पशुओं के यथार्थ स्वरूप का पता लगाना भी कठिन है। इनमें से एक के सींग पीछे की ओर और दूसरे के आगे की ओर मुडे है। हो सकता

---

१. मेसोपोटेमिया मे डॉ० मेके ने टीला 'किश' के कब्रिस्तान 'ए' मे बिच्छू के चित्रोंवाली मुद्राएँ पाई थी। इनमे शंख की बनी हुई मुद्रा नं० १ (फलक २०, च) पर पहाड़ी बकरे के समान लंबे सींगो वाले पशु और बिच्छू बने है। ऐसा प्रतीत होता है कि बकरों और बिच्छुओं में लड़ाई हो रही है। एक बिच्छू उछल कर बकरे को डंसता हुआ दिखाई देता है।

मेके—ए सुमेरियन पेलेस, एंड दि 'ए' सिमेट्री एट किश, भाग २।

२. सम्भव है कि बिच्छुओं की दुमें स्थानाभाव से चित्र मे न आ सकी हों।

३. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रं० २, फलक ९६।

है कि ये महिषमुंड देवता के कृपापात्र वही दो हिरण हों जिन्हें जीवनतरु की टहनियाँ स्वच्छन्द चरने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। जबड़ों में मछली पकड़े हुए मगर का चित्र सिन्धुमुद्राओं पर प्रायः मिलता है परन्तु वहाँ यह सदा यथार्थ रूप में दिखाई देता है न कि पक्षिमुख तथा कानों वाले काल्पनिक रूप में जैसा कि इस मुद्रा पर अंकित है।

मोहेंजो-दड़ो से प्राप्त तीन पहलू की मुद्राछाप नं० १४ पर भिन्न भिन्न रोचक चित्र हैं (फलक २१, ग)[1]। एक पहलू के बाएँ किनारे पर शमी जाति का जीवनतरु है जिसके दोनों ओर पिछली टाँगों पर खड़े दो हिरण स्वच्छन्द रूप से वृक्ष की टहनियों को चर रहे हैं, जब कि तीन सिर वाला सकीर्ण पशु दूसरी ओर खड़ा पहरा दे रहा है (ग ३)। दूसरे दो पहलुओं पर बहुत से पशु देवद्रुम के अभिवादन के लिये बाएँ से दाएँ को पंक्तिबद्ध जा रहे हैं। इनमें हाथी, गैंडा, चीता, बाघ, छोटे सींगोवाला बैल, वन-वृषभ, बकरा, मगर, कछुआ और मछली आदि सम्मिलित है (ग १, २)। ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त पशुजाति ही देवद्रुम की पूजा के समारोह में भाग ले रही हो, और वृक्षाधिष्ठातृ देवता को भेंट चढ़ाने के लिये मगर अपने मुँह में बलि-रूप से एक मछली भी ले चला हो। मांस और घास खाने वाले विरुद्ध प्रकृति के पशुओं का समारोह में एक साथ मिलकर चलना इस बात का सूचक है कि देवद्रुम के समन्तात् कैसा शान्त वातावरण था, जहाँ हिंस्र और सौम्य प्रकृति के पशु मिलकर एक साथ जीवन निर्वाह कर सकते थे।

मोहेंजो-दड़ो से उत्खात मुद्रा नं० २० (फलक २१, घ १)[2] के सामने माथे पर शमी जाति का देवद्रुम है जिसकी बाईं ओर स्वस्तिक चिह्न और तीन चित्राक्षर हैं। देवद्रुम और स्वस्तिक का साहचर्य मुद्रा नं० १६ (फलक २०, ज १)[3] पर भी पाया जाता है। मंगलचिह्न होने के कारण स्वस्तिक के इस साहचर्य का तात्पर्य देवद्रुम को नाना प्रकार के आगन्तुक भयों तथा उपद्रवों से बचाना था। इस मुद्रा की पीठ पर मगर के मुँह में जो मछली है वह सम्भवतः वृक्षाधिष्ठातृ-देवता के लिए बलि है। पूर्वोक्त दोनों मुद्राएँ इस तथ्य का श्रद्धेय प्रमाण है कि वर्तमान काल की तरह प्रागैतिहासिक काल में भी स्वस्तिक एक परम मंगलमय और विघ्ननाशक चिह्न समझा जाता था।

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एंड दि इंडस वेली सिविलाइजेशन, ग्रंथ ३ फलक ११६।

२ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एंड दि इंडस वेली सिविलाइजेशन, ग्र० ३, फलक ६६।

३ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ८२।

सिन्धु घाटी से उत्खात अनेक मुद्राओं तथा मुद्राछापों पर चित्राक्षरों से युक्त अथवा उनके विना शमी जाति का देवद्रुम भी प्रदर्शित है। इनमे से कई एक पर यह द्रुम वेदिका से घिरा है। सब से स्पष्ट और सुदर वेदिका परिवृत देवद्रुम हड़प्पा की मुद्राछाप न० ३२५ (फलक २१, ख)[१] पर है। एक और छाप पर यही वृक्ष एक चौतरे पर मे उभर रहा है (फलक २१, ड)[२]। वृक्षपूजा की प्रथा भारत मे अति प्राचीन है। ऐतिहासिक काल मे इस प्रथा का अस्तित्व इस वात का समर्थक है कि वृक्षो मे देवभावना प्रागैतिहासिक काल की क्रमागत परम्परा है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय आर्यो ने सिन्धुकाल की धार्मिक और सामाजिक प्रथाओ मे कुछ परिवर्तन करके उन्हे अपने जीवन मे ओतप्रोत कर लिया। वृक्षो मे यक्ष, अप्सरा, भूत, प्रत आदि देव तथा आसुरी योनि के जीवो के निवास के विपय मे चिरकाल से जो भारतीयों का दृढ विश्वास चला आ रहा है इसका उद्भव सिन्धु-सभ्यता मे हुआ था। देवद्रुम के सत्कार के लिये पशुओ का पक्तिवद्ध तथा शुद्ध भावना से इसके पास आना एक ऐसी घटना है जो हमे साँची, भरहुत आदि प्राचीन स्थानो की वौद्ध मूर्तिकला का स्मरण कराती है। इसमें स्तूप, वोधिद्रुम आदि वुद्ध के स्मारकों का पुष्पोपहार आदि से सत्कार करते हुए पशु दिखलाए गये है।

पूज्य-पदार्थ—वृक्षपूजा से कुछ उतर कर सिन्धुकालीन लोगों की पूजा-पद्धति में पवित्र वेदिका का स्थान था। सिन्धुमुद्राओ पर केवल एक ही आकार की वेदिका पाई जाती है जो प्रायः एकशृंग के गले के नीचे गड़ी रहती है (फलक २२, क-ज)। कुछ मुद्राओं पर चार टाँगो वाला वलिपीठ भी अश्वत्थ-देवता के उपासक के पास पड़ा पाया जाता है। इसके विपरीत मेसोपोटेमिया में शलाकामुद्राओ पर कई आकार की वलिवेदियाँ वनी हैं। उनमे कई डमरू के आकार की हैं जिनमें आग की ज्वाला अथवा देवद्रुम का नन्हा पौधा उभरता हुआ दिखाई देता है। कई वेदियाँ ईंट या पत्थर की वनी मालूम होती है। वार्ड महोदय की पुस्तक के चित्र नं० १२३६ मे दी हुई वेदि के शिखर पर आग की ज्वालाएँ अथवा जीवनतरु की शाखाएँ उभर रही हैं (फलक २२८,)[३]। एक दूसरी वेदि, जो सम्भवत. ईंटो की वनी है, के निचले खाने मे धूपदानी है और शिखर पर मेढे का सिर इष्टर देवी के लिये वलिरूप से रखा है (फलक २२, ञ)। वार्ड के चित्र नं० १३८ (सी) (फलक २२, ट)[४] मे डमरू के

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ९२।

२. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ३२८।

३. वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया, चित्र १२३६।

४. वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया, चित्र १३८ सी।
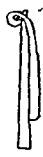
फलक २२ सिन्धुयुग तथा सुमेरियन काल की बलि-वेदियाँ

आकार की वेदिका है जिसमे देवद्रुम का नन्हा पौधा ऊपर को उभर रहा है और एक हिरण इसकी ओर कूद रहा है।

सिन्धुमुद्राओं पर चित्रित वेदिका देखने में तीन अंगों की बनी हुई प्रतीत होती है—यथा आधार दंड, बीच का खुले मुँह का पात्र और शिखर पर चतुर्भुज कोष्ठ (फलक २२, क)। कई मुद्राओं मे दड और पात्र दोनों एक ही धातुखंड के बने मालूम होते हैं, केवल शिखर वाला कोष्ठ ही पृथक् जोड़ा हुआ दिखाई देता है। परन्तु अन्य मुद्राओं में खंडशः बने हुए तीनों अंग बाद में जोड़े हुए प्रतीत होते हैं। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० ३८ और ६ को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगता है कि पात्र और दंड के जोड़ पर धान अथवा लकड़ी का एक कुटिल कील लगा है जिससे प्याला सरक कर दंड के नीचे न उतर जाए[1]। इसी प्रकार हड़प्पा की मुद्रा न० २ में उसी स्थान पर कुटिल कील की बजाय किनारों पर नीचे को मुड़ा हुआ कील लगा है (फलक २२, च)[2]। इन खुले मुँह के पात्रों में से बहुतों का शरीर छलनी की तरह छिद्रा हुआ है (फलक २२, ख-ड)[3], और कई प्यालों के साथ घुंघरू से अलंकरण लटकते नजर आते हैं। कई मुद्राओं पर अंकित चित्रों में कोष्ठ की पैंदी गावदुम सी बनी है जिसका नीचे का नोकदार किनारा प्याले के मध्य से उभरते हुए चिपटे टुकड़े पर स्थित है (फलक २२, क-घ)। दूसरी वेदियों में मंजूषाकार कोष्ठ में से बाहर निकलकर एक चिपटा धातुखंड प्याले से उभरते हुए एक पीठ पर टिका दिखाई देता है (फलक २२, घ, ड)[4]। साधारणतः कोष्ठ का छत नोकदार और दोनों पार्श्वों में मध्यावनत मिलता है। इन पर लहरिया रेखाओं के अलंकरण बने होते हैं। कई कोष्ठों के छत पर कुटिल कील लगा होता है जिसे पकड़ कर शायद कोष्ठ को ऊपर उठाया जाता था (फलक २२, घ, च, छ)[5]। कई कोष्ठों का छत लेम्प के छायाछत्र की तरह महराबदार था।

---

१. मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एंड दि इंडस सिविलाइजेशन, ग्रं० ३, फलक १०३, १०४।

२. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ८५।

३. क्या खुले मुँह के छेददार पात्र इसलिये नही थे कि इनमें देवद्रुम का नन्हा पौधा पाला जाय। इस पात्र की पैंदी मे बड़ा छेद शायद उस दड के लिये था जिस पर पात्र और मजूषा रखी रहती थी।

४. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक १०३, १७, फलक १०४, ३६ आदि।

५. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक १०३, १५, १६।

यह तथाकथित वेदि एकशृ ग की मुद्राओ पर पशु के गले के नीचे रखी रहती है। एकशृ ग जो इस पर गला ताने खडा पाया जाता है अन्य आवेश म दिखाई देता है। उसका सिर और पूंछ अकडे और कुछ ऊपर को उठे हुए एव आँखें फूली तथा उभरी हुई होती है। इन सकेतो से विदित होता है कि वेदिका स उठते हुए धूप के गध अथवा देवद्रु म के नन्हे पौधे के दर्शन से एकशृ ग धीरे-धीरे आवेश मे आ जाता था।

वेदिका की वास्तविक उपयोगिता पर अधिक प्रकाश डालने के लिये मोहेजो-दडो की मुद्रा न० ३८७ का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। इस मुद्रा पर पीपल का पेड एक ऐसे आधार से उभर रहा है जो मुख्य मुख्य अशो मे एकशृ ग वाली मुद्राओ पर उत्कीर्ण वेदिका के सदृश है। आकार में यह चित्र फलक ४५ ग के समान है। इसम यह वेदिका दो अगो की बनी है—कटाकार मूल भाग और एक छेददार खुले मुँह का पात्र जिसमे स परम देवता का आयतन अश्वत्थ वृक्ष उभर रहा है। पीपल के स्कध के दोनो ओर एक-एक कुंडलाकार बिसतन्तु अथवा मृणाल है। इसमे महत्त्व की बात यह है कि जिस प्रकार एकशृ ग वेदिका पर गला तानकर खडा होता है। इसी प्रकार इस चित्र म भी देवद्रु म से लटकते हुए एकशृ ग के दोनो सिर वेदिकाकार इस आधार पर भी तने हुए है। इसलिय यह बहुत सम्भव है कि यह आधार जिसमे स अश्वत्थ उभर रहा है और जिसके तने के दोनो ओर एकशृ ग के मुंड लटक रहे हैं वही वेदिका है जो एकशृग की मुद्राओ पर प्राय देखी जाती है। यदि यह अनुमान ठीक है तो मुद्र गत चित्र सिन्धुवेदिका के प्रयोजन को बहुत स्पष्ट रूप मे व्यक्त करता है। मार्शल महोदय का सुझाव है कि एकशृ ग की मुद्राओ पर बनी हुई वेदिका एक प्रकार की धूपदानी थी। नीचे के पात्र (प्याले) मे अगारे और ऊपर के कोष्ठ म गधद्रव्य रखे जात थे। मद मद जलते हुए गधद्रव्य का धुआँ सूँघने म एकशृ ग आवेश म आ जाया करता था। परन्तु पूर्वोक्त आलोचना के प्रकाश मे यह अनुमान लगाना बहुत युक्तिसगत है कि यह वेदिका गधद्रव्य जलाने के लिये नही अपितु अश्वत्थ के नन्हे पौधे को पालने के लिये एक पवित्र आधार था। क्योकि एकशृ ग सिन्धुकालीन लोगो के परमदेव अश्वत्थ देवता का कृपापात्र पशु और सम्भवत वाहन था, इसलिय यह स्वाभाविक ही था कि वह वेदिकास्थ पौधे को देख अथवा सूँघ कर आवेश म आ जाता।

मोहजो दडो की मुद्राछाप न० ५ और ८ पर इस वेदिका को वृक्ष पूजा के उत्सव समारोह म प्रदर्शन किया गया है (फलक २२, ड)। उत्सव मे चार मनुष्य भाग ले रहे हैं। छाप के दाएँ और बाएँ किनारे वाले मनुष्यो के हाथो मे वेदिकाएँ है। तीसरा मनुष्य अपन हाथ मे एक दड उठाए हुए है और इस दड के शिखर पर दो
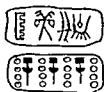
क ख ग घ

ङ च छ

ज झ ञ ट ठ

ड ढ ण त थ

फलक २३. सिन्धु-सभ्यता के धार्मिक चिह्न और व्यंजन

सीगो वाला बैल खड़ा है। चौथे मनुष्य के हाथ मे भी दण्ड है, परन्तु उसकी चोटी पर से माला अथवा ध्वजा जैसी कोई वस्तु लटक रही है। सिन्धु मुद्राओ मे इस प्रकार का अभिप्राय केवल इन दो मुद्राओ पर ही मिलता है। इसका आंशिक सादृश्य जमदेत-नसर काल की सुमेरियन मातृदेवी 'इनन्ना' के चिह्न से है (फलक २२, म, ढ) जो उक्त देवी के मन्दिरो के सामने अथवा ऊपर गडा हुआ देखा जाता है। सम्भवत मोहेंजो दडो की मुद्राओ पर अंकित चिह्न भी सिन्धुकालीन किसी देवी का चिह्न या लाँछन था। हड़प्पा की मुद्राछाप न० ३०६ (फलक २३, क)[1] के दोनो माथों पर एक मनुष्य अपने हाथों मे वेदि को उठाए हुए है और साथ ही चित्राक्षरमय लेख है। इसी खडहर से उत्खात कई मुद्राओ पर केवल वेदि ही बनी है, एकशृङ्ग नही। मुद्रा न० २५६[2] के एक माथे पर वेदि और दूसरे पर दो पंक्ति का लेख है। इसी प्रकार मुद्राछाप न० ३२० (फलक २३, घ)[3] के एक ओर वेदि और दूसरी ओर पचाक्षरी लेख है। मुद्राछाप न० ३२२ (फलक २३, ख)[4] के एक ओर तीन वेदियाँ, बिन्दुमध्य वृत्त और पाँच चित्राक्षर है। क्षुद्राकार मुद्रा न० ४४० (फलक २३, घ)[5] पर एक ओर वेदि और दूसरी ओर चित्राक्षर हैं। हड़प्पा की मुद्राओ पर वेदि का अकेले पाया जाना सम्भवत इस बात का सूचक है कि सिन्धु-सभ्यता के शैशवकाल मे, जबकि अभी एकशृङ्ग की कल्पना नही हुई थी, यह चिह्न अकेला ही अश्वत्थ और तदधिष्ठातृ परम देवता का प्रतीक था। यदि यह सम्भावना ठीक है तो हड़प्पा मोहन्जो-दडो से प्राचीन है क्योकि वहाँ एक भी मुद्रा ऐसी नही मिली जिस पर अकेले वेदिका का ही चित्र बना हो।

धार्मिक चिह्न और व्यजन—सिन्धुकाल मे प्रचलित अनेक धार्मिक चिह्नो तथा पवित्र लक्षणो म सबसे प्रधान स्वस्तिक था। हड़प्पा व मोहेंजो दडो की खुदाई मे बहुत-सी मुद्राएँ ऐसी मिली है जिन पर स्वस्तिक अकेला ही अंकित है, परन्तु कई ऐसी भी है जिन पर यह किसी दूसरे प्रसग मे भी देखा जाता है। ऊपर कुछ मुद्राओं का वर्णन किया गया है जहाँ यह जीवनतरु के स हचर्य म मिलता है। मोहेंजो-दडो मुद्रा न० ३ पर यह एक ऐसे यन्त्र के साथ प्रदर्शित है जो नौ कोष्ठो म विभक्त है (फलक २३, छ)। हो सकता है कि नौ कोष्ठो वाला यह सिन्धु-कालीन यन्त्र

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० २, फलक ६३।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० २ फलक ६१।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० २, फलक ६३।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० २, फलक ६३।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० २, फलक ६६।

ऐतिहासिक काल के नवग्रह यंत्र का पूर्वरूप हो। हड़प्पा की मुद्राछाप नं० ३०६ (फलक १३, ज)[१] के सामने माथे पर एक मनुष्य हाथ में टोकरा उठाये बाघ के सामने खड़ा है और दूसरी ओर पांच स्वस्तिकों की पंक्ति है। उन मुद्राओं में जिन पर केवल स्वस्तिक ही पाया जाता है हड़प्पा की मुद्राछापें नं० ३६७, ३६८ और ३६२ वर्णनीय हैं। काले खड़िया पत्थर की मुद्रा जिस पर चार स्वस्तिक खुदे हैं अच्छा उदाहरण है (फलक २३, ज)। इस मुद्रा की विशेषता यह है कि इस पर बने हुए स्वस्तिकों की भुजाओं के अन्त पर आड़ी रेखाएँ हैं जिनसे उनका आकार हिन्दू जाति मे प्रचलित आधुनिक स्वस्तिक के बिलकुल समान है।

सिन्धु-मुद्राओं पर खुदे हुए कई स्वस्तिको की भुजाएँ दाएँ को और कई की बाएँ को मुड़ी हैं। परन्तु हिन्दुओं के घरों में आजकल जो स्वस्तिक लिखा जाता है वह दक्षिणावर्त ही होता है। वामावर्त को हिन्दू लोग अमंगल समझते हैं। तथापि सिन्धु समाज में बिना भेदभाव के दोनों आवर्त,के स्वस्तिक मंगलमय समझे जाते थे। इसमें सन्देह नही कि पाँच-छ हजार वर्ष पहले भी यह चिह्न वैसा ही शुभ एवं पवित्र था जैसा कि आज।

पीपल का पत्ता—यह एक और चिह्न है जो सिन्धु-निवासियों में स्वस्तिक के समान सुख-सम्पत्ति का सम्वर्धक एवं कल्याणकारी समझा जाता था। हड़प्पा की क्षुद्राकार मुद्राओं पर कहीं-कहीं इसका चित्र पाया जाता है। उदाहरणतः, मुद्रा नं० ४३६ के एक ओर पीपल का पत्ता और दूसरी ओर दो चित्राक्षर हैं (फलक २३, ग)[२] अपनी पवित्रता के कारण ही 'पीपल-का-पत्ता' अभिप्राय सिन्धु-युग की चित्रित कुम्भकला पर प्राय: पाया जाता है।

चतुर्भुज क्रूश—पूर्वोक्त नवकोष्ठमय यन्त्र के अतिरिक्त दो और भी यन्त्र हैं जो किसी प्रकार का धार्मिक अथवा तांत्रिक महत्त्व रखते थे। उनमें से एक का आकार क्रूश के समान है[३] (फलक २३, ङ) और दूसरा एक बहुत जटिल यन्त्र है (फलक २३, छ)[४]। इकहरे और दोहरे क्रूश का अभिप्राय मोहेंजो-दड़ो एवं हड़प्पा की कई बटन-मुद्राओं पर पाया जाता है[५]। एक बटन-मुद्रा पर तीन-तीन क्रूश

---

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ६३
२. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ६३, मु.
३. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ६६।
४. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रं० २, फलक ६३, ४१
५. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक ११६, ५२८ बी, ३६१।

तीन पक्तियाँ हैं[1]। नौ वृत्तों में विभक्त होने के कारण यह अभिप्राय भी पूर्वोक्त नवग्रहाकार यन्त्र के सदृश है (फलक २२, ट)। कई मुद्राओ, जैसे मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० ३१६ (फलक २३, ठ)[2] और हड़प्पा की मुद्रा न० ३६५[3] पर द्विगुण अथवा त्रिगुण रेखामय वर्ग है। मोहेंजो-दडो की बटन-मुद्रा न० ५२५ (फलक २३, ए)[4] पर आडी टेढी रेखाओ का जाल-सा बना है और एक दूसरी मुद्रा पर केवल टेढी ही रेखाएँ है। हड़प्पा की दो बटन-मुद्राओ मे से एक पर खडी और पडी रेखाओ के समुदाय और दूसरी पर दो दोहरे त्रिभुज बने है (फलक २३ क, त)[5]। पूर्वोक्त विविध यन्त्र और अभिप्राय शरीर पर धारण करने की वस्तुएँ होने के कारण अवश्य ही कुछ न कुछ धार्मिक अथवा तान्त्रिक महत्त्व रखते थे।

पशु-पूजा—वृक्ष-पूजा की तरह पशु पूजा भी सिन्धुकालीन लोगो के धर्म का अग था। इसका समर्थन हड़प्पा और मोहेंजो दडो से उपलब्ध मुद्राओं, मुद्राछापो और उन असख्य पशु-मूर्तियो से होता है जो विविध द्रव्यो की बनी हैं। इन पशुओ मे अधिकाश वास्तविक हैं जो उस समय सिन्धु प्रान्त मे पाए जाते थे। परन्तु बहुत से काल्पनिक भी है। ये वास्तविक पशु जिनके शरीर कई जन्तुओ के अगो का योग हैं अलौकिक बलशाली समझे जाते थे और इसलिये लोग इनकी पूजा करते थे। इन विचित्र पशुओ मे सबसे प्रधान वह सकीर्ण पशु है, जिसका सिर मनुष्य का है परन्तु शरीर कई पशुओ के अवयवो का सघात है (फलक १८, ग और २४, क)। इसकी ठोडी के नीचे शतपद (कनखजूरा) इस प्रकार लटक रहा है मानो हाथी की सूंड हो, सिर पर ब्राह्मणी बैल के सीग, आगे का धड मेढे का और पीछे का बाघ का है। पूंछ की जगह एक विषधर पीछे की ओर से आक्रमण करने वाले शत्रु पर घातक प्रहार करने के लिये सदा सजग खडा है। इस विचित्र जीव के सीग, सिर और सूंड को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो बिच्छू का आभास भी होता है। इस काल्पनिक जीव का शरीर सात अथवा आठ विविध अशो का बना हुआ है जिसका भावार्थ यह है कि यह सकीर्ण जन्तु उन सब विलक्षणताओ और विशेष गुणो का सघात है जिनके [illegible] अवयवभूत पशु लोक मे प्रसिद्ध हैं। उसका मस्तिष्क मनुष्य का है, सिर [illegible] सीग न केवल शस्त्र का ही काम देते हैं किन्तु इस बात के भी सूचक हैं

१ वत्स—वही, ग्र० २, फलक ६५, ३८८।
२ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक ११४, ३१६।
३ वत्स—वही, ग्र० २, फलक ६५।
४ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक ११४।
५ वत्स—वही, ग्र० २, फलक ६५।

कि वह देवयोनि का जीव है। शतपदरूपी उसकी सूंड में हाथी की सूंड जैसी प्रहार-शक्ति और कनखजूरे की लोकप्रसिद्ध ग्राह-शक्ति का सुन्दर समन्वय है। उसमे मेढे की वीरता, व्याघ्र की हिंसता और पूंछ में फणिहर की घातकता है[१]। ऐसा संकीर्ण जन्तु जीवनतरु का निस्सन्देह बहुत उपयुक्त संरक्षक था। इसकी तुलना मेसोपोटेमिया में जमदेत नसर काल की शलाका मुद्रा पर खुदे हुए संकीर्ण पशु से है (फलक १३, घ)[२]। इस पशु का सिर हाथी का और शरीर बैल का है। वह भी जीवनतरु के सामने पहरुए के समान खड़ा आक्रमणकारियों से देवद्रुम की रक्षा कर रहा है, जबकि वृक्ष के दूसरी ओर देवता का कृपापात्र वृषभ आनन्द से वृक्ष की टहनियो को चबा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल मे अन्य अभिप्रायों के समान यह अभिप्राय भी सुमेरियन जाति ने सिन्धु-सभ्यता से लिया था। इसका विशेष कारण यह है कि मेसोपोटेमिया में हाथी नही होता, और क्योंकि यह भारतीय पशु है इसलिये इस अभिप्राय का भारत से वहाँ जाना स्वाभाविक ही था। सिन्धु-सभ्यता के संकीर्ण पशु का सबसे स्पष्ट और सुन्दर चित्र हड़प्पा की मुद्रा नं० २४६ (फलक १८, ग) और मोहेंजो-दड़ो की मुद्राओं नं० ४५० (फलक २४, क), ४११ और ३७६ पर है। इनमे से हड़प्पा की मुद्रा पर पशु के विविध अंग बहुत कुशलता से उत्कीर्ण हैं, विशेषत: शतपद जो नरमुण्ड की ठोडी से हाथी की सूंड की तरह लटक रहा है, बहुत सजीव दिखलाया है। इस संकीर्ण जीव की शतपदमयी सूंड को ध्यानपूर्वक देखने से सिन्धुकालीन देवताओं की भुजाओं का स्मरण हो उठता है जिनके सम्बन्ध मे पुरातत्त्ववेताओं ने लिखा है कि ये कंधों से लेकर कलाई तक कगणो से लदी हैं। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ४११ पर खुदे हुए इस पशु की पूंछ स्पष्ट रूप से फणिहर है। मुद्रा नं० ३७८ पर बने हुए इस पशु की पूंछ के स्थान भी साँप अथवा कोई और विषैला कीट है[३]।

दूसरे काल्पनिक पशुओ में अजश्रृङ्ग (बकरे के सीगों वाला) देवता (फलक १६, च)[४], उल्लू के सिर वाला बकरा (फलक २४, ग)[५], सीगों वाला बाघ (फलक

---

१. यह बात उल्लेखनीय है कि मेसोपोटेमिया मे गुडिया पतेसी के यज्ञ-पात्र पर बने हुए संकीर्ण अजगरों की पूंछें भी साँप ही हैं।

२. फ्रैंक फर्ट—सिलिंडर सीलस, फलक ६ सी।

३. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक ११२।

४. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक १११, ३५७।

५. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रं० २, फलक ६७।

फलक २४ सिन्धुयुग के काल्पनिक पशु
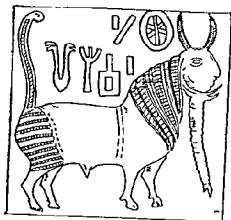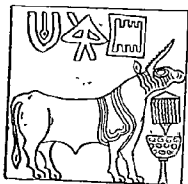
१३, क)[१], तीन सिर वाला पशु (फलक २०, क)[२], तीन उलझे हुए बाघ (फलक २४, ख)[३], और पक्षिमुख मगर (फलक २१, क)[४] वर्णनीय हैं। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ३८३ (फलक २४, च)[५] पर एकशृङ्ग, वन-वृषभ, नंदी बैल, बाघ, गैंडा और भैंसा—इन छः पशुओं के सिर एक हृदयाकार मंडल से किरणों की तरह बाहर को निकल रहे हैं। इसी अभिप्राय का एक सरल एवं संक्षिप्त रूप मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ६४१ पर दिया है (फलक २४, घ)[६]। इसमें केवल एकशृङ्ग का ही सिर यथार्थ दिखलाया गया है। शेष सिरों की जगह पाँच कुटिल रेखाएं ही अंकित हैं। सम्भवतः हृदयाकार मंडल जिसमें से छः पशुमुण्ड निकल रहे हैं, किसी गूढ़ तान्त्रिक रहस्य का व्यंजक था। यह मुद्रा अवश्यमेव एक यन्त्र होगा जिसका अभिप्राय इसके धारण करने वाले के हृदय में बल, बुद्धि, वीर्य आदि उन विलक्षण शक्तियों का संचार करना था जिनके लिये ये उत्तम पशु लोक में प्रसिद्ध हैं। यह हृदयाकार अभिप्राय सिन्धुकालीन चित्रित कुम्भकला तथा मूर्तिकला में अनेक बार पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक धार्मिक चिह्न था[७]।

एकशृंग—लिखित प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि पाँचवीं शती ई० पू० से लेकर ऐतिहासिक काल में लोगों का साधारण विश्वास था कि संसार में एकशृंग लक्षण का पशु वस्तुतः विद्यमान है (फलक २४, ङ)। ईसापूर्व चौथी शती का यूनानी इतिहासकार टेसियस लिखता है कि भारत में एक ऐसा जंगली गधा पाया जाता है जिसके माथे पर दो फुट से अधिक लम्बा सींग और टाँगों में प्रचंड पवनोपम गति है। उसका यह भी कहना है कि इसके सींग के बने हुए पानपात्र में विषदोष दूर करने की अपूर्व शक्ति है। सिकंदर महान् का समकालीन इतिहासकार

---

१. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रं० २, फलक ८६, ३६०।

२. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रं० २, फलक ९६, ४९४।

३. मार्शल—वही ग्रं० ३, फलक ११२, मुद्रा ३९६।

४. मेके—वही ग्रं० २, फलक ९७, मुद्रा ४८८।

५. मार्शल—वही ग्रं० ३, फलक ११२, मुद्रा ३८३।

६. मेके—वही ग्रं० २, फलक ९८, मुद्रा ६४१।

७. मेसोपोटेमिया में बलिरूप से वध किये हुए पशु के कलेजे से शुभाशुभ शकुनों का विचार किया जाता था। ब्रिटिश म्यूजियम में मिट्टी का एक फलक है जिस पर पचास कोष्ठों में विभक्त कलेजे का चित्र है। प्रत्येक कोष्ठ में कलेजे के विशेष-विशेष स्थान के लिये विशेष-विशेष शुभाशुभ शकुन अंकित है।

वूली—दि सुमेरियन्स, पृ० १२७।

थूथनी के चारों ओर बंधा हुआ है और दूसरा उसके मुँह मे से निकल कर आँख के पास से होता हुआ सीग के पीछे की ओर चला गया है[१]। इसी प्रकार मुद्रा नं० ४ में इस पशु के गले मे पट्टी है जिसके निचले सिरे के साथ बंधी हुई एक रज्जु सिर और थूथनी की पर्यन्त रेखाओं के साथ-साथ चलती है। पशु के गले के नीचे वेदिका है जिसमे से धुआँ अथवा देवद्रुम का नन्हा पौधा उभरता हुआ प्रतीत होता है। मुद्रा नं० २४[२] पर एकशृंग के कंधे पर जो आवरण पट है वह झालरदार होने के कारण उन साधारण पटों से भिन्न है जो दूसरी मुद्राओं पर पशु के शरीर पर पाए जाते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह पवित्र आवरण हृदयाकार है। यह अभिप्राय सिंधुलिपि का एक चित्राक्षर है और सिंधु-कुम्भकला पर चित्रित अलंकरणों मे भी पाया जाता है[३]।

मुद्रा नं० ३८ पर एकशृंग के गले के नीचे रखी हुई वेदि के निचले पात्र से सूक्ष्म अंकुर की तरह कोई चीज़ उभरती हुई दिखाई देती है (फलक २४, ड)। यह या तो सूक्ष्म अग्निज्वाला है अथवा पीपल के नन्हे अंकुर। एक छोटी सी रज्जु जो एकशृंग की थूथनी से बंधी हुई मालूम होती है पशु-शरीर की वाह्य सीमारेखा के साथ-साथ चलती प्रतीत होती है[४]। मुद्रा नं० ४० मे रज्जु का एक सिरा पशु के गले मे बँधा है परन्तु दूसरा उसकी अगली टाँगों के बीच में जाता हुआ दिखाई देता है। रस्सी का एक दूसरा टुकड़ा थूथनी में बँधा हुआ है[५]। मुद्रा नं० ९१ पर अंकित एकशृंग के गले में 'षडर-चक्र' चित्राक्षर खुदा है जिसके अभिप्राय का पता लगाना कठिन है[६]।

मुद्रा नं० ११३ मे एकशृंग की पूँछ मूल से ऊपर को उठी है[७]। ऐसा मालूम होता है कि मानों वेदि से उठते हुए धूम अथवा देवद्रुम के गंध से पशु आवेश में आ

---

१. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक १०३।

२. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक १०३।

३. मेसोपोटेमिया में हृदय अथवा कलेजे को जीवन का आधार और आत्मा का निवास-स्थान समझा जाता था। यह सिद्धान्त इस तथ्य पर आश्रित है कि मानव शरीर के समस्त रुधिर का छठा भाग केवल कलेजे मे रहता है। इतना रुधिर शरीर के और किसी अंग में नही होता।

४. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक १०४।

५. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक १०४।

६. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक १०६।

७. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक १०७।

गया हो। यही बात मुद्रा नं० ११४ और ११५ में भी पाई जाती है[1]। मुद्रा नं० ६६१ में आच्छादन-पट एकशृंग के कंधों की बजाय उसकी पीठ पर है। यहाँ भी पशु की थूथनी रज्जु से बँधी हुई मालूम देती है। इसका एक सिरा सिर पर से होता हुआ सींग की जड़ की ओर चला गया है।

वास्तविक पशु—सिंधुकाल के वास्तविक पशु जिनके चित्र मुद्राओं पर उत्कीर्ण अथवा खिलौनों के रूप में पाए गये हैं निम्नलिखित हैं—ब्राह्मणी बैल (वैदिक महर्षभ), गैंडा, छोटे सींगों वाला बैल, वनवृषभ, भैंसा, हाथी, बाघ, मगर, सद्दा, बंदर और बिलाव। क्षुद्र जन्तुओं और पक्षियों में नेवला, गिलहरी, मछली, कछुआ, बिच्छू, कनखजूरा, साँप, केंकड़ा, चील, मुर्ग, कबूतर, फाखता, मोर, बत्तख, चमगादड़ आदि वर्णनीय हैं। मोहेंजो-दड़ो से प्राप्त अनेक ताम्रखंडों पर भी पशुमूर्तियाँ बनी हैं जिनमें कई विचित्र आकार की हैं और उनके वास्तविक स्वरूप का पता लगाना कठिन है। ब्राह्मणी बैल, भैंसा, वन-वृषभ, मगर आदि बड़े पशु पूज्य समझे जाते थे, परन्तु अधिकांश छोटे पशु यद्यपि पूज्य न भी हों, धार्मिक भावना से अवश्य देखे जाते थे। वृक्षों तथा पशुओं में देवता अथवा भूत-प्रेतादि के निवास की कल्पना करना और भयजनित श्रद्धा से उन्हें पूज्य या आदरणीय जानना सभ्यता में निम्न स्तर के मनुष्य का धर्म था। अशिक्षित मनुष्य समाज में हर एक अचम्भे की वस्तु अथवा अगम्य प्राकृतिक रहस्य आसुरी शक्तियों से आक्रान्त समझे जाते थे।

सिंधुमुद्राओं पर खुदे हुए समस्त पशुओं में ब्राह्मणी बैल (वैदिक महर्षभ और पौराणिक नंदी बैल) उत्तम है (फलक २५, क)। सिंधु-सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही वह पूज्य और पवित्र माना जाता था। यह पौराणिक काल के शिव-वाहन नंदी का पूर्वरूप है। उससे उतरकर छोटे सींगों वाला बिना कूबड़ के बैल और भैंसा है (फलक २५, घ)। जीवनतरु के संरक्षक होने के अतिरिक्त ये दोनों पशु सिंधुकालीन धार्मिक समारोहों और उत्सवों में महत्त्वपूर्ण भाग लेते थे। इसका समर्थन मुद्राओं पर खुदे हुए उन चित्रों से होता है जिनमें देव-पुरोहित अथवा याजक इन पशुओं पर से छलाँगें लगाकर इन्हें फाँद रहे हैं। मोहेंजो-दड़ो की मुद्राछाप नं० १ पर एक छोटे सींगों वाला बैल टोकरे में चर रहा है (फलक २१, झ)। इसके सामने खड़ा मनुष्य बाएँ हाथ से एक संयुक्त चित्राक्षर की ओर संकेत और दाएँ से पशु को मंत्र-मुग्ध कर रहा है। सम्भवतः वह मंत्र के द्वारा पशु की भयंकरता को दूर करके इसे सौम्य बनाना चाहता है। इस छाप के दूसरी ओर बाघ और गैंडा एक दूसरे के पीछे खड़े हैं, मानो वे मनुष्य के हाथों इसी सम्मोहन-क्रिया के लिये अपनी अपनी बारी का

१. मार्शल—वही, ग्रं० ३, फलक १०७।

और यहाँ यह कल्पना करना अनुचित नहीं कि शायद मेसोपोटेमिया की तरह सिन्धु प्रान्त मे भी अकाब और कृश सूर्य के प्रतीक चिन्ह थे ।

टोकरा—बहुत-सी सिंधु-मुद्राओं पर कई पशुओं के आगे टोकरा रखा है (फलक २५, ख) । ऐसे पशुओं मे वन-वृषभ, गैंडा और बाघ वर्णनीय हैं । हाथी और भैंसे के आगे कभी टोकरा होता है और कभी नही । इसके विपरीत ब्राह्मणी बैल, और छोटे सीगो वाले बैल के आगे टोकरा कभी नही देखा जाता । मार्शल का विचार है कि इन टोकरो का पालतू पशुओं के साथ कोई सम्बन्ध नही है, क्योकि वे पशु जिनके विषय मे हम कह सकते हैं कि पालतू थे, जैसे ब्राह्मणी वृषभ और छोटे सीगो वाला बैल, बिना टोकरे के है । परन्तु बाघ, गैंडा और वन-वृषभ, जिन्हें मनुष्य ने कभी पालतू नहीं बनाया, के आगे टोकरा पाया जाता है । इसी प्रकार हाथी और भैंसा, जो पालतू एव जगली भी हो सकते हैं, कभी टोकरे के सहित और कभी उसके बिना भी देखे जाते हैं । उनका सुझाव है कि पशु के सामने रखे हुए टोकरे में बलिरूप से कुछ चारा डाला जाता था और जंगली पशु, जिनके सामने यह बलि रखी जाती थी, ठीक उसी प्रकार पूज्य समझे जाते थे जैसे वेदिका वाला एकशृंग । भेद केवल इतना था कि जहाँ वास्तविक पशुओं के आगे बलिरूप से खाद्य वस्तुएँ रखी जाती थी वहाँ काल्पनिक एकशृंग के सामने उसी भावना से वेदिका में बलिरूप से गन्ध जलाया जाता था ।

मार्शल महोदय की पूर्वोक्त कल्पना युक्तिसगत है, परन्तु क्योकि यह बलि *केवल जंगली पशुओं के आगे ही धरी जाती थी,* इसलिए ऐसा करने का वास्तविक अभिप्राय उनकी पूजा करना नही था अपितु उनमें आविष्ट भूत-प्रेतादि आसुरी शक्तियों को सन्तुष्ट करके उनकी हिंस्रता को दूर करना और उन्हें मनुष्य का उपकारक बनाना था । इस प्रसंग में मैं दो सिंधु-मुद्राओं का प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ । इनमे से एक मोहेंजो-दड़ो की मुद्राछाप नं० १ है जिसके एक तरफ छोटे सीगो वाला बैल टोकरे पर मुँह ताने खडा है [१] । सामने एक मनुष्य उसकी ओर ताक रहा है । मनुष्य ने अपनी दाहिनी भुजा बैल की ओर फैलाई है और बाएँ हाथ से वह एक संयुक्त चित्राक्षर की ओर सकेत कर रहा है (फलक २१, झ) । बैल टोकरे में मुँह डालने से कुछ हिचकिचा रहा है मानो वह इस खाद्य में किसी षड्यंत्र अथवा कूटचाल की शंका कर रहा हो । इस ऐंद्रजालिक मनुष्य के दायें हाथ की मुद्रा ठीक उस यक्ष की हस्तमुद्रा के समान है जो जीवनतरु पर बैठकर व्याघ्र-दानव को मंत्र-मुग्ध करने की चेष्टा में प्रवृत्त दिखाई देता है । मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ३४७ पर

१. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक १०१ ।

प्रदर्शित सकीर्ण देवता का हाथ भी इसी मुद्रा मे है[1]। पूर्वोक्त मुद्राछाप न० १ पर जिस चित्राक्षर की ओर ऐंद्रजालिक निर्देश कर रहा है वह फलक १३, ठ मे निर्दिष्ट दो चित्राक्षरो का योग है। इनमे पहला अक्षर अश्वत्थ देवता का प्रतीक और दूसरा समृद्धि या उपहारक वहँगी वाला है (फलक १३, ठ)। सयुक्ताक्षर का तात्पर्य है—'समृद्धि का देने वाला परमदेवता"। एक हाथ से चित्राक्षर को छू कर और दूसरे हाथ को तात्रिक मुद्रा मे बैल की ओर तान कर ऐंद्रजालिक मानो इस मन्त्र का उच्चारण कर रहा है—"परम देवता की कृपा से तुम सौम्य बन जाओ और साथ ही मेरे लिए सौभाग्य और समृद्धि का कारण बनो।" इस चित्र से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उद्दण्ड जगली पशु को सौम्य तथा उपकारक बनाने के लिए पुरोहित परमदेवता की सहायता का आवाहन कर रहा है। इस छाप के दूसरे माथे पर दो और जगली पशु—गैंडा और बाघ-सम्भवत. ऐंद्रजालिक के हाथ से उसी प्रकार की मन्त्र क्रिया के लिए अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रह है। हड़प्पा की मुद्राछाप न० ३०६ के एक ओर एक मनुष्य टोकरा उठाए बाघ के सामने खडा है मानो उसके आगे बलि रखने के लिए जा रहा हो[2]। इसके दूसरी ओर पाँच स्वस्तिक और कुछ चित्राक्षर है (फलक १३, ज)। स्वस्तिक का तात्पर्य मुद्राछाप को धारण करने वाले के लिए सौभाग्य और समृद्धि लाना था। यह मुद्राछाप स्पष्टत एक मन्त्र (तावीज) था, जिसका अभिप्राय व्याघ्रभय का निवारण करना था। ऐसे यन्त्र इस बात के प्रतीक हैं कि मोहजो दडो और हड़प्पा के चारो ओर हिंस्र जन्तुओ से सकुल सघन वन थे। इन जन्तुओ से बचने के लिए लोग अन्ध-विश्वास के वशीभूत हो यन्त्र, मन्त्र आदि की शरण लेते थे। इन चित्रो से यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि जगली पशुओ को वस्तुत बन्दी बना कर उनके आगे भोजन की बलि रखी जाती थी। ये चित्र काल्पनिक और असत्य हैं और वन्य पशुओ से सम्भूत भय के निवारण के लिए केवल यन्त्ररूप से प्रयोग मे लाए जाते थे। ऐसे यन्त्रो से यह अनुमान लगाना भी कठिन नही कि सिंधु निवासियों के हृदय हिंस्र पशुओ के आतक से यहाँ तक भयाक्रान्त थे और इसके फलस्वरूप वे तन्निष्ठ आसुरी शक्तियो के शमन के लिए किस प्रकार यत्नशील रहते थे।

मोहजो दडो की कुछ मुद्राओ पर बडे रोचक दृश्य है जिनका यहाँ वर्णन करना आवश्यक है। मुद्रा न० २७९ पर एक मनुष्य तथा भैंसे के बीच द्वन्द्व युद्ध हो रहा है (फलक २७, ४)[3]। मनुष्य का एक पाँव भैंसे की थूथनी पर और दूसरा भूमि पर

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ८९, ३४७।

२. वत्स—एक्सकेवेशन्स हड़प्पा, ग्र० २, फलक ९३।

३ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ८८।

जमा है। एक हाथ से सींग पकड़ कर दूसरे हाथ से वह इसकी पीठ में भाला घोंप रहा है। भैंसे के गले के नीचे एक चित्राक्षर है। यह दृश्य या तो जंगली भैंसे के शिकार का है अथवा पशुबलि का। सम्भव है कि महिषमुण्ड देवता से सम्बद्ध होने के कारण भैंसा पशुरूप में कोई देवयोनि का जीव हो जो नररूप आक्रमणकारी दानव से युद्ध कर रहा हो। इस सम्भावना का समर्थन मुद्राछाप नं० ११[1] बी (फलक २६, ग) से होता है जहाँ प्रतिद्वन्द्वी मनुष्य से लड़ने वाले बैल की रक्षा एक नाग कर रहा है। बैल के पीछे नाग के होने का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि सम्भवतः बैल पशुरूप में एक नाग उपदेवता हो।

मुद्रा नं० ५१० पर एक विचित्र उत्सव-दृश्य है। इसमें कृत्रिम चोटियाँ पहने हुए पाँच मनुष्य जो सम्भवतः देव-पुरोहित है, एक भैंसे पर से फाँदते हुए दिखलाए गए है। इनमें से दो मनुष्य सिर के बल भूमि पर गिर पड़े हैं परन्तु शेष तीन अभी आकाश मे ही हैं (फलक २७, ५)[2]। ऊपर के बायें कोने पर जो मनुष्य छलाँग भर रहा है उसका सिर नीचे की ओर और धड़ दोहरा हो गया है। इसने बैल को फाँद लिया है और अब भूमि पर गिरने ही वाला है। भैंसे के सीगों में उलझे हुए नटिये की कृत्रिम चोटी पशु की पीठ पर पीछे की ओर उड़ रही है और उस दिशा की ओर संकेत करती है जिधर से नटिये ने छलाँग लगाई है। भैंसे पर से फाँदने की क्रिया महिषमुण्ड देवता से सम्बद्ध किसी उत्सव का अंग मालूम होती है। मुद्रा नं० १२ (फलक २८, ग)[3] पर भी इसी प्रकार का दृश्य बना है। यहाँ नीचे के बायें कोने पर एक भैंसा बना है। इसके सामने एक खिलाड़ी एक टाँग के बल खड़ा भुजाओं को सामने सीधा ताने हुए है। मनुष्य की विलक्षण मुद्रा से प्रतीत होता है कि वह छलाँग लगाकर भैंसे को फाँदने ही वाला है। इसके अतिरिक्त तीन और नटिये पशु को फाँदने के प्रयत्न में आकाश में उड़ते दिखाई दे रहे हैं। मुद्रा के दाएँ कोने पर 'केड्यूसस' के आकार का चित्र है जो जमेदत-नसर काल के सुमेरियन अलंकरणों में से एक है। यद्यपि इस मुद्राछाप पर चित्र अस्पष्ट है तथापि प्रतीत होता है कि यह 'नाच का दृश्य' नहीं, जैसा मेके महोदय ने इसे समझा है, किन्तु भैंसे को फाँदने की धार्मिक क्रीड़ा का दृश्य है। इसी प्रकार का दृश्य मुद्रा नं० ८ (फलक २०, ख)[4] पर पाया जाता है। इसमें एक पुरोहित अथवा याजक भैंसे के स्थान छोटे सींगों वाले

१. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रं० २, फलक ६२।

२. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रं० २, फलक ६६, ५१०।

३. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रं० २, फलक ६१।

४. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रं० २, फलक १०३।

साँड को फाँद रहा है। इस उत्सव या अभिनय महिषमुण्ड देवता की अध्यक्षता मे जीवननाट्य के सामने सम्पन्न हो रहा है।

इनके अतिरिक्त बहुत से छोटे पशु और पक्षी भी सिंधु-मुद्राओ पर उत्कीर्ण अथवा खिलौनो के रूप मे मिले है। पशुओ मे भेड़ा, सूअर, कुत्ता, बन्दर, खरगोश, गिलहरी, बिलाव आदि और पक्षियो मे सुग्गा, चील, मुर्ग, मोर, कबूतर, उल्लू[१] आदि पाए जाते हैं। भेड़े और गिलहरियो की मूर्तियो के गलो मे छेद हैं जिससे मालूम होता है कि इन्हे भी तावीजो की तरह शरीर पर धारण करते थे।

इस कल्पना की पुष्टि मे पर्याप्त प्रमाण है कि मेसोपोटेमिया के साथ सिंधु प्रान्त का सम्पर्क 'उरुक' काल के आरम्भ से लेकर ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी के प्रथम चरण तक रहा। इसमे भी सन्देह नही कि इस दीर्घकाल मे दोनो देशो ने कला और धर्म के विषय मे एक दूसरे को प्रभावित किया। गिलगेमेश कथानक के विषय मे सुमेर तथा सिंधु सभ्यता मे परस्पर सादृश्य की चर्चा पहले की जा चुकी है। मार्शल के मत मे 'हम इस सम्भावना की उपेक्षा नही कर सकते कि गिलगेमेश और 'ई बनी' आदि वीरो की प्रथम कल्पना सिंधु के काठे मे हुई और उत्तरकाल मे सुमेरियन लोगो ने इन्हे अपने कथानको मे समाविष्ट कर लिया।" सिंधु-सभ्यता तथा पश्चिमी एशिया मे मनुष्य के सिर पर सीगो का होना देवता का लक्षण समझा जाता था। दूसरे प्रमाण जिनसे पता लगता है कि प्राक्-राजावली तथा प्रारम्भिक राजावली काल मे भी सिंधु प्रान्त और मेसोपोटेमिया मे परस्पर सम्पर्क था पहले विस्तारश वर्णन किए जा चुके हैं।

मार्शल महोदय का सिद्धान्त है कि 'सिंधुकालीन धर्म हिन्दूधर्म का पितृ-स्थानीय था। उनके मत मे उत्तरकालीन हिन्दूधर्म की बहुत-सी विलक्षणताएँ जैसे शिव, मातृदेवी, शक्ति, कृष्ण, नाग, यक्ष आदि की उपासना, पशु, वृक्ष, लिंग आदि की पूजा, योग मार्ग, जीव का आवागमन, आदि-आदि बातें वैदिक साहित्य में नही पाई जाती। भारत की आदिवासी जातियों के साथ दीर्घकाल तक सम्पर्क रहने के कारण भारतीय आर्य-जाति ने ये सब सास्कृतिक विशिष्टताएँ उनसे सीखी और अपने साहित्य एव धर्म-पद्धति मे समाविष्ट कर ली'।

इस विषय मे उनसे मेरा मतभेद है। जब तक भारत मे आर्य जाति के प्रवेशकाल का ठीक पता नही लगता उनके पूर्वोक्त सिद्धान्त का अनुमोदन नही किया जा सकता। इस प्रश्न पर भारत के पुरातत्त्ववेत्ताओ मे इतना मतभेद है कि आर्य-

---

१ मेकेंजी महोदय के अनुसार मेसोपोटेमिया मे उल्लू और कबूतर यम के दूत समझे जाते थे।

जाति के प्रथम भारत-प्रवेश का यथार्थ कालनिर्णय करना भयावह है। हड़प्पा की संक्षिप्त खुदाई के आधार पर डा० व्हीलर का इस निर्णय पर पहुँचना कि आर्य-जाति ईसापूर्व १५०० के लगभग भारत मे आई भ्रममूलक होने से अतीव अश्रद्धेय है। दूसरी विचारणीय बात यह है कि अभी तक इस सम्बन्ध में यह मालूम नही हो सका है कि सिंधु-सभ्यता के निर्माता लोग किस जाति के थे। तत्कालीन साहित्य के अत्यन्ताभाव के कारण हमें यह भी मालूम नही कि इन लोगों के दार्शनिक एव वैज्ञानिक विचार कैसे थे।

८

सिन्धु-सभ्यता और क्रीट द्वीप के बीच प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्ध

वर्तमान शती के पहले चरण मे सिंधु-सभ्यता की उपलब्धि ने पुरातत्त्व जगत् मे जिस नए युग का सूत्रपात किया उसने न केवल भारत के प्राचीन इतिहास की रूपरेखा ही बदल दी, अपितु प्रागैतिहासिक भारत तथा पश्चिमी एशिया की समकालीन सस्कृतियो के तुलनात्मक अध्ययन की नीव भी रख दी। अब यह निश्शक कहा जा सकता है कि ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के मध्य से लेकर दूसरी सहस्राब्दी के पहले पाद तक सिंधु प्रान्त तथा सुमेर, इलम और ईरान मे परस्पर घनिष्ठ सास्कृतिक सम्बन्ध रहा। गवेषणापरायण प्रो० चाईल्ड ने अपनी पुस्तक मे ठीक ही लिखा है कि मध्यपूर्व की प्रागैतिहासिक सभ्यताओ पर सिंधु सभ्यता की सास्कृतिक छाप अपेक्षाकृत बहुत गहरी लगी है। उन देशो मे जो भारतीय पुराण वस्तुएँ मिली उनकी सख्या भारत मे प्राप्त विदेशीय वस्तुओ की अपेक्षा बहुत बढ चढ कर है। ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्य मे लिपि एव कुम्भकलाओ के विषय मे भारत सुमेर तथा इलम से न केवल बहुत उन्नत ही था अपितु अपनी उत्कृष्ट कलाओ की विशिष्टता के कारण पडोसी देशो को अपनी कलाकृतियो के आदर्श भी लगातार भेजता रहा।

वृष द्वन्द्व-युद्ध की क्रीडाएँ—प्रकरण वश यहाँ सिंधु-सभ्यता तथा क्रीट द्वीप की प्रागैतिहासिक मिनोअन सभ्यता के बीच एक महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालना आवश्यक है। इस सम्बन्ध की खोज का श्रेय डाक्टर सी० एल० फाब्री को है जिन्होने सन् १९३५ मे इस विषय पर पहला लेख भारतीय पुरातत्त्व-विभाग की १९३४-३५ की वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित किया था। उनके इस लेख का शीर्षक है—'क्रीट की वृषद्वन्द्व युद्ध क्रीडाएँ और सिंधु-सभ्यता मे वृष-बलिदान।" साधारणत यद्यपि मेरा उनसे ऐकमत्य है, तथापि मार्मिक-बिन्दुओ तथा महत्त्वपूर्ण अन्तिम निर्णय मे मेरा दृष्टिकोण उनसे बहुत भिन्न है। इस समालोचना की प्राणरूप दो खड़िया पत्थर की मुद्राएँ और तीन मिट्टी की मुद्राछापें हैं जो २६ वर्ष हुए मोहजो-दडो की खुदाई मे प्राप्त हुई थी। इन पर अकित चित्रों तथा मिनोअन सभ्यता के उदाहरणो मे परस्पर तुलना के लिए डा० फाब्री मिनोअन महल के कतिपय भित्ति-चित्रो, उत्कीर्ण मूर्तियो तथा मुद्राछापो की प्रतिकृतियो का उल्लेख करते हैं।

क 1

ख 2

ग 3 घ 4

फलक २६. सिंधु-युग तथा मिनोअन क्रीट द्वीप की वृषोत्प्लव क्रीड़ाएँ

ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी अर्थात् आज से प्रायः ३५०० वर्ष पहले मिनोअन काल के क्रीट द्वीप में मातृदेवी के प्रसाद के लिए कुछ धार्मिक क्रीडाएँ खेली जाती थी, जिनमे युवक और युवतियाँ भाग लेते थे। अपने प्राणो की बाजी लगाकर ये तरुण खिलाडी रगभूमि मे कूदते हुए मदमत्त बलिष्ठ बैल से मुठभेड करते और सीगो को पकड उलटी छलाँग लगाकर उस पर से फाँद जाते थे। अन्त मे खेलो की समाप्ति पर उसे मातृदेवी के सामने बलि चढा देते थे। पूर्वोक्त सिंधु मुद्राओ का उल्लेख करते हुए डा० फाब्री लिखते हैं—

"क्रीट द्वीप की वृषोत्प्लव क्रीडाओ की तरह सिंधु प्रान्त मे भी इन क्रीडाओ के दो भाग थे। प्रथम वृषोत्प्लव और दूसरा मातृदेवी के आयतन के सामने यज्ञवृषभ का बलिदान।"

डा० फाब्री ने क्रीट द्वीप की वृषोत्प्लव क्रीडाओ का जो विवरण दिया है उससे मेरा उनसे ऐकमत्य है। परन्तु जहाँ तक सिंधु-मुद्राओ के विवरण का सम्बन्ध है मेरा उनसे मौलिक मतभेद है। फलक २७, ३ मे दिए हुए चित्र के वर्णन-प्रसग मे वे लिखते हैं—

'बाएँ हाथ वाली मुद्रा पर अकित चित्र दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। चित्र का बायाँ भाग, जिसमें वृक्ष, चौतरा, यूप और पक्षी दिखलाए गए हैं, बहुत ही महत्त्व रखता है। इससे मेरी तुलना का अक्षरशः समर्थन होता है। मुद्रा के दक्षिणार्ध मे एक बैल सिर नवाए आक्रमण कर रहा है। यद्यपि इस मुद्रा का कुछ अश टूट गया है, फिर भी नटिये की भुजा और हाथ बैल के सीगो को ठीक उसी प्रकार पकडने को तैयार है जैसे फलक २६, क मे दिए हुए चित्र मे क्रीट द्वीप की तरुणी पकड रही है। इसी प्रकार एक दूसरा नटिया उलटी छलाँग लगाकर कुशलता से हाथो के सहारे बैल की पीठ पर इसलिए उतर रहा है कि वहाँ क्षण भर विश्राम लेकर दूसरी छलाँग मे रगभूमि मे कूद सके। यह नटिया सब प्रकार से मिनोअन काल के क्रीट के नटिये के समान है।"

इस तुलना मे आपत्ति यह है कि पूर्वोक्त सिंधु मुद्रा तथा क्रीट के चित्रो मे जो सादृश्य दिखलाया गया है, वह अधूरा-सा है। क्रीट के चित्रो मे एक भी ऐसा उदाहरण नहीं जहाँ ये धार्मिक खेल देवद्रुम के सामने खेले जा रहे हो। मैंने इस सिंधु मुद्रा (फलक २७, ३) का सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण किया है। मुझे इसमे सन्देह है कि बैल के सीगों पर जो वस्तु दिखाई देती है वह मनुष्य का हाथ है। दूसरी आपत्ति यह है कि मिनोअन चित्रो मे नटिये स्पष्ट रूप से बैल की पीठ पर उलटे खडे दिखाए गए हैं, परन्तु सिंधु मुद्राओ पर इस प्रकार का अभिनय नहीं पाया जाता। इनमे नटिये पशु के सामने अथवा पिछवाडे से छलाँग भर कर उसकी पीठ को छुए बिना दूसरी ओर
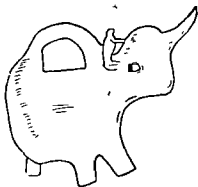
फलक २७

भूमि पर उतरने के प्रयत्न मे दिखाई देते है। फलक २१, ख के दक्षिणार्ध मे नटिया बैल के सामने से कूद कर एक वलवत्तर छलांग से बैल को फाँद रहा है। परन्तु फलक २७ ५ के चित्र मे जहाँ बैल के स्थान पर भैसा बना है, नटिये पशु के पिछवाडे से कूदकर उलटी छलांगें भर रहे हैं। इसका समर्थन पशु के इर्द-गिर्द क्रियाशील खिलाडियो की गतिविधि तथा पाँचवे नटिये की उडती हुई चोटी की दिशा से होता है, जो भैसे के सीगो मे अटक गई है।

डा० फाब्री पुन लिखते हैं—

"प्रस्तुत चित्र मे अंकित खिलाडी स्त्रियाँ प्रतीत होती हैं, यद्यपि चित्र न० ख (फलक २०) मे प्रदर्शित खिलाडी स्पष्ट रूप से पुरुष हैं।"

यथार्थ मे पूर्वोक्त सिधु-मुद्रा पर अंकित मूर्तियाँ इतनी अस्पष्ट हैं कि इनमे स्त्री अथवा पुरुष की विवेचना करना असम्भव है। भैसे के सीगो मे अटका हुआ नटिया वहाँ से छुटकारा पाने के लिए भरसक प्रयत्न कर रहा है। मिनोअन खिलाडियो की तरह जानबूझ कर पशु के सीगो को नही पकड रहा। न ही भैसे के आगे भूमि पर गिरे हुए दो नटियो की समानता "वाफिओ के सुवर्णपात्र" पर अंकित मानव-मूर्तियो से की जा सकती है, क्योंकि वहाँ जो चित्र दिखलाया गया है वह जगली बैलो को जाल मे फाँसने का है जिसका मातृदेवी से कोई सम्बन्ध नही है।

क्रीट में यज्ञवृषभ का बलिदान—जैसा पहले निर्देश किया गया है, क्रीट मे वृषोत्सव क्रीडाओ की परिसमाप्ति मातृदेवी के उपलक्ष्य मे बैल के बलिदान से होती थी। इसकी पुष्टि मे डाक्टर फाब्री फलक २६, ख के चित्र का उल्लेख करते हैं, जो कि सर आर्थर ईवान्स की पुस्तक मे प्रकाशित मिनोअन महल के भित्तिचित्र की रूपरेखा है। इसमे बलिदान किए हुए बैल के शव को एक काष्ठ पीठ पर रखा गया है और एक पुजारिन दो अनुचरो के साथ देवी के आयतन देवद्रुम के सामने बलि की भेंट कर रही है। देवद्रुम के सामने एक यूप है जिसकी चोटी पर देवी का प्रतीक दो-मुँहा कुल्हाडा और दिव्य कपोत बने हैं।

डा० फाब्री का दृढ विश्वास है कि क्रीटद्वीप की तरह सिधु प्रान्त मे भी पूर्वोक्त वृषोत्सव क्रीडा का उद्यापन बैल अथवा भैसे के बलिदान मे ही होता था। इस सम्बन्ध मे वे तीन सिंधुमुद्राओं के साक्ष्य का प्रमाण उपस्थित करते हैं। इन मुद्राओ की प्रतिकृतियाँ फलक २०, ग तथा फलक २७, ४ मे उद्धृत हैं। यह ठीक है कि इन मुद्राओ मे एक मनुष्य भाले से बैल अथवा भैसे पर आक्रमण कर रहा है। परन्तु इनमे ऐसा कोई सकेत नही जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि पशु का बध मातृदेवी के उपलक्ष्य मे किया जा रहा है। हो सकता है कि यह किसी योद्धा और पशु के बीच द्वन्द्वयुद्ध का दृश्य हो। मुद्रा न० ख (फलक २०) मे एक शमीवृक्ष

अवश्य है, परन्तु इसे मातृदेवी का प्रतीक समझना सम्भव नहीं, क्योंकि सिंधु-मु
पर बने हुए चित्रों में इस वृक्ष का कहीं भी उक्त देवता से सम्बन्ध सिद्ध नहीं होत

देवद्रुम कथानक—हाँ, यह बात सुविदित है कि सुमेरियन कथानक की
सिंधु-सभ्यता में भी एक देवद्रुम कथानक था। प्राचीन सिंधु-निवासी पीपल
शमी को देवद्रुम मानकर उनकी पूजा करते थे। इनमें शमी 'जीवनतरु' और पं
'ज्ञानतरु' अथवा 'सृष्टितरु' समझा जाता था। मुद्राकित चित्रों से यह भी प्रतीत
है कि देवताओं से जीवनतरु को छीनने के लिए दानव सदा यत्नशील रहते थे। देव
के समान वे भी इस देवद्रुम की शाखाओं को अपने सिरों पर धारण करना चाह
जिससे वे मृत्यु और पराजय पर विजय प्राप्त कर सकें। सिंधु-मुद्राओं पर ऐसे ३
दृश्य हैं जिनमें व्याघ्र-दानव जीवनतरु की शाखा चुराने के लिए बार-बार आत
परन्तु देवद्रुम का दिव्य संरक्षक उसकी पाप-वासना को सफल नहीं होने दे
इस संरक्षक के अतिरिक्त देवद्रुम के और भी कई एक पहरए थे। इनमें नर-वृ
नरमुण्ड संकीर्ण जन्तु और तीन सिर वाला पशु वर्णनीय हैं। सम्भव है कि पू
दो मुद्राओं (फलक २०, ग तथा फलक २७, ४) पर जहाँ बैल अथवा भैंसे पर म
भाला चला रहा है, पशु जीवनतरु का संरक्षक ही हो और प्रतिद्वन्द्वी मनुष्य न
में दानव हो।

नागदेवता—इस सम्भावना का आंशिक समर्थन इस बात से भी होता है
एक सिंधु-मुद्रा पर शक्तिधर मनुष्य से युद्ध करने वाले बैल के पीछे नाग ख
(फलक २०, ग)। डा० फाब्री के विचार में यह नाग मातृदेवी का प्रतीक है। प
यह सम्भव नहीं, क्योंकि सिंधु-मुद्राओं पर इस जन्तु का देवी के साथ साहचर्य
दिखाई नहीं देता। इसके विपरीत यह एक स्वतन्त्र नाग देवता है, जैसा कि दो
मुद्राओं से प्रतीत होता है (फलक १६, ज)। इन मुद्राओं में महिषमुण्ड प्र
देवता के पार्श्ववर्ती दो नररूप उपदेवताओं के पीछे एक-एक नाग खड़ा है। एक
सिंधु-मुद्रा पर नाग काष्ठपीठ पर सिर रखे देवद्रुम की रक्षा कर रहा है (फलक
ड)। पूर्वोक्त साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि चित्र नं० ग (फलक २०)
मनुष्य से युद्ध करने वाला बैल सम्भवतः पशुरूप में कोई देवता ही है, जो दे
की रक्षा के लिए आक्रमणकारी किसी नररूप दानव से लड़ रहा है। मोहेंजो
की मुद्रा नं० डी० के० ४५४७ (फलक २०, छ १) पर जो तीन मनुष्य वृक्ष
ओट में खड़े हैं वे डा० फाब्री के मत में तीन स्त्रियाँ हैं, जो फलक २६, ख पर

चुराने आए हों, जबकि वृक्ष का संरक्षक बैल एक और दानव से युद्ध में व्यस्त था। डा० मेके की पुस्तक में प्रकाशित इस मुद्राछाप के छाया-चित्र में ऐसा प्रतीत होता है कि तीन मानव-आकृतियों में से पहली, जो वृक्ष के साथ खड़ी है, वृक्ष की ओर हाथ उठाए हुए है। शेष दो मानव-आकृतियाँ शायद चित्राक्षर ही हों।

फलक २० ख, की व्याख्या के प्रसंग में डा० फाब्री लिखते हैं कि इसके दक्षिणार्ध में जो दृश्य है उससे उनके इस सिद्धान्त की सुतराँ पुष्टि होती है कि क्रीट द्वीप की वृषोत्प्लव क्रीडाएँ सिंधु-सभ्यता की क्रीडाओं का पूर्वरूप हैं। इससे वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि आज से ४००० वर्ष पहले सिंधु-निवासियों ने इन खेलों को क्रीटद्वीप की मिनोअन सभ्यता से सीखा था। वे लिखते हैं—

"फलक २०, ख, में प्रदर्शित सिंधु मुद्रा के चित्र में मिनोअन क्रीडाओं का प्रत्येक विवरण विशद रूप से प्रतिबिम्बित है। क्रीट के देवद्रुम की तरह यहाँ भी देवद्रुम प्राकार-परिवेष्ठित है। प्राकार के बाहर चौतड़े से उभरता हुआ एक यूप भी है, जिसके शिखर पर दोमुँहा कुल्हाड़ा है जो क्रीट में मातृदेवी के मन्दिरों में प्रायः पाया जाता है। सबसे महत्त्व की बात यह है कि मातृदेवी का प्रिय कपोत उसके प्रतीक रूप देवद्रुम के सामने यूप के शिखर पर बैठा है।"

यूप शिखर पर महिषमुण्ड—सिंधु-मुद्राओं के सूक्ष्म परीक्षण के अनन्तर मैं इस निर्णय पर पहुँच सका हूँ कि इनमें अंकित दृश्यों के मार्मिक विवरण डा० फाब्री के उक्त सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते। यह ठीक है कि देवद्रुम प्राकार से घिरा है और प्राकार के प्रवेश द्वार के साथ एक यूप भी है। परन्तु यूप के शिखर पर न तो दिव्य कपोत है और न कोई ऐसा लक्षण ही जो मातृदेवी का सूचक समझा जा सके। वस्तुतः यूप के शिखर पर भैंसे का पार्श्वदर्शी (एकचरम) सिर है, जिसके सींगों में से अश्वत्थ-निवासी परमदेवता के प्रतीक पीपल की शाखा-शिखंड उभर रहा है। शिखंड से मण्डित भैंसे का सिर उस महिषमुण्ड देवता के सिर का अनुकरण है जिनका सर्वांगीण रूप मोहेंजो दड़ो की मुद्रा न० ४२० (फलक १८, क) पर प्रदर्शित है। इस महिषमुण्ड देवता की अध्यक्षता में एक पुरोहित वृषोत्प्लव धार्मिक खेल का अभिनय कर रहा है। चित्र में पूज्यतम विषय शमी देवद्रुम है जिसकी रक्षा तथा अर्चना करना देवता भी अपना अहोभाग्य समझते थे। परन्तु चित्रगत विषय में ऐसा कोई संकेत नहीं जिससे मान लिया जाये कि क्रीट की तरह सिंधु-सभ्यता में भी देवद्रुम मातृदेवी का प्रतीक था। इसके विपरीत देवद्रुम और महिषमुण्ड देवता के साहचर्य से तो यही प्रतीत होता है कि यह वृक्ष इसी देवता से सम्बद्ध था, ठीक उसी प्रकार जैसे क्रीट में यूपों के शिखर पर बना हुआ दोमुँहा कुल्हाड़ा और दिव्य कपोत मातृदेवी के प्रतीक थे।
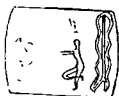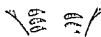
फलक २८. सिंधु-युग तथा मिनोअन क्रीट द्वीप की वृषोत्प्लव क्रीड़ाएँ

उपसंहार—यद्यपि सिंधु तथा क्रीट के चित्रो में सादृश्य सर्वांगीण नही है, फिर भी दोनो देशों की वृषोत्प्लव क्रीडाओ मे परस्पर बहुत समानता है। इसमे सदेह नही कि ये क्रीडाएँ किसी धार्मिक उद्देश्य से एक ही प्रकार से खेली जाती थी, पर यह मान लेना कठिन है कि अति दूरस्थ दो देशो मे इन सजातीय क्रीडाओ का प्रादुर्भाव स्वतन्त्र रूप से हुआ होगा। अस्तु, इनका प्रादुर्भाव चाहे किसी प्रकार से भी हुआ हो, प्रश्न यह है कि क्या, जैसा कि डा० फाब्री समझते हैं, इन क्रीडाओ को भारत ने क्रीट से लिया, अथवा इसके विपरीत क्रीट ने उन्हे भारत से प्राप्त किया। यदि उनके मत को अपनाया जाए तो इसमे कालमान की विषमता का समन्वय करना अतीव कठिन हो जाएगा।

वृषोत्प्लव क्रीडाओ का प्राचीनतम प्रमाण जो क्रीट मे मिलता है वह बैलो की मृण्मय मूर्त्तियाँ हैं, जिनके सीगो के साथ छोटी-छोटी मनुष्य आकृतियाँ चिमटी हैं (फलक २८, घ, ख); सर आर्थर ईवान्स के मतानुसार ये उन वृषोत्प्लव-क्रीडाओ का पूर्वरूप हैं जो उत्तरकालीन मिनोअन युग मे लोकप्रिय हो गई थी। ये वृषमूर्तियाँ मध्य-मिनोअन युग (२१००-१६०० ई० पू०) काल की हैं। इन क्रीडाओ के सम्बन्ध मे क्रीट मे इसके पहले का कोई प्रमाण नही मिलता। परन्तु इस युग मे ये क्रीडाएँ गोपाल-युवको की केवल बलक्रिया मात्र थी, क्योकि ये युवक खुले मैदानो मे जगली बैलो से मुठभेड करके उन्हे पकडते थे। अभी वे मातृदेवी के उद्देश्य से धार्मिक खेलो के रूप मे विकसित नही हुई थी। न केवल यही, किन्तु मध्य मिनोअन तृतीय युग के पूर्वार्ध तक भी जगली बैलो से हाथापाई करना गोपाल-युवको की बलक्रिया मात्र ही था। इसका समर्थन ईवान्स की पुस्तक मे प्रकाशित चित्र न० २७४ से हो जाता है। परन्तु पूर्वोक्त युग के उत्तरार्ध मे इन बलक्रियाओ का स्वरूप क्रमश बदलने लगा और अन्तत उत्तर मिनोअन युग मे रगभूमि की धार्मिक क्रीडाओ मे परिणत हो गया। सर आर्थर ईवान्स की गणना के अनुसार मध्य मिनोअन तृतीय और उत्तर-मिनोअन युगो का कालमान यथाक्रम ईसापूर्व १७५०-१५०० और १५००-१२०० है। परन्तु डा० फाब्री के अनुसार मध्य-मिनोअन और उत्तर-मिनोअन युगो का सयुक्त कालमान २५००-१५८० ई० पू० है जो ईवान्स के कालमान से नितान्त भिन्न होने के कारण सर्वथा त्याज्य है। ईवान्स के मत मे पूर्वोक्त दोनो युगो का सयुक्त कालमान २१००-१२०० ई० पू० है। अब क्योकि वृषोत्प्लव और वृष-बलिदान क्रियाओ का धार्मिक स्वरूप सर्वप्रथम मध्य-मिनोअन तृतीय युग मे उपलब्ध होता है और तदनन्तर उत्तर मिनोअन युग के अन्त तक निरन्तर चलता है, इसलिए इन खेलो का यथार्थ काल ईसापूर्व १७५०-१२०० है, न कि ईसापूर्व २५००-१५०० जैसा कि डा० फाब्री ने दिया है।

क
ख
ग
ङ
च
छ
झ
ञ
ट
ढ

आभारी नही था। इसका परिचय सर आर्थर ईवान्स की खुदाई मे पद पद पर मिला है। यह एक सर्व-सम्मत तथ्य है कि क्रीट के २२०० वर्ष (३४००-१२०० ई० पू०) के दीर्घ इतिहास मे एशिया की उन्नत सभ्यताओं की सांस्कृतिक तरगें उसके तटो पर निरन्तर आघात करती हुई चुपके से उसके भाग्य का विधान कर रही थी। इन विदेशीय सांस्कृतिक तत्वो के मिश्रण से उत्तर काल मे इस द्वीप ने उच्च कोटि की वैयक्तिक सभ्यता का निर्माण किया। कालान्तर मे इस सभ्यता ने यूनान तथा भूमध्य सागर के तटवर्ती देशो की प्रागैतिहासिक सस्कृतियो पर अपनी अमिट छाप लगाई।

पूर्वोक्त समालोचना से स्पष्ट हो जाता है कि क्रीट की मिनोअन सभ्यता ने मातृदेवी की पूजा-पद्धति एव उसके आनुषङ्गिक लक्षणो—यथा दो-मुँहा कुल्हाडा, दिव्य कपोत, देवद्रुम, वृषोत्प्लव क्रीडा आदि—को एशिया की उन्नत सभ्यताओं से

वृषोत्प्लव क्रीडाओं का जन्मस्थान भारत—वृषोत्प्लव क्रीड़ाओ के प्रादुर्भाव और प्रचार के विषय में क्रीट और सिंधु-सभ्यता की तुलना करने के लिए ईवान्स के कालमान का अनुसरण करना आवश्यक है। इन क्रीड़ाओ के विषय मे यदि क्रीट ने सिंधु देश पर अपना प्रभाव डाला था तो वह ईसापूर्व १७५०-१२०० की कालसीमा के अन्दर ही हुआ होगा। परन्तु इस काल मे सिंधु-सभ्यता का अन्त हो चुका था। दूसरी आपत्ति यह है कि अपने सिद्धान्त की पुष्टि मे डा० फाब्री ने जिन सिंधु-मुद्राओं का प्रमाण दिया है वे सब बहुत प्राचीन युग से सम्बन्ध रखती है और सिद्ध करती हैं कि सिंधु के काठे मे इन धार्मिक क्रीड़ाओं का अभिनय मिनोअन काल से पहले भी होता था। उदाहरणत. फलक २७, ३, ५ मे प्रदर्शित सिंधु-मुद्राएँ मोहेंजो-दड़ो के निम्नस्तरो से मिलने के कारण ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्तकाल की है। शेष तीन मुद्राएँ (फलक २५ क, ३; फलक २०, ग) जो मोहेंजो-दड़ो के ऊपर के स्तरों से उपलब्ध हुई थीं ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्यकाल की हैं। वृषोत्प्लव क्रीड़ाओं के काल का निर्धारण करने के लिए फलक २७, ३, ५ वाली मुद्राएँ बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन मुद्राओं मे पशु पर से कूदते हुए मनुष्य अपने सिर पर लम्बी कृत्रिम चोटियाँ पहन रहे है, जो केवल देवताओं, दिव्य वीरों और देव-पुरोहितों का ही पहनावा था। महिषमुण्ड देवता की मांगलिक अध्यक्षता में देवद्रुम के सामने पुरोहितों द्वारा इन खेलों के अभिनय से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्त में वृषोत्प्लव क्रीड़ाएँ सिंधु-देश में धार्मिक स्वरूप धारण कर चुकी थी। भारत मे इन खेलो की इतनी प्राचीनता स्वयं ही इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है कि इस आदान-प्रदान मे भारत क्रीट द्वीप का ऋणी था अथवा क्रीट द्वीप भारत का।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि मिनोअन-काल का क्रीट इन क्रीड़ाओं का जन्म-स्थान नही था। सर आर्थर ईवान्स ने स्पष्ट लिखा है कि वृषोत्प्लव क्रीड़ा का सर्वप्रथम प्रमाण ईसापूर्व २४०० वर्ष पुरानी केपेडोशिया की एक शलाका-मुद्रा पर मिला है और उनका यह भी कथन है कि क्रीट के वृषाकार अर्घपात्रों का जन्म भी मेसोपोटेमिया मे हुआ था। इससे पता चलता है कि मिनोअन सभ्यता ने इन क्रीड़ाओं के आदर्श और उदाहरणों को एशिया महाद्वीप से प्राप्त किया था।

क्रीट की मिनोअन सभ्यता में विदेशीय अंश—क्रीट द्वीप न केवल इन धार्मिक क्रीड़ाओ के विषय मे ही एशिया का ऋणी था, अपितु और भी अनेक बातो मे। इस द्वीप के आदि-निवासियो मे लघु-एशिया की आर्मीनियन जाति के लोगो का प्राधान्य था। दो-मुँहा कुल्हाड़ा, मातृदेवी, पाषाण-गदा, रथ, घोड़ा आदि मिनोअन सभ्यता के अन्य बहुत से अंश भी एशिया से ही इस द्वीप मे पहुँचे थे। इसी प्रकार अपनी सभ्यता के विकास के लिए यह द्वीप मिश्र की प्राचीन सभ्यता का भी [illegible]

आभारी नही था। इसका परिचय सर आर्थर ईवान्स की खुदाई मे पद पद पर मिला है। यह एक सर्व-सम्मत तथ्य है कि क्रीट के २२०० वर्ष (३४००-१२०० ई० पू०) के दीर्घ इतिहास मे एशिया की उन्नत सभ्यताओ की सास्कृतिक तरगें उसके तटो पर निरन्तर आघात करती हुई चुपके से उसके भाग्य का विधान कर रही थी। इन विदेशीय सास्कृतिक तत्वो के मिश्रण से उत्तर काल मे इस द्वीप ने उच्च कोटि की वैयक्तिक सभ्यता का निर्माण किया। कालान्तर मे इस सभ्यता ने यूनान तथा भूमध्य सागर के तटवर्ती देशो की प्रागैतिहासिक सस्कृतियो पर अपनी अमिट छाप लगाई।

पूर्वोक्त समालोचना से स्पष्ट हो जाता है कि क्रीट की मिनोअन सभ्यता ने मातृदेवी की पूजा पद्धति एव उसके आनुषङ्गिक लक्षणो—यथा दो मुँहा कुल्हाडा, दिव्य कपोत, देवद्रुम, वृषोत्प्लव क्रीडा आदि—को एशिया की उन्नत सभ्यताओ से प्राप्त किया था। इस युग मे मध्यपूर्व एशिया स्वय मेसोपोटेमिया तथा मिश्र की क्रान्तिकारी सभ्यताओ का रगमच बना हुआ था। सास्कृतिक रूढियो तथा परम्पराओ के अन्तर्देशीय आवागमन पर विचार करने के प्रसग मे हमे इस पृष्ठभूमि को नही भूलना चाहिए। स्मरण रहे कि अपनी प्रौढ दशा (३०००-२३०० ई० पू०) मे सिंधु-सभ्यता का पश्चिमी एशिया के उच्च सभ्यता-केन्द्रो से साक्षात् सम्बन्ध था, और इन सात सौ वर्षों मे सिंधु-सभ्यता और पश्चिमी एशिया के बीच सास्कृतिक रूढियों तथा विचारो का विनिमय निरन्तर होता रहा। इसमे अणुमात्र भी सन्देह नही कि क्रीट की मिनोअन सभ्यता ने अपने सास्कृतिक आदर्शों और रूढियो को पडोसी एशिया और मिश्र की सभ्यताओ से सीखा था, जो इससे बहुत उन्नत कोटि की थी। अत यह निर्विवाद है कि मध्य मिनोअन तृतीय युग का क्रीट, जिसने मातृदेवी की उपासना-विधि को सांगोपांग एशिया से स्वय ग्रहण किया, वृषोत्प्लव क्रीडाओ के विषय मे सिंधु सभ्यता का शिक्षा-गुरु नही हो सकता, क्योकि सिंधु-सभ्यता मे ये खेल एक हजार वर्ष पहले से ही प्रचलित थे।

प्रतीत होता है कि भारत ही इन क्रीडाओ का जन्म-स्थान था। स्थूलमान से इनका जन्म ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्त मे हुआ, और तीसरी सहस्राब्दी के मध्य मे जब सिंधु-सभ्यता अपने उत्कर्ष पर थी तब भारत से मेसोपोटेमिया पहुँची। देश तथा काल के भेद के कारण इनके स्वरूप मे परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। आशा की जा सकती है कि भावी अनुसन्धान से पश्चिमी एशिया मे कभी न कभी ऐसे प्रमाण मिल सकेंगे जिनसे इन क्रीडाओ का पश्चिम की ओर प्रसार सिद्ध हो जाएगा। इससे उस मार्ग का पता लग जाएगा जिधर से ससरण करती हुईं ये क्रीडाएँ दूसरी सहस्राब्दी के आरम्भ मे क्रीट द्वीप मे पहुँची और अन्त मे ईसापूर्व पन्द्रहवी शती मे वहाँ मातृदेवी की उपासना-विधि का अग बन गईं।
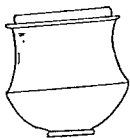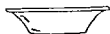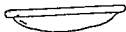
फलक २६ हड़प्पा—'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला के उदाहरण

६

शव-विसर्जन विधि तथा परलोक विश्वास

हड़प्पा मे दो प्रागैतिहासिक कब्रिस्तानो की उपलब्धि से सिंधु-निवासियो की शवविसर्जन विधि एव परलोक के विषय मे उनके विश्वास पर बहुत प्रकाश पडा है। इनमे से एक, जिसे 'कब्रिस्तान-एच' कहा गया है, सन् १९२७ मे श्री माधोसरूप वत्स ने खोजा था। यह सिंधु-युग के अन्तिम काल का है और इसमे उन लोगो के शव गडे थे जो सिंधु-सभ्यता के ह्रास-काल मे यहाँ आकर बस गये। दूसरा कब्रिस्तान, 'आर-३७' लेखक ने सन् १९३७ मे स्वय उपलब्ध किया था। इसमे हड़प्पा के आदि निवासियो के शव पाए गए थे जिन्हे सिंधु-सभ्यता के निर्माण करने का श्रेय प्राप्त है। यद्यपि दोनो कब्रिस्तानो के लोग अपने मृतको को भूमि मे गाडते थे, फिर भी दोनो की कब्रो मे कुछ ऐसी विलक्षणताएँ थी जिनसे पता लगता है कि इनमे गडे हुए लोगो मे मौलिक जाति-भेद था।

'कब्रिस्तान-एच'

यह कब्रिस्तान 'टीला-डी' और स्थानीय पुरातत्त्व-सग्रहालय के बीच समतल भूमि मे स्थित है। यहाँ वत्स महोदय ने लगातार दो वर्ष (१९२७-२८ और १९२८-२९) खुदाई कराई थी जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र मे प्रागैतिहासिक काल की कब्रो के दो स्तर प्रकाश मे आए। ऊपर के स्तर में १३५ के लगभग शव-भांड भूतल से तीन फुट की गहराई तक जमीन के अन्दर गडे थे। नीचे के स्तर मे तीन से छ फुट की गहराई तक बहुत से सर्वांग और कुछ खण्डित मुर्दे पाए गए थे। इनके साथ रखे हुए मिट्टी के बर्तन सिंधु-कालीन प्राचीन कुम्भकला से भिन्न शैली के थे।

शव-भांड—पूर्वोक्त १३५ शव-भांडो मे से लगभग ८० मे खडित मनुष्यास्थियाँ थी। शेष मटको मे कुछ नही था जिससे प्रतीत होता था कि तत्कालीन प्रथा के अनुसार ये खाली मटके अन्त्य क्रिया के सम्बन्ध मे किसी अन्य उद्देश्य से रखे गये थे। ये शव-भांड छोटे-छोटे समुदायो मे पूर्व से पश्चिम की ओर बिखरे पड़े थे। सबसे बहुसख्य गोल मटके (फलक २९, ख) थे, उनसे उतर कर अडाकार (फलक २८, क) और सब से अल्पसख्यक देगचे के आकार (फलक २९, ग) के थे। ये मटके ऊँचाई मे २४ इच से १० इच तक और चौडाई मे २४ से १० इच के लगभग थे। चिकनी मिट्टी, चमक तथा गहरी लाल जिल्द पर विचित्र काले चित्रो के कारण ये बर्तन एक निराली

शव-भांडो पर बने हुए चित्र—अपने रोचक तथा रहस्यपूर्ण चित्रों के कारण निम्नलिखित शव-भांड अत्यन्त महत्त्व के हैं—

शव-भांड 'एच २०६ बी'—यह शव-भांड किञ्चित उन्नतोदर अंडाकार है। इसके शरीर पर मृतक की परलोक-यात्रा के दो समान रूप दृश्य बने हैं (फलक ३०, क १, २)[1]। हर एक दृश्य मे एक नर-मयूर संकीर्ण प्राणी दाईं ओर मुंह किये खड़ा है। इसका पक्षिमुख सिर और भुजाएं मोर की हैं और शेष शरीर मनुष्य का। सिर पर वक्र रेखाओं से बना हुआ मयूर-शिखण्ड मनुष्य के लम्बे बालों का भ्रम पैदा करता है। यह विचित्र मनुष्य अपनी भुजाओं के अग्रभाग को बाहर की ओर ताने हुए पक्षी के पंजे के समान अपने प्रत्येक हाथ मे वृषाकार एक पशु को रस्से से थामे खड़ा है। रस्से का एक सिरा पशु के गले में बँधा है और दूसरा मनुष्य के पावों के नीचे दबा हुआ है। अपने बाएँ हाथ मे रस्से के अतिरिक्त वह धनुष-बाण भी थामे है। बाएँ हाथ वाले पशु पर आक्रमण करके एक भयानक कुत्ता उसकी पूंछ को काटने की चेष्टा कर रहा है। मटके के दूसरी ओर बना हुआ समानरूप चित्र सम्भवतः मृतक की परलोक-यात्रा का दूसरा दृश्य है। इसमें बैल के आकार के प्रत्येक पशु के सिर पर सींगों के बीच त्रिशूलाकार शिखंड है जिसका तात्पर्य यह हो सकता है कि ये सब जीव परलोक के तामिस्र मार्गों की यातना को लांघकर ज्योतिर्मय लोक मे पहुँच गये हैं। त्रिशूलाकार शिखंड सम्भवत: देवद्रुम की शाखाशिखंड से अलंकृत उस शृंगमय मुकुट का उत्तरकालीन रूप है जिसे सिंधुकालीन देवता अपने सिरों पर धारण करते थे। शायद अब इन पशुओ ने दिव्यरूप धारण कर लिया है। इस दृश्य मे बाएँ हाथ वाला पशु बिना पूंछ और अँतड़ियों के है और अब इसके पीछे कुत्ता भी नही है। संकीर्ण नर-मयूर प्राणी और पशुओ के बीच एक-एक उड़ता हुआ मोर है। पूर्वोक्त दोनो समानाकार दृश्यो के बीच एक ओर महाकाय दाढी वाला बकरा और दूसरी ओर सींगो वाले दो मोर हैं। दोनो मोरों और बडे बकरे के सिरो पर भैंसे के सींग है जो सिन्धुसभ्यता के पूर्वकालीन महिषमुंड देवता के सींगों के अनुरूप हैं। बकरे के विशाल वक्र सींगों पर भी त्रिशूलाकार शिखंड हैं। शायद यह बकरा एक दिव्य दूत था[2] जो

---

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० २, फलक ६२, १ ए, बी।

२. यह बात उल्लेखनीय है कि यम के समान वैदिक देवता पूषण भी परलोक मे मृत मनुष्यो के भाग्य का विधान करने में उच्च अधिकार रखता था। वेदों मे उसे 'असुर' के विशेषण से निर्दिष्ट किया गया है। वह पितृलोक के रास्ते में मृतको की सहायता करता था और भयावह मार्गों के पार ले जाकर उन्हे कुशलतापूर्वक वहाँ पहुँचाता था। इसे पशु भेंट चढ़ाए जाते थे और रुद्र की तरह यह भी पशुपति के नाम

फलक २०. हड़प्पा—'कब्रिस्तान-एच' के शव-भांडों पर बने हुए चित्र

परलोक-यात्रा में मृतक का पथ-प्रदर्शक था। कल्पना की जा सकती है कि नर-मयूर प्राणी, जो वृषाकार पशुओं के बीच खड़ा है, सम्भवतः मृतक के सूक्ष्म शरीर का प्रतीक है और दोनों पशु परलोक यात्रा में उसके सहायक हैं। यहाँ यह लिखना प्रासंगिक है कि वैदिक काल के आर्यों में एक प्रथा थी जिसके अनुसार शव के अग्निदाह के समय 'अनुस्तरणी' नाम गौ का वध किया जाता था। इस गौ की मज्जा से मृतक के सिर और मुँह को ढक दिया जाता था जिससे अग्निदेव अपनी प्रचंडता को मज्जा पर ही समाप्त करके मृतक को सुखपूर्वक दिव्य लोकों का अधिकारी बनाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अग्निदेव से प्रार्थना भी की जाती थी। पशु की आँतड़ियाँ मृतक के हाथों में इसलिये दी जाती थी कि वे यमराज के कुत्ते की बलि है। इस मटके पर चित्रित दृश्य मे रोचक बात यह है कि समान रूप दूसरे चित्र में कुत्ता और पशु की आँतड़ियाँ दोनों अदृश्य है, मानो आक्रमणकारी श्वापद अपना नियत भाग लेकर भाग गया हो। यह उल्लेखनीय है कि नीचे उद्धृत वैदिक मंत्र मे अनुस्तरणी के स्थान बकरे की बलि का भी विधान है[1]। उत्तरकालीन वैदिक आर्यों मे मरण-शय्या पर पड़ा हुआ मनुष्य ब्राह्मण को 'वैतरणी' गौ का दान करता था। सिन्धु तथा वैदिक काल की मृतक सम्बन्धी प्रथाओं में सादृश्य दिखलाने का तात्पर्य यह है कि वैदिक आर्यो और भारत की आदिजातियों में परस्पर सम्पर्क के अनन्तर स्वाभाविक ही था कि सिन्धु-वासियो के कई धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाज आर्य जाति के जीवन का अंग बन जाते। पूर्वोक्त परलोक-यात्रा-चित्र में प्रधान मूर्तियों के बीच रिक्त स्थान में सितारे,

---

से पुकारा जाता था। यह मार्गभ्रष्ट पथिकों को मार्ग दिखलाता था।

पूषण् का बकरा परलोक का मार्ग दिखाता हुआ यज्ञाश्व के आगे आगे चलता है। विकट मार्गों से शायद वह इसलिये परिचित है कि उसके रथ में अचूक पावों वाला बकरा लगा है। बलिरूप से वध किया हुआ बकरा आगे-आगे चलता है और

फलक ३१. हड़प्पा—'कब्रिस्तान-एच' के शव-भांडों पर बने हुए चित्र

परलोक-यात्रा में मृतक का पथ-प्रदर्शक था। कल्पना की जा सकती है कि नर-मयूर प्राणी, जो वृषाकार पशुओं के बीच खड़ा है, सम्भवतः मृतक के सूक्ष्म शरीर का प्रतीक है और दोनो पशु परलोक यात्रा में उसके सहायक हैं। यहाँ यह लिखना प्रासंगिक है कि वैदिक काल के आर्यो में एक प्रथा थी जिसके अनुसार शव के अग्निदाह के समय 'अनुस्तरणी' नाम गौ का वध किया जाता था। इस गौ की मज्जा से मृतक के सिर और मुंह को ढक दिया जाता था जिससे अग्निदेव अपनी प्रचंडता को मज्जा पर ही समाप्त करके मृतक को सुखपूर्वक दिव्य लोकों का अधिकारी बनाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अग्निदेव से प्रार्थना भी की जाती थी। पशु की आंतड़ियाँ मृतक के हाथो में इसलिये दी जाती थी कि वे यमराज के कुत्ते की बलि है। इस मटके पर चित्रित दृश्य में रोचक बात यह है कि समान रूप दूसरे चित्र में कुत्ता और पशु की आंतड़ियाँ दोनो अदृश्य हैं, मानो आक्रमणकारी श्वापद अपना नियत भाग लेकर भाग गया हो। यह उल्लेखनीय है कि नीचे उद्धृत वैदिक मंत्र में अनुस्तरणी के स्थान बकरे की बलि का भी विधान है[1]। उत्तरकालीन वैदिक आर्यो में मरण-शय्या पर पड़ा हुआ मनुष्य ब्राह्मण को 'वैतरणी' गौ का दान करता था। सिन्धु तथा वैदिक काल की मृतक सम्बन्धी प्रथाओं में सादृश्य दिखलाने का तात्पर्य यह है कि वैदिक आर्यो और भारत की आदिजातियों में परस्पर सम्पर्क के अनन्तर स्वाभाविक ही था कि सिन्धु-वासियो के कई धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाज आर्य जाति के जीवन का अंग बन जाते। पूर्वोक्त परलोक-यात्रा-चित्र में प्रधान मूर्तियों के बीच रिक्त स्थान में सितारे,

---

से पुकारा जाता था। यह मार्गभ्रष्ट पथिकों को मार्ग दिखलाता था।

पूषण् का बकरा परलोक का मार्ग दिखाता हुआ यज्ञाश्व के आगे आगे चलता है। विकट मार्गो से शायद वह इसलिये परिचित है कि उसके रथ में अचूक पावों वाला बकरा लगा है। बलिरूप से वध किया हुआ बकरा आगे-आगे चलता है और पितृगण को मृतक के आगमन की सूचना देता है। तीसरे दिव्यम्लोक में पहुँचने के पहले उसे अन्धतामिस्र गहन मार्गों में से गुजरना पड़ता है।

अथर्ववेद (मैकडानेल)

१. अनुस्तरण्या वपामुच्छिद्य शिरोमुखं प्रच्छादयेत्
अग्नेर्वर्म परि गाभि र्व्ययस्व··· (ऋग्वेद, १, १६, ७)
अनुस्तरणीं गामजां वैकवर्णा कृष्णा मेके सव्ये बाहौ बध्वाऽ-
नुसंकालयन्ति ॥ पितृभ्यो वाऽनुस्तरणी (आश्वलायन गृ॰ सू॰ ४,३)
सायणः—सेय गौ. स्तृत दीक्षित मनुस्तृतत्वा द्धिंसितत्वाच्चानुस्तरणीत्युच्यते।
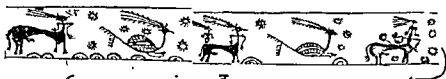
फलक ३१. हड़प्पा—'कब्रिस्तान-एच' के शव-भांडों पर बने हुए चित्र

विहंग श्रेणियाँ, पत्तियाँ आदि गौण अभिप्राय भी बने हुए है

शव-भांड 'एच २०६ (ए)'—इस मटके पर आकाश मे उड़ते हुए तीन मोर चित्रित हैं। इनमे से हर एक के पेट में एक संकीर्ण नर-मयूर प्राणी लेटा पड़ा है और उसके आस-पास पान-पत्ती या फेफड़े के आकार के अभिप्राय भी बने है (फलक ३० स)[१]। यह प्राणी पूर्ववर्णित शव-भांड एच २०६ (बी) पर बने हुए नर-मयूर प्राणी के अनुरूप है। इसमें सदेह नही कि यह भी उस मृतक के सूक्ष्म शरीर का प्रतीक है जिसकी अस्थियाँ इस शव-भांड मे पाई गई थी। मोरो के अन्तराल में सितारो के झुरमुट हैं।

शव-भांड एच २४५ (बी)—इस शव-भांड पर आंग्ल भाषा के 'यू' अक्षर के समान मयूर-शीर्षक नांद बने हैं। इनके बीच कहीं-कहीं सितारे हैं (फलक ३०, घ)[२]। मोरो के सिर पर भी इसी आकार के सींग हैं जिनके मध्य मे परस्पर जुड़े हुए पीपल के पत्ते चित्रित है। हर एक नाद के अन्दर पत्तों अथवा मछलियो की पंक्तियाँ भी बनी हैं।

शव-भांड 'एच २४५ (सी)'—यह एक मध्योन्नत लम्बोत्तरा मटका है जिसके शरीर पर सितारों से घिरे हुए दो बेडौल मोर बने है (फलक ३०, ग)[३]। हर एक मोर की पूंछ और गला पल्लवित दिखलाया गया है और प्रत्येक पल्लव के मध्य में एक एक बिन्दु है। मोरो के बीच रिक्त स्थान मे रेखाओ के बने हुए नांद के आकार के दो बांध है जिनमें से हर एक के बीच एक किरणमाली बिम्ब और मत्स्य-पंक्ति है। एक बिम्ब के अन्दर पाँच रेखापूर्ण पत्तियाँ और दूसरे में नाशपाती के आकार के अनेक बिन्दुमध्य गोलक भरे हैं। सम्भवतः चित्रकार ने इन बिम्बो मे दिव्य लोकों की कल्पना की है और इनमें नाना प्रकार के प्राणियो के निवास का आभास कराने का भी प्रयत्न किया है। शायद यह पितृलोक है जहाँ मृतकों की आत्माएँ आत्यन्तिक शान्ति पाने के लिये विश्राम कर रही है। वृत्तों के मध्यवर्ती बिंदु सम्भवतः शरीर मे निश्चेष्ट जीवन-तत्त्व के द्योतक है। सम्भव है कि मोर के निकट वाले सितारो के गर्भ मे बिंदु-मध्य गोलक भी उन ग्रहों के निवासी विविध प्राणियो के प्रतीक है। इसी प्रकार मोर के गले और पूंछ मे चिमटे हुए पल्लवाकार अभिप्राय भी शायद मृत प्राणियों की आत्माएँ है जिन्हे मोर पितृलोक मे ले जा रहा है। इसमें सन्देह नही कि इन चित्रों का सम्भावित अभिप्राय जो मैंने ऊपर दिया है काल्पनिक है, परन्तु मृतक की पार-

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ६२, २।

२. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ६२, ४।

३. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ६२, ३।

फलक ३२. हड़प्पा—'कब्रिस्तान-एच' के शव-भांडो पर बने हुए चित्र (ञ के बिना)

और भी कई शव-भांडो पर सौर-बिम्ब चित्रित हैं। इनमे 'एच ७०६ ए', 'एच १६५ ए' और 'एच २३१ वी' वर्णनीय हैं। पहले मटके पर शव-भांड न० 'एच-७०६' के समान गले के नीचे चित्रो की दो पट्टियाँ हैं। ऊपर की पट्टी मे लहरिया रेखाओ के बन हुए अग्रेजी अक्षर 'वी' के आकार के नाँदो के अन्तराल मे इसी आकार के छोटे अभिप्राय हैं और उनके अदर बिंदुगर्भ अडाकार गोलको की पक्तियाँ हैं[1]। नीचे की पट्टी मे सौर बिम्ब हैं (फलक ३२, ग)। इन चित्रो का अभिप्राय भी वैसा ही है जैसा कि मटका 'एच-७०६ (ए)' पर बने हुए चित्रो का। मटका न० 'एच १६५' सितारो और किरण वाली बिम्बो से अलकृत है। सौर बिम्बो से निकलते हुए किरणजाल के दोनो पार्श्व पीपल के पत्तो से सुशोभित हैं[2]। एच २३१ नबर के तीसरे मटके पर बनी हुई दो पट्टियो मे से ऊपर की पट्टी मे बिंदुगर्भ गोलको के समूह आडी रेखाओ से सीमित नाँदो के अदर दिखलाए गये हैं। नीचे की पट्टी मे रेखा-वलयित सौर-बिम्बो के साथ-साथ बिन्दुगर्भ गोलकों की खडी पक्तियाँ हैं (फलक ३२, ग) मेरे विचार मे बिंदु-गर्भ गोलक मृत प्राणियो की आत्माएँ हैं जो ज्योतिर्मय दिव्यलोको मे निर्मल स्रोतो नदियो और जलाशयो के तटवर्ती स्निग्ध-छाय शीतल स्थानो मे विश्राम कर रही हैं।

नाँद अथवा पानी की टकियाँ—कई एक शव-भांडो पर नाँद के आकार के पात्र अथवा पानी की टकियाँ और उनके अदर मत्स्य-पक्तियाँ, बिन्दुगर्भ-गोलक, सितारे आदि बने है (फलक २८,ड-ड)। वस्तुत ये नाँद जैसे पात्र अग्रेजी वर्णमाला के 'वी' अथवा 'यू' अक्षरों के आकार के पाए जाते है। 'यू' आकार के नाँद जो मटका न० 'एच २४५ (वी)' पर चित्रित हैं मयूर-शीर्षक हैं और हर मोर के सिर पर 'यू' आकार के वृष-शृ ग हैं जिनके अन्दर सयुक्त पीपल के पत्तो का शिखड दिखाई देता है (फलक ३० घ)। 'एच-२४५ए'[3] और 'एच-६२३'[4] सख्या के मटकों तथा एक ढकने[5] पर भी इसी प्रकार के जो नाँद चित्रित हैं उनके पार्श्व मध्यावनत पत्तो के बने है (फलक २८, ञ)। मटका न० १६[6] पर बने हुए नाँद के दोनो पार्श्व धनुषाकार पत्तो के बने हैं और इनके अदर एक एक मत्स्य पक्ति है (फलक २८, ठ)। इस मटके पर

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, ११।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, १०।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १०।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १२।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, ७।
६ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, १४।

लौकिक यात्रा के प्रसंग में बहुत युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

शव-भांड 'एच १५४ (ए)'—*यह उन्नतोदर लंबोतरा मटका लबे सीगों* वाले कूबड़दार चतुष्पादों, जो प्रकट मे बैल हैं, तथा मछलियों और सितारो के चित्रों से अलंकृत है (फलक ३०, ड)[1]। हर एक चतुष्पाद के सिर पर अंग्रेजी वर्ण 'यू' के आकार के सीग हैं और कूबड पर से पीपल का पत्ता उभर रहा है। रिक्त स्थान मे प्रदर्शित मछलियों में से हर एक के पेट मे एक-एक बिंदु है जो मृतकों की आत्मा अथवा सुषुप्ति मे निश्चेष्ट जीवन-तत्त्व के बीज हो सकते हैं। सितारो के पेट भी रेखाओ से पूर्ण हैं।

शव-भांड 'एच १४८ (ए)', १५० और नं० १५—इन मटकों पर मोर तथा अन्य अभिप्राय चित्रित हैं। *शव-भांड 'एच १५०' पर केवल बेडौल, भद्दे मोर है (फलक* ३०, ग)[2]। मटका नं० एच १४८ (ए) रेखापूर्ण पेट वाले उडते हुए मोरो से अलंकृत है। हर दो मोरों के मध्य में एक रेखामय नांद का चिह्न है (फलक ३०, ग)[3]। यह अभिप्राय, जैसा कि नीचे दिखलाया गया है, नांद अथवा जलपात्रों की प्रतिकृतियां हे जिनमे सजीव मत्स्य खेल रहे हैं। तीसरे शव-भांड पर लहरिया रेखाओं के बने हुए कोष्ठों के अन्दर बेडौल मोर बने हैं[4]। ये कोष्ठ नांद के आकार के है और बीच के रिक्त स्थानों मे संयुक्त पीपल के पत्तों की पक्तियां हैं। हर एक लहरिया रेखा की चोटी पर बने हुए सितारे के मध्य मे बिंदुगर्भ वृत्त है। लहरिया रेखाएँ *सम्भवतः सितारो की किरणें हैं, जिससे प्रतीत होता है कि मोर दिव्यलोक मे उड़ान* कर रहा है।

शव-भांड 'एच ७०६ (ए)'—इस मटके के ऊपरी भाग में गले के इर्द-गिर्द चित्रों की दो पट्टियां है[5]। अंदर की पट्टी में आकाश में उड़ते हुए दो मोर हैं और उनके मध्य मे तीन बिंदुगर्भ अंडाकार गोले। बाहर की पट्टी मे रेखा-परिवृत किरण-माली वलय सम्भवतः सूर्यबिम्ब है। समस्त दृश्य का अभिप्राय यह हो सकता है कि मृतको की आत्माओं का अनुसरण करने वाले मोर सूर्य और तारागण से आलोकित दिव्यलोकों में विहरण कर रहे हैं।

---

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६२, ५।
२. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६२, ६।
३. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६२, ८।
४. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६२, १५।
५. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६३, १२।

और भी कई शव-भांडो पर सौर-बिम्ब चित्रित हैं। इनमें 'एच ७०६ ए', 'एच १६५ ए' और 'एच २३१ बी' वर्णनीय हैं। पहले मटके पर शव-भांड न० 'एच-७०६' के समान गले के नीचे चित्रो की दो पट्टियाँ हैं। ऊपर की पट्टी मे लहरिया रेखाओ के बन हुए अंग्रेजी अक्षर 'बी' के आकार के नांदो के अन्तराल म इसी आकार के छोटे अभिप्राय हैं और उनके अदर बिंदुगर्भ अडाकार गोलको की पंक्तियाँ हैं[१]। नीचे की पट्टी मे सौर बिम्ब हैं (फलक ३२, ग)। इन चित्रो का अभिप्राय भी वैसा ही है जैसा कि मटका 'एच-७०६ (ए)' पर बने हुए चित्रो का। मटका न० 'एच १६५' सितारो और किरण-माली बिम्बो से अलङ्कृत है। सौर बिम्बों से निकलते हुए किरणजाल के दोनो पार्श्व पीपल के पत्तो से सुशोभित हैं[२]। एच २३१ नवर के तीसरे मटके पर बनी हुई दो पट्टियों मे से ऊपर की पट्टी मे बिंदुगर्भ गोलको के समूह आडी रेखाओ से सीमित नांदो के अदर दिखलाए गये हैं। नीचे की पट्टी मे रेखा वलयित सौर-बिम्बो के साथ-साथ बिन्दुगर्भ गोलको की सही पंक्तियाँ हैं (फलक ३२, ग) मेरे विचार म बिंदु-गर्भ गोलक मृत प्राणियो की आत्माएँ हैं जो ज्योतिर्मय दिव्यलोको में निर्मल स्रोतो, नदियो और जलाशयो के तटवर्ती स्निग्ध-छाय शीतल स्थानो मे विश्राम कर रही हैं।

नांद अथवा पानी की टकियां—कई एक शव-भांडो पर नांद के आकार के पात्र अथवा पानी की टकियां और उनके अदर मत्स्य-पंक्तियां, बिन्दुगर्भ-गोलक, सितारे आदि बने हैं (फलक २८,ड-ढ)। वस्तुत ये नांद जैसे पात्र अंग्रेजी वर्णमाला के 'बी' अथवा 'यू' अक्षरो के आकार के पाए जाते है। 'यू' आकार के नांद जो मटका न० 'एच २४५ (बी)' पर चित्रित हैं मयूर-शीर्षक हैं और हर मोर के सिर पर 'यू' आकार के शृंग हैं जिनके अन्दर सयुक्त पीपल के पत्तो का शिखड दिखाई देता है (फलक ३० घ)। 'एच-२४५ ए'[३] और 'एच-६२३'[४] सख्या के मटको तथा एक ढक्कने[५] पर भी इसी प्रकार के जो नांद चित्रित हैं उनके पार्श्व मध्यावनत पत्तो के बने हैं (फलक २८, ज)। मटका न० १६[६] पर बने हुए नांद के दोनो पार्श्व धनुषाकार पत्तो के बने हैं और इनके अदर एक-एक मत्स्य पंक्ति है (फलक २८, ठ)। इस मटके पर

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, ११।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, १०।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १०।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १२।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, ७।
६ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, १४।

आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की पंक्तियाँ तथा संयुक्त पीपल के पत्तों के अलंकरण भी हैं। 'कब्रिस्तान-एच' के प्रथम स्तर की कुम्भकला पर 'वी' अक्षर के आकार के नाँद अधिक संख्या में तथा कई प्रकार के हैं। कई मटकों पर उनके पार्श्व एक या अनेक लहरिया रेखाओं के और कई पर त्रिगुण शाखाओं[1] के तथा पत्तों[2] के भी बने हैं (फलक २८, झ, ञ)। इन नुकीली पेंदी के नाँदों के अंदर मछलियाँ बिंदुगर्भ वृत्त, सितारे और मोर चित्रित हैं (फलक २८, ड, छ) आदि।

कई शव-भाँडों पर वनस्पति और प्राणियों के चित्र हैं। मटका नं० 'एच-३४६ (वी)[3]' पर कीटों के साथ परस्पर जुड़े हुए तीन पीपल के पत्ते हैं (फलक ३१, ज); नं० १७ पर बारी-बारी से कीट और बिंदुगर्भ गोलक हैं[4]। नं० १८ पर कीट और खेचर पक्षियों की पंक्तियाँ, वृक्ष और सितारे हैं[5]। मटका नं० १७ पर एकान्तर क्रम से खड़ी और पड़ी रेखाओं के समूह तथा बिंदुगर्भ गोलक हैं[6]। नं० २० पर चतुर्भुज कोष्ठों के अन्तर्गत कीट-पंक्तियाँ, और सितारे (फलक ३२, ख)[7]; नं० १९ पर यथाक्रम कीट-पंक्तियाँ, सितारे तथा वृक्षों के झुरमुट[8] और मटका नं० २१ पर ऊपर की पट्टी में गो-मूत्रि का बंध के मोड़ों में कीट पंक्तियाँ, पल्लवित तोरण तथा नीचे की पट्टी में खड़ी रेखाओं के समूहों से सीमित केवल कीट-पंक्तियाँ हैं (फलक ३२, झ)[9]। पूर्वोक्त मटका नं० २१ पर अन्य अभिप्रायों के साथ तोरण भी बने हैं जिनकी चोटियों से उभरते हुए कई एक वृक्ष दिखाए गए हैं। यह अलंकरण प्राचीन सिंधुकालीन मुद्राओं पर बने हुए उन अश्वत्थ-तोरणों का स्मरण कराता है जिनके नीचे अश्वत्थाधिष्ठातृ-परम-देवता स्थानमुद्रा में पाया जाता है। इसका सादृश्य मेसोपोटेमिया के उन तोरणाकार अभिप्रायों से भी है जिनके नीचे अधोलोक के देवता स्थान अथवा आसीन

---

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६२, १५।
२. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६२, ७।
३. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६२, ९।
४. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६२, १७।
५. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६२, १८।
६. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६३, १७।
७. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६३, २०।
८. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६३, १९।
९. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६३, २१।

मुद्रा मे देखे गये हैं (फलक ३२, ब)[1] । क्योंकि ये अभिप्राय शव-भाँड पर बने हैं लिए सम्भव है कि इनका तात्पर्य भी मृतक के भाग्य-नियन्ता परलोक के देवता के सम्बन्ध म ही था । शव-भाँड न० १५ पर शतरंज फलक के समान कोष्ठो विभक्त दो चतुर्भुज स्तम्भ[2] और उनके बीच सितारो के झुरमुट हैं[3] । इन स्तम्भो पार्श्वो मे कुटिल खूँटो के आकार के अभिप्राय बने है (फलक ३२, क) ।

शव-भाँड नं० 'एच-२४६ (ए)'—यह शव भाँड अपने चित्रो के कारण वि महत्त्व रखता है । इस पर चिपटी पेंदी के 'यू'-वर्ण के आकार के सीगो वाले बकरे दिखलाये गये हैं । इनमे एक के सीगो के मध्य मे त्रिशूलाकार शिखड है (फल ३०, च)[4] । हर एक बकरे के पीछे युग्म पत्तो वाला एक ऊँचा काल्पनिक वृक्ष है पूर्वोक्त प्रधान चित्रो के रिक्त स्थान मे पक्षी, कीट-पत्तियाँ, 'सिग्मा' चिह्न आदि है । बडी पट्टी के नीचे के किनारे के साथ-साथ 'नाँद-मे-सितारा' अभिप्राय और उ नीचे खेचर विहग-पक्तियाँ हैं ।

शव-भाँड ७४३५ (ई)—अपने चित्रो की विचित्रता के कारण श-भ ७४३५ (ई) भाँड न० 'एच-२०६ (बी)' की तरह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है[5] । इस चार विचित्र सकीर्ण पशु और उनके अन्तराल मे उडते हुए मोर और सितारे (फलक ३१, ड) । सकीर्ण पशु अशत बैल और अशत मोर है । इस अद्भुत ज का सारा शरीर बैल का परन्तु सिर मोर का है । मोर की रोमश टाँगें बैल के ि को तीन ओर से टाँक रही हैं । विलक्षण बात यह है कि वह मृतक, जिसकी अस्थि इस मटके मे गडी थी, सकीर्ण वाहन पर आरूढ दिखलाया गया है । चित्र दृश्य की प्रगति बाएँ से दाएँ को है । बाएँ किनारे पर यह विचित्र बैल दाईं अ मुँह किए चला जा रहा है और इसके साथ ही एक मोर उड रहा है । तीस आकृति पुन उसी बैल की है, परन्तु भेद केवल इतना है कि यहाँ इस पर प्रेत सव हैं । यह प्रेत स्वय सकीर्ण है क्योकि इसका नीचे का भाग मनुष्य का और ऊ का मोर का है । इसके आगे का तीसरा बैल भी दूसरे बैल के समान ही है पर इसमे प्रेत अपने पूर्वोक्त सकीर्ण रूप मे पीठ की बजाय बैल के गले पर आरूढ है

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा ग्रथ २ ।

२ सम्भव है कि ये स्तम्भ दिव्य भवनो के व्यजक हैं जहाँ परलोक मे मृत निवास करता था ।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १५ ।

४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, ११ ।

५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १३ ।

चौथे बैल में वृषारूढ़ प्रेत संकीर्ण बैल के साथ एकात्मता प्राप्त करके तद्रूप ही हो गया है। पहले और चौथे बैल के आकार में वस्तुतः कोई भेद नहीं है सिवाए इसके कि चौथे बैल की पीठ मे से एक सितारा उभर रहा है जिसे प्रेत किरण रूपी डोरी से अपने पंजे में पकड़े खड़ा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसी प्रकार का सितारा तीसरे बैल और चौथे मोर की पीठ पर से भी निकल रहा है। शेष रिक्त स्थान सितारों और अधींडो की टुकड़ियों से भरा पड़ा है।

निचले स्तर के चित्रित ढकने—'कब्रिस्तान-एच' के निचले स्तर की कब्रों से मिले हुए मिट्टी के ढकने भी एक मनोरंजक उपलब्धि है। इन पर पशुओं और वनस्पतियो के विविध अभिप्राय तथा चित्र बने हैं। पशुओं मे लम्बे और कुटिल सींगों वाले बकरे और मोर हैं। रिक्त स्थानों मे आलिखित गौण अभिप्रायों में मछलियाँ, सितारे, लहरिया रेखाएँ, संयुक्त पीपल के पत्ते आदि वर्णनीय है। इन ढकनों के मध्य में बने हुए चित्र वृत्ताकार पट्टियों से परिवेष्टित हैं। रेखाचित्रों में किरणमाली बिम्ब, सितारे, झालर आदि और वनस्पतियों में पीपल, खजूर, और संयुक्त पीपल के पत्ते हैं। इनमे निम्नलिखित चित्रित ढकने विशेषतः उल्लेखनीय हैं—

ढकना नं० ११ (फलक ३१, क)—इस ढकने पर वृत्ताकार वलय के अन्तर्गत साथ-साथ बने हुए दो स्तम्भ हैं जिनमें से हर एक का शरीर एक दूसरे पर आरूढ़ चार पक्षियों का बना हुआ है[१]। दाईं ओर के पक्षी दाईं ओर और बाईं के बाईं ओर मुँह किये एक दूसरे की पीठ पर बैठे है। सिंधुकाल की कुम्भकला के अभिप्रायों में यह अलंकरण अद्वितीय है और इसका सम्बन्ध विदेशीय कुम्भकला के अलंकरणों से है। सिंधु-प्रान्त मे इसका प्रवेश निस्सन्देह पश्चिमी एशिया से हुआ था क्योंकि ऐसा दूसरा उदाहरण न तो मोहेंजो-दड़ो और न ही हड़प्पा में अभी तक मिला है[२]।

ढकना नं० १४—इस ढकने पर रेखा-वलयित बिम्ब के अन्दर एक विचित्र संकीर्ण अभिप्राय है। मूल में तीन मछलियाँ हैं, और हर एक मछली के सिर पर एक पीपल का पत्ता और हर पीपल के पत्ते पर बैल का सिर है। मत्स्य-पंक्ति के दोनों ओर एक-एक छोटी मछली है (फलक ३१, ख)[३]।

ढकना नं० १६—इस पर मध्य मे दो रेखाओं की बनी हुई सीधी पट्टी है जिसके नीचे-ऊपर लहरिया रेखाओं द्वारा झालर का-सा अलंकरण बना है (फलक

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६४।
२. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६४।
३. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ २, फलक ६४।

३२, घ)[1]। इस पट्टी के नीचे और ऊपर रिक्त स्थान मे मत्स्य-पंक्तियाँ हैं। लहरिया रेखाओ से सीमित मध्यवर्ती अलकरण सम्भवत मत्स्यपूर्ण नदी का बोधक है।

ढकने न० १७ और १८—इनमे से हर एक ढकने पर युग्म पत्तो वाला एक पीपल का पेड चित्रित है (फलक ३१, च)[2]। ढकना न० १८ पर प्रदर्शित पत्ते बहुत वास्तविक हैं, परन्तु ढकना न० १७ पर के विकृत और लवोतरे से दिखाई देते हैं। इनमे से एक वृक्ष के दोनो पार्श्वों मे पक्षियो की श्रेणियाँ हैं और दूसरे के दोनो ओर सयुक्त पीपल के पत्ते हैं।

ढकने नं० १६, २०, २२ और २४—इन सब ढकनो पर धनुपाकार रेखाओ के द्वारा वन्दन वार की तरह एक दूसरे से गुथे हुए सयुक्त पीपल के पत्ते हैं, (फलक ३१, ज)[3]। दो ढकनो पर सयुक्त पत्तो के अतिरिक्त विन्दुगर्भ नोकीले गोलक और विहगावली के गौण अभिप्राय भी चित्रित हैं।

ढकना नं० २३—इस ढकने पर ताड की जाति का एक ऊँचा पेड है (फलक ३१, ड)[4]। वृक्ष का काण्ड चार खडी रेखाओ का बना एक ढाँचा-सा है जिसके दोनो पार्श्वों मे क्रम से ऊपर और नीचे को मुडे हुए पत्तो के गुच्छे उभर रहे है। कांड की प्रगभूत चार खडी रेखाएँ चोटी पर नोकदार हैं। वृक्षमूल से उभरते हुए पत्तो के गुच्छो का आकार शव-भांड न० १४ पर चित्रित नांद, जिसमे चार मछलियां तैर रही हैं, से बहुत मिलता है। इस नांद के दोनो पार्श्व भी इसी प्रकार के चार-चार पत्तो के गुच्छो के बने है। इस समानता से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह अभिप्राय चार सीगो के बने हुए नही, जैसा कि वत्स महोदय का विचार है, किन्तु उस देवद्रुम के पत्तो के बने हैं जिसका चित्र ढकना न० २१ पर दिया गया है।

'कब्रिस्तान-एच' की शैली के चित्रित ठीकरे—'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला के निम्ननिर्दिष्ट चित्रित ठीकरे, जो हडप्पा के खण्डहर मे अन्य ठीकरो के साथ पाए गए, बडे महत्त्व के हैं। इन पर बने हुए चित्र 'कब्रिस्तान-एच' की सस्कृति पर अतिरिक्त प्रकाश डालते हैं—

ठीकरा नं० २[5]—इस ठीकरे पर एक पशु (सम्भवत बकरे) का पिछला धड, जिसके चारो ओर सितारे हैं, शेष बचा है। पशु के पेट के साथ चार मछलियाँ चिमटी

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६४।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६४।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६५।
४. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६४।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६५।

हुई हैं, मानो इसका मांस खा रहे हों। इसी प्रकार का चित्र ठीकरा नं० ५ (फलक ३१, ठ)[1] पर भी बना है, जहां केवल एक ही मछली गोजाति के पशु की पीठ के साथ चिमटी है।

ठीकरे नं० ३ और ४—इन ठीकरों पर बैल के समान किसी पशु का केवल मध्यभाग ही बचा है जिस पर बना हुआ बालों का कुटिल गुच्छा कूबड का भ्रम पैदा करता है (फलक ३२, ट)[2]। ठीकरा नं० ३ पर बने हुए पशु के कूबड से एक पौधा, सम्भवतः कमल का, उभर रहा है। कमल की डण्डियों में से एक के शिखर पर कली सी दिखाई देती है। इससे भी अधिक मनोरंजक ठीकरा नं० ४ है जिस पर बैल सरीखे किसी पशु का धड़ ही शेष है[3]। यहां भी कूबड पर से कमल का पौधा उग रहा है जिसकी बाहर की डण्डियां, जो अन्दर की डण्डियों से छोटी हैं, पीछे को मुड़ी हुई हैं। इनकी चोटियों पर कटोरियों के आकार के बीजकोष बने हैं। बैल की पीठ पर खड़ा मनुष्य कमल की लम्बी डण्डियों को हाथ में थामे है (फलक ३५, छ)। एक और ठीकरे (नं० १२) पर चित्रित पशु के कूबड पर एक संकीर्ण नर-मयूर प्राणी खड़ा है जिसकी रोमश भुजाएँ मोर की टांगों के समान हैं (फलक ३१, झ)[4]। ये दोनों पूर्वोक्त ठीकरे इस बात के सूचक हैं कि मृतक बैल की पीठ पर सवार होकर परलोक की यात्रा कर रहा है और सम्भव है कि उसकी इस रोमहर्षण यात्रा में प्राण धारण करने के लिए उसके पास केवल कमल का बीजकोश ही एकमात्र पाथेय था। ठीकरा नं० १२ के बाएं किनारे पर दो कमल डण्डियां कूबड से उभर रही हैं परन्तु खण्डित होने के कारण इनका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है।

ठीकरा नं० ३६—इस ठीकरे पर एक स्तम्भ का चित्र है जिसके दोनों पार्श्व पल्लवित दिखाई देते हैं (फलक ३२, ट)[5]। आकार में यह स्तम्भ पूर्वोक्त शव-भांड नं० २५ पर बने हुए स्तम्भ (फलक ३२, क) से बहुत मिलता है। भेद केवल इतना है कि इसके पार्श्वों से बजाय सर्पाकार कुटिल रेखाओं के पत्ते निकल रहे हैं। सम्भव है कि शव-भांड नं० १५ पर बने हुए कुटिल अलंकरण भी शायद किसी प्रकार के पत्ते ही हों।

ठीकरा नं० ४६—इस ठीकरे पर कूबड़ वाले बैल के सामने एक मनुष्य डण्डा

---

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रन्थ २, फलक ६५।
२. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रन्थ २, फलक ६५।
३. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रन्थ २, फलक ६५।
४. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रन्थ २, फलक ६६।
५. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रन्थ २, फलक ६६।

या तलवार हाथ में लिए पशु को मारने के लिए उद्यत खड़ा है (फलक ३१, ट)[1]। सम्भवतः मनुष्य उसी प्रकार संकीर्ण नर मयूर है, जैसा कि शव-भांड 'एच २०६ (बी)' पर बना है। इसका समर्थन मनुष्य की रोमश भुजाओं और मोर के पंजों सरीखे उसके हाथों से होता है। सम्भव है कि यह चित्र मृतक की अन्त्यक्रिया के समय वृष-बलिदान का दृश्य हो।

और भी कतिपय ठीकरे हैं, जैसे नं० ५३ और ५६, जिन पर कूबड़ वाले बैल के सिर पर धनुष की चाप के समान सींग दिखलाए गए हैं। नतोदर और उन्नतोदर चाप के आकार के सींगों वाले ये बैल निस्सन्देह दो प्रकार के भिन्न-भिन्न जाति के पशु हैं जो सम्भवतः भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पाए जाते थे। ठीकरा नं० ६४ पर मोर की एक विचित्र आकृति है। इसका धड़ मोर का है परन्तु सिर धनुषाकार सींगों वाले बैल का है। 'कब्रिस्तान एच' शैली के कई एक ठीकरों पर विलक्षण अलंकरण पाए जाते हैं जिनके चित्र साथ के फलक में दिए गए हैं (फलक ३२, ठ-त)[2]।

वत्स महोदय ने ठीकरा नं० १८ को हड़प्पा की घरेलू कुम्भकला के उदाहरणों में सम्मिलित किया है (फलक ३०, छ)[3]। वस्तुतः यह ठीकरा 'कब्रिस्तान-एच' की शैली के किसी बर्तन का खण्ड है। इस पर चार संकीर्ण नर-मयूर प्राणी एक दूसरे के साथ हाथ मिलाए दो बकरों के बीच खड़े हैं। शव-भांड 'एच २०६ बी' पर बने हुए संकीर्ण प्राणियों की तरह ये मूर्तियाँ भी मृतक के सूक्ष्म शरीर की प्रतीक हैं। ये भी गर्व-प्रदर्शक दो बकरों के साथ परलोक-यात्रा के पथ पर आरूढ़ प्रतीत होते हैं।

उपसंहार—क्योंकि पूर्वोक्त चित्र कब्रिस्तान के शव-भांडों पर बने हैं इसलिए विश्वस्तरूप से कहा जा सकता है कि वे केवल अलंकरण मात्र ही नहीं अपितु किसी गूढ़ अभिप्राय के द्योतक हैं। मृतक के पारलौकिक जीवन के सम्बन्ध में तत्कालीन लोगों का जो दृढ़ विश्वास था उनकी स्पष्ट झलक इन चित्रों में मिलती है। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं कि 'कब्रिस्तान एच' के लोगों का परलोक में अटल विश्वास था और उनकी यह धारणा भी थी कि मृत्यु के अनन्तर मृतक की आत्मा नाना प्रकार की योनियों में संसरण करती है। वे इस बात में भी श्रद्धा रखते थे कि मरने के बाद मनुष्य की आत्मा परलोक-मार्ग में अनेक प्रकार की यातनाओं को झेलती हुई अन्त में कैवल्यानन्दमय दिव्य लोकों में निवास करती है। इन दिव्य लोकों में पूर्णस्रोत नदियाँ बहती थीं, स्निग्धछाय सुन्दर महाविटप थे, और ग्रहगण से आलोकित वायु-

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रन्थ २, फलक ६६।

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रन्थ २, फलक ६६।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रन्थ २, फलक ६६।

प्रदर्शन है जहाँ सकीर्ण बैल पर आरूढ़ नर-मयूराकार प्रेत के आगे-आगे मोर उड़ रहे हैं। इन चित्रो मे प्रेत का वाहन न केवल सर्वांग अथवा अर्धांग मोर ही है, अपितु प्रेत का शरीर भी उर्ध्वभाग मे मोर और अधोभाग मे मानुषी है। इससे स्पष्ट है कि प्रेत के साथ बैल और मोर का विशेष सम्बन्ध था, और ये दोनो जीव उसके वाहन तथा पथ-प्रदर्शक समझे जाते थे। इस बात का समर्थन पूर्वोक्त उन चित्रो से भी होता है जो ठीकरा नं० १२ और १३ पर बने हैं। इनमे नर-मयूराकार मृतक बैल के कूबड पर खडा दिखाया है। मृतक की अत्यक्रिया के साथ इस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण ही कब्रिस्तान के बर्तनो पर मोर के चित्र अकेले अथवा अन्य अलकरणो के साथ इतनी बहुतायत से पाए जाते हैं।

इन चित्रो मे इस बात का प्रमाण भी मिलता है कि पितृलोक मे प्रविष्ट मृतको की आत्माएँ पशुपक्षियो' और नाना प्रकार के क्षुद्र जन्तुओ के शरीरो मे वहाँ निवास करती थी। अतएव 'कब्रिस्तान एच' के बर्तनो पर मृत प्राणियो की आत्माएँ नाँदो मे सुख से निवास करती हुई मछलियो तथा विदुगर्भ गोलको आदि के रूप मे दिखलाई

मण्डल में कलरव करती हुई विहंग श्रेणियाँ विहार करती थीं। यहाँ मृतक की आत्मा शाश्वत परमानन्द और शान्ति में लीन निवास करती थी। इन लोकों में पहुँचने के लिए जीव को अज्ञात कान्तारों में से चलना पड़ता था जो अनेक प्रकार की विभीषिकाओं और उपद्रवों से संकुल थे। रास्ते में इसे एक अति गम्भीर भयानक नदी भी पार करनी पड़ती थी जहाँ न कोई नाव और न ही मल्लाह थे। यात्रा लम्बी और भयावह थी और रास्ते में खाने-पीने की कोई वस्तु भी नहीं थी। इसलिए मृतक के जीवित सम्बन्धियों का यह परम कर्त्तव्य था कि वे प्राणी को उन सब वस्तुओं से सुसज्जित करते जिनसे उसकी यात्रा सुगम हो जाती। मृतक के पारलौकिक जीवन में इस प्रकार का विश्वास 'कब्रिस्तान-एच' के शव-भांड 'एच-२०६ बी' के चित्रों में चारु रूप से प्रतिबिम्बित है। इसमें दो बैलों के मध्य में स्थित मृतक के सूक्ष्म शरीर के साथ भैंसे के सींगों वाला एक विशालकाय बकरा और इसी प्रकार के सींगों वाले दो मोर भी हैं। जैसा कि कई एक कब्रों में उपलब्ध हुआ है कभी-कभी मृतक के उपलक्ष्य में एक बकरा भी बलिदान किया जाता था और उसे मृतक के साथ कब्र में दबाया जाता था। परलोक के दुर्गम मार्ग में विश्वस्त गति वाला बकरा मृतक का बहुत उपयुक्त पथ-प्रदर्शक समझा जाता था। कभी-कभी इसी उद्देश्य से गोजाति के पशु की बलि भी दी जाती थी। इस मार्ग का संरक्षक एक कुत्ता था जो यम के श्याम और कर्बुर नाम के दो कुत्तों की तरह मृतक के मार्ग में बाधा डालता था। सुमेर और मिश्र के प्राचीन लोग भी पितृलोक में विश्वास रखते थे। उनके विचार में यह लोक एक दूरस्थ द्वीप था जहाँ मृतक का जीव एक द्विमुख नाविक की सहायता से ही पहुँच सकता था।

'कब्रिस्तान-एच' के लोगों की धारणा के अनुसार मृतक का जीव तब तक पितृलोक में प्रवेश नहीं कर सकता था जब तक कि उसका सूक्ष्म शरीर अंशतः मयूराकार[1] न बन जाता था। इस आंशिक परिवर्तन के बिना शाश्वत केवलानन्दमय लोक में उसका प्रवेश असम्भव था। शव-भांड एच-२०६ (ए) और २०६ (बी) पर बने हुए चित्र बतलाते हैं कि मोर इहलोक और परलोक में सम्बन्ध जोड़ने का एकमात्र साधन था। शव-भांड 'एच-२०६ ए' पर बने हुए तीन मोर मृतक को अपने शरीरों में धारण किये ग्रहगण से आलोकित अन्तरिक्ष में उड़ रहे हैं, और शव-भांड '२०६ बी' पर यही दिव्य पक्षी पशुओं के बीच मृतक के आगे-पीछे फुदकते हुए परलोक मार्ग में उसके सहायक बन रहे हैं। मटका नं० ७४३५ (ई) पर इन पथ-प्रदर्शकों का विशद

१. ऋग्वेद और अथर्ववेद में उल्लेख है कि मयूरी में विष का जानने और विष-दोष दूर करने की अद्भुत शक्ति है।

प्रदर्शन है जहाँ सकीर्ण बैल पर आरूढ नर-मयूराकार प्रेत के आगे-आगे मोर उड रहे हैं। इन चित्रो मे प्रेत का वाहन न केवल सर्वांग अथवा अर्धांग मोर ही है, अपितु प्रेत का शरीर भी उर्ध्वभाग मे मोर और अधोभाग मे मानुषी है। इससे स्पष्ट है कि प्रेत के साथ बैल और मोर का विशेष सम्बन्ध था, और ये दोनो जीव उसके वाहन तथा पथ-प्रदर्शक समझे जाते थे। इस बात का समर्थन पूर्वोक्त उन चित्रो से भी होता है जो ठाकरा न० १२ और १३ पर बने है। इनमे नर-मयूराकार मृतक बैल के कूबड पर खडा दिखाया है। मृतक की अन्त्यक्रिया के साथ इस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण ही कब्रिस्तान के बर्तनो पर मोर के चित्र अकेले अथवा अन्य अलकरणो के साथ इतनी बहुतायत से पाए जाते हैं।

इन चित्रो मे इस बात का प्रमाण भी मिलता है कि पितृलोक मे प्रविष्ट मृतको की आत्माएँ पशुपक्षियो[1] और नाना प्रकार के क्षुद्र जन्तुओ के शरीरो मे वहाँ निवास करती थी। अतएव 'कब्रिस्तान एच' के वर्तनो पर मृत प्राणियो की आत्माएँ नाँदो मे सुख से निवास करती हुई मछलियो तथा बिदुगर्भ गोलको आदि के रूप मे दिखलाई गई हैं। कई चित्रो मे ये नाँद 'यू' आकार के और कई म 'वी' अक्षर के आकार के है। इनके पार्श्व वक्र रेखाओ, पत्तो और वृक्ष-शाखाओ के बने है। एक मटके पर ये नाँद मयूर शीर्षक हैं[2], और दूसरे मे इसके पार्श्व चार वक्र पत्तो के बने है[3] और इसके अन्दर मछलियाँ हैं। मेरे विचार मे छोटे-छोटे बिंदुगर्भ गोलक और अड जो इन नाँदो अथवा टकियो मे पाए जाते हैं, डिम्भ दशा मे विद्यमान मृतको की आत्माओ के प्रतीक हैं। शव-भाँड न० एच २४५ (ए) पर ये बिदुगर्भ गोलक और अड उडते हुए मोरो के गलो और पूँछो के साथ चिमटे हुए इस बात को व्यक्त करते है कि मोर उन्हे पितृलोक मे पहुँचा रहे हैं। बिदुगर्भ गोलक जब एक दूसरे पर राशि के रूप मे चिने होते हैं तो अडों के समान प्रतीत होते हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि बहुत से चित्रो मे बने हुए सितारो के अन्दर या तो बिंदुगर्भ गोलक अथवा अडाकार अभिप्राय होता है। इनके चित्रण से क्या कब्रिस्तान के लोगो का यह अभिप्राय था कि सुमेरियन और मिस्री लोगो की तरह वे भी इन ग्रहो मे मृतको की आत्माओ का निवास मानते थे। मैं समझता हूँ कि गोलको, अडो, सितारो

---

१ मैसोपोटेमिया के कथानको मे वर्णन मिलता है कि जब इष्टर देवी तामिस्र अधोलोक म उतरी तो उसने वहाँ मृतको की आत्माओ को पक्षिरूप मे निवास करते देखा। (मैकेंजी)

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ६२, ४।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ६३, १६।

और मछलियों के उदर में जो बिंदु दिखलाये गये हैं वे शरीरगत निश्चेष्ट जीवन-शक्ति अथवा जीवन-तत्त्व के सूचक हैं। इन चित्रों के यथार्थ अध्ययन के लिये हमें इनके हर एक विवरण को महत्त्व देना चाहिये और उनके गूढार्थ को जानने में यत्नशील होना आवश्यक है। ये क्षुद्र विवरण कब्रिस्तान की कुम्भकला पर एक ही रूप में बार-बार दुहराये गये हैं, इसलिये वे निरर्थक अलकरण मात्र नही हैं। उनमे मृतक के पारलौकिक जीवन के सम्बन्ध मे तत्कालीन लोगों के परम्परागत दृढ विश्वास और धारणाएँ अन्तर्हित हैं।

पूर्वोक्त समालोचना के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि 'कब्रिस्तान-एच' के लोग अपने मुर्दों को कब्रों मे गाड़ते थे, तथापि अधोलोक मे विश्वास नही करते थे। इसके विपरीत मृतकों का अग्निदाह करने वाली जातियों की तरह उनका विश्वास था कि मरणानन्तर मनुष्य की आत्मा अधोलोक मे नहीं किन्तु उन्नत दिव्यलोक, सम्भवतः सूर्यलोक, में संक्रमण करती है[1]।

'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला पर प्रदर्शित अभिप्रायों में पीपल के वृक्ष का उच्च स्थान है। सिन्धुकालीन लोग इसे पवित्र ही नही किन्तु शाश्वत ज्ञान का देने वाला ब्रह्मतरु भी मानते थे। इसीलिये यह वृक्ष सिन्धुकालीन मुद्राओं और कुम्भकला पर प्रचुर संख्या मे मिलता है। परन्तु प्रतीत होता है कि 'कब्रिस्तान-एच' के लोग भी इसमे वैसी ही पूज्य भावना और निष्ठा रखते थे क्योंकि इस क्षेत्र मे उपलब्ध शव-भांडों तथा अन्य बर्तनों पर इसके अनन्त चित्र पाये गये है।

'कब्रिस्तान-एच' के निचले स्तर के बर्तनो पर जो चित्र मिले हैं उनमें मृतक की परलोक-यात्रा के दृश्य नही है, केवल वृक्ष, लता, पल्लव, पशु, सितारे, मछली आदि के साधारण चित्र ही पाये जाते हैं।

सूर्य-लोक में विश्वास—सिधु युग के लोगों का विश्वास था कि मरने के अनन्तर प्रेत सूर्यलोक की ओर प्रस्थान करता है। परन्तु उस लोक मे प्रवेश करने के पहले आवश्यक था कि प्रेत का शरीर अंशतः मोर के आकार मे बदल जाता। मोर

---

१. ऋग्वेद में स्वर्ग-सुख के सम्बन्ध में वर्णन मिलता है कि स्वर्ग मे शाश्वत ज्योति और प्रवहमान सरिताएँ हैं। वहाँ स्वच्छ विहार, दिव्य भोजन, परम सन्तोष, आह्लाद, आनन्द और सब कामनाओं की सिद्धि है।

(मेकडानेल-वैदिक माईथालॉजी)

पितृगण के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करता हुआ जीव शाश्वत आलोक वाले लोक में पहुँचता है और उसका शरीर दिव्य प्रभामण्डल से आलोकित होता है।

(अथर्व० ११, १)
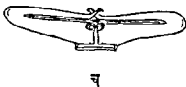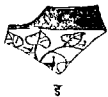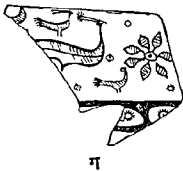
फलक ३३

निस्सन्देह मर्त्यलोक और सूर्यलोक के बीच सम्बन्ध जोड़ने में दिव्य दूत समझा जाता था। ऊपर के वर्णन में दिखलाया गया है कि शव-भांडों पर बने हुए चित्रों में कहीं तो मोर प्रेत को अपने शरीर में उठाये सूर्यलोक की ओर उड़ रहा है और कहीं पथ-प्रदर्शक के रूप में परलोक-यात्रा में उसका सहायक है। शव-भांड ७४३५ ई पर प्रेत संकीर्ण-शरीर वैलों पर सवार है और मोर उसके आगे-पीछे फुदक रहे है (फलक ३० ड)। ऐसा मालूम होता है कि किसी न किसी कारण से वैल, मोर, अश्वत्थ और कमल सूर्यलोक से सम्बन्ध रखते थे।

बहुत से शव-भांडों पर किरण-माली बिम्ब बने हैं जो स्पष्ट रूप से सूर्यबिम्ब के प्रतीक हैं। मोर का सूर्य के साथ साहचर्य लोक-प्रसिद्ध है क्योंकि नाना रंग के चंदवों से अलकृत नाचते मोर के वृत्ताकार पंख हठात् सौर-बिम्ब का स्मरण कराते हैं। संसार में इस सरीखा दूसरा कोई पक्षी नहीं है जिसका सम्बन्ध सूर्य से जोड़ा जा सके। इसीलिये कई जातियों के लोग इसे सौर-पक्षी (सन् बर्ड) कहते हैं और कई कई इसके प्रति पूज्य भावना भी रखते हैं।

सिंधु युग में अश्वत्थ भी सूर्य से सम्बन्ध रखता था। सिंधु मुद्राओं पर अश्वत्थ देवता पीपल के दोफांक तोरण के नीचे खड़ा दिखलाया है। तोरण के शरीर पर पीपल के पत्ते सूर्य की किरणों के समान बाहर को निखर रहे हैं (फलक १६ क)। सिंध में चन्हुदड़ो के टीले की खुदाई में जो ठीकरे मिले उनमें से कई पर बने हुए सूर्य बिम्बों पर किरणों की बजाय निखरते हुए पीपल के पत्ते हैं। इन बिम्बों को मोर बड़ी उत्कंठा से देख रहे हैं (फलक ३३, ग)। कई ठीकरों पर पीपल की शाखाओं पर खड़े मोर पत्तों पर ठोंगें मारते दिखाई दे रहे हैं। सम्भवतः वे वृक्ष के साथ चिमटे हुए विष-कीटों को हटाकर इसकी रक्षा कर रहे हैं (फलक ३३, ङ)। ऋग्वेद में वर्णन आता है कि मोर में विष दूर करने की अपूर्व शक्ति है (१, २४)। भारत के प्राचीन साहित्य में "सूर्योदय पर कमल-वन का खिल उठना और सूर्यास्त पर उसका मुंद जाना" आदि उल्लेख अनेक बार मिलते हैं। सिन्धु युग के लोग कमल के इस गुण से अच्छी प्रकार परिचित थे। इसीलिये उन्होंने सूर्य के साथ कमल के सम्वन्ध का प्रदर्शन किया है।

चिरकाल से वैल भारत मे पूज्य पशु माना जाता है। वैदिक काल में इसे महोक्ष अथवा महर्षभ कहते थे और लोग इसके प्रति सद्भावना रखते थे। पौराणिक युग मे यही पशु शिववाहन नन्दी हुआ। सिन्धु युग में भी यह किसी देवता का वाहन या प्रिय पशु था। क्योंकि अश्वत्थ-देव सिन्धु-काल का परमदेवता था इसलिये यही अनुमान लगाना उचित है कि पालतू पशुओं में बलिष्ठ यह भव्य पशु अश्वत्थ देवता से ही सम्बन्ध रखता था, और अश्वत्थ देवता की सूर्यदेव से एकात्मता सम्भव है।

अथर्ववेद में वर्णन मिलता है कि उस युग में मृतक के उद्देश्य से बैल की बलि दी जाती थी, सम्भवत इसलिये कि मृतक उस पर सवार होकर परलोक की यात्रा कर सके। हड़प्पा के शव-भांडो पर वस्तुत ऐसे चित्र हैं जिनमें प्रेत वृषारूढ होकर परलोक (सूर्यलोक) की यात्रा कर रहा है। ऋग्वेद में उल्लेख है कि मरने के अनन्तर मनुष्य की आत्मा जल, वनस्पति जन्तु आदि में सक्रमण करती है। इस कल्पना का समर्थन हड़प्पा के शव-भांडो पर बने हुए चित्रो से होता है जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। ऋग्वेद में एक दिव्य महाविटप का उल्लेख भी है। अथर्ववेद के अनुसार यह महाविटप अजीर की जाति का पेड था। अश्वत्थ भी इसी जाति का पेड है क्योंकि इसे वनस्पति-शास्त्री अब भी 'फाइकस रिलिजिओसा' कहते हैं। वैदिक साहित्य मे यह भी वर्णन आता है कि वरुण के स्पश (जासूस) और पूषन् देवता का निर्बाध-गति वाला बकरा परलोक-यात्रा में मृतक के सहायक एव पथ-प्रदर्शक (प्रपथ्य) होते थे। पूर्वोक्त सब भाव तथा कल्पनाएँ 'कब्रिस्तान एच' के शव-भांडो पर चित्रो के रूप मे अकित हैं।

सिन्धु युग के लोगो की जातीयता के सम्बन्ध मे अभी तक बहुत थोडी जानकारी प्राप्त हो सकी है। इसलिये इस युग के लोगो और वैदिक आर्यों की संस्कृतियो मे जहाँ कहीं भी परस्पर साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के लक्षण मिलें उन पर बहुत सावधानी से विचार करने की आवश्यकता है। इस विधि से इन संस्कृतियो का अध्ययन करने से और भावी अनुसन्धान की सहायता से बहुत सम्भव है कि निकट भविष्य में सिन्धु-सभ्यता की कठिन समस्या सुलझाई जा सकेगी।

'कब्रिस्तान-आर-३७'

यह कब्रिस्तान स्थानीय पुरातत्त्व सग्रहालय के कुछ दूर पश्चिमोत्तर मे स्थित है। सन् १६३७ मे इसकी उपलब्धि के अनन्तर नरवश-शास्त्री श्री एच० के० बोस की सहयोगिता से मैंने चार वर्ष तक लगातार यहाँ खुदाई कराई, जिसके फलस्वरूप पचास के लगभग प्रागैतिहासिक कब्रें प्रकाश मे आई। सिन्धु-सभ्यता के निर्माता हड़प्पा के आदिवासियो का यही एक कब्रिस्तान है जहाँ उनकी शव-विसर्जन-विधि तथा अन्त्यक्रिया के सम्बन्ध मे प्रमाण मिले हैं। सन् १६४६ मे डा० व्हीलर ने इस क्षेत्र के स्तरज्ञान के लिये 'कब्रिस्तान-एच' से लेकर 'आर-३७' तक परीक्षार्थ एक लम्बा खात खुदवाया जिससे मेरे इस विचार[1] का समर्थन हो गया कि 'कब्रिस्तान-आर-३७'

१. यह विचार मैंने अपनी उस रिपोर्ट मे व्यक्त कर दिया था जो सन् १६४५ मे डा० व्हीलर के कहने पर मैंने उन्हे लिखकर दी थी।

फलक ३४. हड़प्पा—कब्रिस्तान 'आर-३७' से उत्खात शवों के साथ रखे हुए बर्तन आदि

दूसरे कब्रिस्तान से प्राचीनतर तथा उन लोगों की कृति थी जो हड़प्पा की प्राचीन सभ्यता के निर्माता थे। इसके विपरीत 'कब्रिस्तान एच' उन विजातीय लोगों की कृति थी जो हड़प्पा की आदि-सभ्यता के ह्रास काल मे यहाँ आकर बस गये थे। इस सत्य की पुष्टि इस क्षेत्र की स्तर-रचना से स्वय होती है। 'कब्रिस्तान-एच' के पूर्वोक्त दो स्तर जिनमें क्रमश शव-भांड और सर्वांग मुर्दे मिले, 'आर-३७' की कब्रों वाले स्तर के ऊपर स्थित है। सन् १९४६ की खुदाई मे डा० व्हीलर को 'कब्रिस्तान-आर-३७' मे दस कब्रें और मिली थी। इनमें से एक कब्र मे ऐसा मुर्दा था जिसे आज से साढे पाँच हजार वर्ष पहले चटाई म लपेटकर कब्र मे लिटाया गया था। इस प्रकार मुर्दा गाडने की प्रथा तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० की सुमेरियन कब्रो मे साधारण थी, परन्तु सिन्धु के काठे मे ऐसी कब्र केवल यही एक मिली है।

डा० व्हीलर की पूर्वोक्त खुदाई से यह भी पता लगा कि आरम्भ मे 'कब्रिस्तान-आर-३७' शहर से दक्षिण की ओर कुछ दूरी पर एक ऊँची भूमि पर स्थित था। इस कब्रिस्तान और शहर (वर्तमान टीला 'डी' और 'ई') के बीच निम्नतल भूमि का एक बडा खड्ड था। जब कब्रिस्तान आर-३७' मे मुर्दे गाड़ना बद हो गया और कुछ काल के बाद इस 'शव-स्थान' की स्मृति भी लुप्त हो गई तो लोगों ने यहाँ कूड़ा-करकट फेंकना शुरु कर दिया। अनन्तर 'कब्रिस्तान-एच' के मुर्दे गाडने के पहले कूड़ा-करकट की एक ऐसी ही दूसरी तह भी इस क्षेत्र में भर दी गई थी। यद्यपि डा० व्हीलर को अपनी खुदाई मे दूसरी तह का एक भी मुर्दा इस क्षेत्र मे नही मिला, फिर भी स्तर-रचना से यह स्पष्ट हो गया कि दूसरे स्तर का कब्रिस्तान भी कूड़ा-करकट के भराव मे ही बनाया गया था और इसलिये वह भी 'आर-३७' से अर्वाचीन था।

'कब्रिस्तान-आर-३७' मे जो सत्तावन कब्रें खोदी गई उनमे से चार मे सर्वांग मुर्दे थे, चार कब्रें उत्तर-काल मे तोड-फोड दी गई थी और दो कब्रें आधी ही खुद सकी थी। अठारह कब्रों की समीक्षा से मालूम हुआ था कि इन स्थानो पर नीचे की प्राचीनतर कब्रें उत्तरकालीन कब्रों के खोदने से अस्त व्यस्त एव खडित हो गई थी, और आठ कब्रो की परिस्थिति से प्रतीत होता था कि इसी स्थान पर ऊपर नीचे भिन्न-भिन्न कालो मे तीन बार कब्रें खोदी गई थी जिससे नीचे की कब्रो मे बहुत गडबड हो गई थी। फिर भी स्तर-परीक्षा से यह स्पष्ट था कि 'कब्रिस्तान-आर-३७' एक ही स्तर से सम्बन्ध रखता था और आरम्भ से अन्त तक निरन्तर प्रयोग मे आता रहा।

साधारणत सिर को उत्तर की ओर करके मुर्दे को कब्र मे लिटाते थे, कभी दाएँ और कभी बाएँ पार्श्व के बल। एक कब्र में मुर्दे का सिर दक्षिण की ओर था। कब्रें भिन्न-भिन्न नाप की थी। लम्बाई मे १० से १५ फुट, चौडाई मे २.५ से १० फुट, और गहराई मे २ से ३ फुट तक थी। कब्र सिर की ओर चौडी बनाई जाती थी

जिससे सिर के पास बहुत से बर्तन रखे जा सकें। मुर्दे के साथ रखे हुए बर्तनों की संख्या दो से चालीस तक थी। अधिकांश बर्तन उसी शैली के थे जैसे कि हड़प्पा खंडहर के दूसरे भागों में पाए गये थे (फलक ३४, क-ज)।

कई कब्रों में मुर्दों के पंजरों के पास कुछ भूषण भी पड़े पाए गये। इनमें खड़िया पत्थर के मनकों से गुथे हुए हार तथा पाजेबें, कान की बालियाँ, शंख की चूड़ियाँ और मनके आदि सम्मिलित थे। एक मानव-पंजर के दाएँ हाथ की अनामिका अंगुली में ताँबे की अंगूठी थी। मिट्टी के बर्तनों तथा भूषणों के अतिरिक्त शृंगार की वस्तुएँ भी कब्र की सामग्री का अंग थी। सन १६३७ से १६४६ तक जितनी कब्रें खोदी गईं उनमें बारह ऐसी थी जिनमें से हर एक में ताँबे का दर्पण मिला था (फलक ३४, झ)। कई कब्रों में सीपियाँ, अंजन-शलाकाएँ और शंख के चम्मच भी पाए गये। कई मुर्दों के साथ पशुओं की हड्डियाँ भी मिली थी। एक कब्र में मुर्गे की हड्डियों के अतिरिक्त मुर्दे के पाँव के पास मिट्टी का दिया भी पड़ा था।

१०

वास्तु-कला

पहले निर्देश किया गया है कि ईंटों की लूट खसूट के कारण हड़प्पा के टीलों मे बहुत कम इमारतें उपलब्ध हुई थी। प्रागैतिहासिक काल से लेकर सन् १६१८ तक लोग हड़प्पा के टीलों से बेरोक-टोक ईंटें निकालते रहे। सबसे अधिक लूट गत शताब्दी के मध्य मे हुई जब लाहौर-कराची रेलवे लाईन बनाने के लिए ठेकेदारो ने लाखो मन ईंट रोडा यहाँ से निकालकर उससे रेल की पटरी तैयार की। अतः आश्चर्य नही कि हड़प्पा के टीले जिनमे उत्खाताओ को असख्य बहुमूल्य प्राचीन वस्तुएँ उपलब्ध हुई इमारतो मे प्राय शून्य ही पाए गये। इसके विपरीत मोहेंजो-दडो के खडहर मे अनेक सुरक्षित एव दर्शनीय इमारत प्रकाश मे आई है। बस्ती मे दूर जगल मे स्थित होने के कारण ये टीले मनुष्य की लूट-खसूट का शिकार न बन सके। इसके फलस्वरूप यहाँ दो-तीन मजिल ऊँचे पक्के मकानों की पक्तियाँ टूटी-फूटी दशा में भी दर्शक को चकित किये बिना नही रहती। उन्हे देख 'सहस्रजनी-चरित्र' मे वर्णित उन विशाल नगरो का स्मरण हो उठता है जो दैवी कोप से एक रात मे उजाड हो गये थे। अन्य सास्कृतिक विलक्षणताओं की तरह हड़प्पा और मोहजो दडो की वास्तु-कला भी एक समान थी।

नगर-योजना—हड़प्पा का प्राचीन नगर जो विस्तार मे मोहजो-दडो से कुछ बडा था योजना मे समान शैली का था। इसके मुख्य बाजार और गली कूचे भी उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम की सेध मे बने थे। इसका आभास टीलो के मध्यवर्ती उन तग रास्तो मे होता है जिन्हे अब भी स्थानीय लोग बैलगाडियो के यातायात के लिए प्रयोग मे लाते हैं। ये सकुचित रास्ते, जो प्रागैतिहासिक काल के राजपथो और वीथियो के द्योतक है, साधारणतः ध्रुवयन्त्र की मुख्य दिशाओं का अनुसरण करते हैं। मोहजो-दडो की तरह हड़प्पा के बाजार और गली कूचे भी तीर की तरह सीधे थे और इनके फर्श भी कच्चे बने थे। इमारतें अदर बाहर से सादी, अलकरणहीन, और बिना खिडकियो के थी। मकानो के छत चिपटे होते थे और लकडी के बत्तो, चटाइयो और घास-फूस के बनाए जाते थे। खुदाई से प्राप्त पकी मिट्टी और पत्थर की जालियो के टुकडो से विदित होता है कि कई मकानो मे सम्भवत रोशनदान भी थे। कुछ इमारतो की बुनियादी दीवारो की असाधारण मोटाई से पता चलता है कि
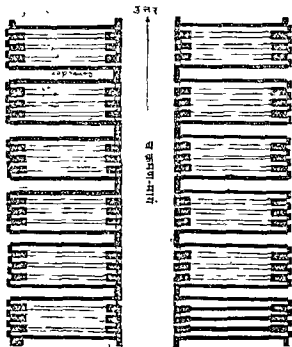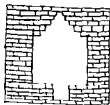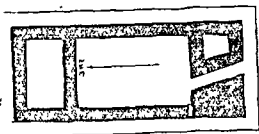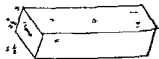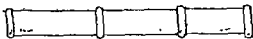
फलक ३५. हड़प्पा के प्रसिद्ध वास्तु

आरम्भ मे वे शायद दोमँजिले या तिमँजिले बनाये गये थे। सिंधु-निवासियो को डाटदार मेहराब बनाना नही आता था। दरवाज़ो और नालियो को छतने के लिए उसकी बजाय वे कनिया-मेहराब का प्रयोग करते थे जिसका समर्थन मोहेंजो-दडो के वास्तु खडो से होता है। अच्छी इमारतो की दीवारें नीचे से चौडी और ऊपर से तग अदर की ओर धँसी हुई बनाई गई थी।

हडप्पा और मोहजो-दडो के लोगो को गोल खभा बनाना नहीं आता था, यद्यपि सुमेरियन लोगो को इनका भली प्रकार ज्ञान था। बजाय इसके वे चौपहल खभे का प्रयोग करते थे। सम्भवत सिंधु के काठे मे डाटदार मेहराब या गोल खभा बनाने की आवश्यकता कभी पैदा ही नहीं हुई, क्योकि इस प्रान्त के जगलो मे छत और खभो के लिए बडे नाप की लकडी पर्याप्त मिल सकती थी। सम्पन्न तथा मध्यम श्रेणी के लोगो के घर पक्की ईंटो (११×५.५×२.५ इच) के बने है। इस नाप की ईंटें (फलक ३५, ड) हडप्पा और मोहजो-दडो के सब स्तरो मे सिंधु-सभ्यता के समस्त जीवन-काल मे आरम्भ से अन्त तक पाई जाती हैं। इसलिय सिंधु प्रान्त मे ईंटो के आकार से किसी स्तर अथवा इमारत के काल का अनुमान लगाना सम्भव नही। इस विषय म सिंधु-सभ्यता सुमेरियन-सभ्यता से भिन्न है। सुमेरियन काल के टीलो मे जब कभी ईंटो के आकार मे परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ तो उसका तात्पर्य प्राय 'राज्य विप्लव' समझा जाता था।

कभी-कभी कुओ की चुनाई मे फिन्नी के आकार की और स्नानागारो के फर्शो मे तराशी और घिसी हुई छोटे आकार की ईंटो का व्यवहार भी किया जाता था। ईंटो की चुनाई गारे मे होती थी, परन्तु विशेष विशेष इमारतो मे जलस्राव रोकने के लिए राल और जिपसम (गिरि पुष्पक) भी काम मे लाए जाते थे। इन दोनो द्रव्यो की खाने सीबी से ३५ मील पूर्व की किर्थर पर्वतावली मे आज भी पाई जाती हैं। ईंटें बनाने के लिये चिकनी मिट्टी नदी पुलिन से ली जाती थी और बनाने की विधि ठीक उसी प्रकार की थी जैसी कि आजकल भी पजाब और सिंध के पथेरे प्रयोग मे लाते हैं। वे लकडी के साँचो मे उतारी जाती थी और सूख जाने पर बन्द भट्टियो मे पकती थीं। प्राचीन भट्टियो के कुछ उदाहरण हडप्पा और मोहेंजो-दडो के खडहरो मे मिले है। अधिकाश पकी ईंटें उत्तम लाल रग की हैं और परस्पर टकराने पर धात की सी टँकार देती हैं।

उन्नत नाली-प्रबन्ध—सिन्धु वासियो के उन्नत जीवन और स्वास्थ्य-रक्षा-विज्ञान का दृढ प्रमाण उनका उत्तम नाली प्रबन्ध था। प्राय सभी निवासगृहो मे गदे तथा बारिशी पानी के निकास के लिए नालियाँ थी जो पानी को गली की नाली मे ले जाती थीं। गली की नालियाँ बाजार की बडी नाली मे, और बाजार की बडी

नालियाँ जमीदोज नाले में मिलकर नगर के मल को शहर के बाहर ले जाती थी। छोटी और बडी नालियो मे कहीं-कही कुंड बने होते थे जहाँ पानी मे मिली हुई ठोस वस्तुएँ नीचे बैठ जाती थी और गंदा पानी बेरोक-टोक आगे बह जाता था। समय-समय पर इन कुंडों को साफ करने का भी प्रबन्ध था। नालियों के फर्श पक्के थे और जलस्राव रोकने के लिये इनकी दरजो मे कही-कही जिपसम और चूने की टीप भी पाई गई थी। छतों पर से बारिशी पानी का निकास मकानों की दीवारो मे बने हुए परनालों अथवा शृंखलाबद्ध पकी मिट्टी की नलिकाओ (फलक ३५ च) के द्वारा किया जाता था।

हड़प्पा और मोहेंजो-दडो के खडहरो मे निचले स्तरो की इमारत ऊपर के स्तरों की इमारतो से बहुत उत्कृष्ट है। अर्थात् प्रारम्भिक और मध्ययुग की इमारतें सुयोजित, विशाल एव ठोस बनी है, परन्तु उत्तरकाल की वास्तु-कृतियाँ सकुचित, दुर्बल और बेतुकी हैं। इससे सिद्ध होता है कि सिंधु-सभ्यता के जीवन मे पहले दो युग इस सभ्यता का अभ्युदय काल था परन्तु उत्तरकाल मे वह धीरे-धीरे अवनति की ओर लुढक रही थी। अन्तिम काल में प्राक्तन विशाल एव सुदृढ मकान लुप्त होना शुरू हो गये और उनकी जगह छोटे और दुर्बल मकान बनाए जाने लगे। विशाल मकानों का छोटे-छोटे भागो में विभाजन और ईंट पकाने की भट्टियों का, जो पहले शहर के बाहर थी नगर के अदर आ जाना, इस बात का

चतुर्भुजाकार पाये थे, संकीर्ण वीथियों में बाँट दिया गया था। वीथियाँ चिकनी और कठोर मिट्टी से भरी थीं, परन्तु शालाओं के अन्दर जो मिट्टी का भराव था, उसमे ईंट, रोडे और ठीकरे मिले थे। वीथियाँ चंक्रमण-मार्ग की ओर ईंटो से बन्द की गई थीं परन्तु दूसरे सिरे पर खुली थी। इनके और पायों के मध्य में जो तंग दरारें थी उन्हें आरम्भ मे वायु-संचार के लिये खुला छोड़ दिया गया था, परन्तु बाद में ईंटों के छेददार चौपहल खम्भो से बन्द कर दिया गया था। धान्यशाला में दोनों पक्षों की उत्तरी और दक्षिणी सीमाओं की अन्तिम दीवारो के सिरो पर दृढता के लिए चौपहल पाये बने थे। दोनो पक्षो की दीवारो के चक्रमण-मार्ग वाले अन्त पर तीन फुट चौडी और एक फुट तीन इच गहरी एक बुनियादी दीवार थी। खुदाई के समय पश्चिमी पक्ष पूर्वी पक्ष की अपेक्षा अधिक सुरक्षित दशा मे था। इसकी अगभूत वीथियाँ और पाये सतह जमीन से तीन फुट की ऊँचाई तक खड़े थे परन्तु शालाओ के अन्दर की पतली दीवारें प्राय: नष्ट हो चुकी थी।

दोनों पक्ष बनावट मे परस्पर समान और एक ही आकार के बने है। इनकी शालाएँ और वीथियाँ एक दूसरी के बिलकुल सामने हैं। प्रतीत होता है कि उत्तर-काल मे पूर्वी पक्ष का जीर्णोद्धार किया गया था; विशेषत. दक्षिणी सिरे पर, जहाँ पहली इमारत की तीन दीवारें बाद की दीवारों के नीचे दबी पडी हैं। मध्यवर्ती चक्रमण-मार्ग मे वीथियो के अन्त पर बने हुए कई एक सुदृढ पाये, दो सीढियाँ और खड़ी ईंटों के कुछ फर्श प्राचीन इमारत का ही अंग प्रतीत होते हैं। दोनो पक्षो की एक और विलक्षणता यह है कि इनके इर्द-गिर्द एक जमींदोज पुश्ता दीवार के खण्ड मिले हैं। दक्षिणी सीमा पर यह दीवार दोनों पक्षो की लम्बाई के बराबर है, परन्तु पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं पर इसके केवल खण्ड ही मिले थे। मार्शल के विचार मे यह इमारत एक विशाल धान्यशाला थी। इसमें सन्देह नही कि यह विचित्र वास्तु निवास गृह नही था क्योकि इसमें बहुत कम घरेलू वस्तुएँ हस्तगत हुई थी और इसकी शालाएँ ऐसे संकीर्ण भागों मे बँटी थी कि वे मनुष्य-निवास के उपयुक्त भी नहीं थीं। अपने वर्तमान रूप मे यह स्मारक पूर्णांग इमारत की केवल पीठिका ही है जो सम्भवतः भूमि के नीचे ही छिपी थी। जब शालाओ की विभाजक दीवारें वीथियो के बराबर ऊँची थी तो इनके बीच का अवकाश दन्तक मेहराब विधि (फलक ३५, ख) अथवा लकड़ी के बत्तो से छता जा सकता। इस प्रकार छत डाल देने से जो चबूतरा सा बन जाता था वही यथार्थ धान्यशाला थी। इसके अधोभाग मे बनी हुई तंग गलियों में वायु के निरन्तर आवागमन से धान्य सड़ने गलने से सुरक्षित रहता था।

शिल्पियों के निवास-गृह (फलक ३५, घ)—हड़प्पा की यह विचित्र इमारत 'टीला-एफ' के खात नं० ४ मे निकली थी। इसमे भी समानाकार बने हुए निवास-
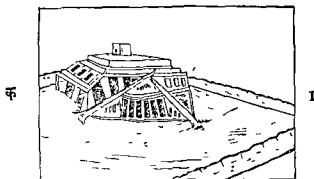
ZIGGURET AT UR
'उर' नगर का पीठ मन्दिर
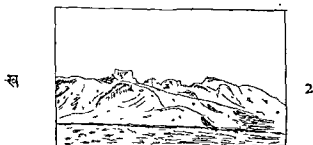
RUINS OF TOWER OF BABEL
बाबल के विख्यात पीठ मन्दिर के ध्वंस
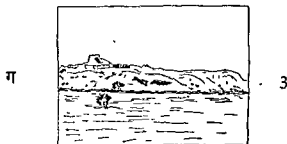
STUPA MOUND (Mohenjo-Daro)
स्तूप-टीला (मोहेंजो-दड़ो)

फलक ३६. मेसोपोटेमिया के जिग्गुरत और मोहेंजो-दड़ो का स्तूप-टीला

फलक ३७. सिन्धु-कालीन वेष-भूषा के कुछ उदाहरण

अलंकृत शॉल ओढ़े है। एक दूसरी मूर्ति के अधोभाग में घाघरे की तरह लम्बा कटि-वस्त्र है जिसे एक कमरबन्द से कसकर बाँधा हुआ है (फलक ३५, ठ)। इससे प्रतीत होता है कि सिन्धु-निवासियों में उत्तम कोटि के लोग सुन्दर वस्त्र पहनते थे। आश्चर्य है कि सिन्धु-प्रान्त में जहाँ कपास की इतनी पैदावार थी और लोग कपड़ा बनाना भी अच्छी प्रकार जानते थे नर-नारियों में इतनी नग्नता हो। सम्भव है कि स्त्री पुरुषों में इस प्रकार नग्नता दिखलाने का कोई और ही कारण हो। हड़प्पा के एक कुम्भखंड पर चित्रित बहँगी वाला मनुष्य अधोभाग में जोधपुरी पाजामे की तरह वस्त्र पहने दिखाई देता है (फलक ४३, क)। कपास सिन्धु देश की अपनी उपज थी और यहाँ से विदेशों को भी जाती थी। मेसोपोटेमिया में भारतीय कपास को 'सिंदु' और यूनान में 'सिडान' के नाम से पुकारते थे। दोनों शब्दों का अर्थ 'सिन्धु' अर्थात् 'सिन्धु देश की उपज कपास' है। इस बात को दृष्टिगत करते हुए कि सिन्धु निवासी सभ्यता की कोटि में बहुत ऊँचे थे और उनके देश में भेड़ बकरियाँ भी प्रचुर संख्या में थीं, यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि इन लोगों को ऊनी कपड़े बनाना भी आता था। यद्यपि प्रत्यक्षरूप से ऐसी कोई उपलब्धि नहीं हुई जिससे इसका समर्थन हो सके।

सिन्धुकालीन शासक जाति के लोग सुवर्ण-पत्र की बनी हुई सिंगार-पट्टियाँ (नारे) माथे पर पहनते थे। हड़प्पा में इस प्रकार की केवल एक ही पट्टी मिली थी (फलक ३८, ढ), परन्तु मोहेंजो-दड़ो में कई एक हस्तगत हुई थीं। इनमें से एक पट्टी के दोनों सिरों पर बारीक छेदों से उस पवित्र वेदिका की आकृति बनी है जो मुद्राओं पर एकशृंग के गले के नीचे पाई जाती है। इसमें संदेह नहीं कि माथे की सिंगार पट्टी पर इस अलंकरण का अभिप्राय केवल यह था कि इस पट्टी का धारण करने वाली सदा दीर्घायु, समृद्ध और शक्तिशाली बना रहे। स्मरण रहे कि सिन्धु मुद्राओं पर

फलक ३९. सिन्धुकालीन वेश-भूषा के अन्य उदाहरण

पर खुदी हुई देवियों की चोटियों के सिरे पर एक फूल सा अलंकरण लगा रहता है।

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो से प्राप्त मिट्टी की पुरुष-मूर्तियों का केशवेश विविध प्रकार का है। हड़प्पा की दो पाषाण मूर्तियां केवल कबन्ध मात्र हैं इसलिये उनकी केश-रचना के सम्बन्ध में कुछ कहना असम्भव है। परन्तु मोहेंजो-दड़ो की पाषाण मूर्तियां जिनके सिर सुरक्षित हैं स्पष्टता से बतलाती हैं कि इस युग में उच्च श्रेणी के मनुष्यों का केशवेश किस प्रकार का था। खड़िया पत्थर की आवक्ष देवमूर्ति के सिर पर के पट्टों में सीधी सीवन है और माथे पर सिंगार पट्टी का अलंकरण है (फलक १५ ग)। इसी भाँति की दूसरी आवक्ष मूर्ति के लम्बे केश जूड़े के रूप में सिर के पीछे बँधे हुए हैं (फलक १२, क २)। कई एक मिट्टी की मूर्तियों के बाल कुंडलाकार हैं जिनमें से कुछ कुंडल सिर की चोटी पर और कुछ कानों के इर्दगिर्द लिपटे हुए हैं (फलक ३६, ड)। एक दूसरी मूर्ति ने अपनी चुटिया को दोहरा करके उसे पट्टी से बाँधा हुआ है (फलक ३६, च)। एक अन्य पुरुष के बाल ऊँचे जटाजूट के रूप में प्रसाधित हैं (फलक ३७, ठ)।

पुरुषों की दाढ़ियां प्रायः छोटी और कुछ नुकीली तथा मूंछे सफाचट हैं (फलक ३६, ड-छ)। मालूम होता है कि पुरुषों में यह सामान्य रिवाज था, यद्यपि कई मूर्तियों में इसके विरुद्ध और प्रकार की क्षौर क्रिया के उदाहरण भी मिले हैं, जैसे पुरुषमूर्तियाँ नं० २,३,४,२० आदि बिना दाढ़ी के हैं[1]। और पुरुष मस्तक नं० ७ की मूंछ दाढ़ी सब सफाचट है[2]। केवल लम्बे केश स्त्रियों की चोटी की तरह कुंडलाकार पीछे बँधे हुए हैं।

वेश-भूषा के कई रिवाज स्त्री पुरुषों में सामान्य थे। लम्बे बालों को जूड़ा बनाकर सिर के पीछे धारण करना और उनकी सजावट तथा उन्हें अपने स्थान पर बिठाने के लिये सूइयों का प्रयोग करना स्त्री पुरुषों में सामान्य था। मोहेंजो-दड़ो की एक मूर्ति के सिर पर बालों में सूई दिखलाई गई है। बालों की सजावट के लिये पशु शीर्षक तथा कुन्तल शीर्षक सूइयाँ (फलक १२, छ-ज) भी प्रयोग में आती थीं। दोनों पक्षों में कंघों का व्यापक प्रयोग होता था और कभी-कभी कघे सिर में भी टाँगे रहते थे। यह प्रथा अब भी उन लोगों में प्रचलित है जो सिखों की तरह लम्बे केश धारण

---

१. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रं० २, फलक ७६।

२. मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इंडस वेली सिविलाइजेशन ग्रं० ३, फलक ६६।

करते है। अजन और सुगंधि द्रव्य, तांबे के उस्तरे (फलक ४०, ड) और दर्पण स्त्री पुरुषों की शृंगार सामग्री की प्रधान वस्तुएँ थीं। शरीर के कई भूषण जैसे कानफूल बाजूबंद, कनपटी के अलंकरण, नाक की बालियां, पाजेबें, मेखला आदि केवल स्त्रियों के ही गहने थे, परन्तु कान की बालियां, अंगूठियां, कंगण, कण्ठहार, सिंगार पट्टियाँ आदि नर-नारी दोनों पहनते थे।

१२

धात की वस्तुएँ

सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा और सीसा ये पाँच धातें सिंधु युग के लोगों को अच्छी प्रकार मालूम थी। उन्हें सोने और चाँदी के मिश्रण से बनी हुई 'एलेक्ट्रम' नाम धात का भी ज्ञान था। ताँबे और राँगे के मिश्रण से काँसा बनाना उन्हे आता था और मिश्रित धात को वे प्राकृत रूप मे खानों से भी प्राप्त करते थे। साधारणतः ताँबे में ९ से १२ प्रतिशत राँगे की मिलावट अच्छी भांत का काँसा बनाने के लिये पर्याप्त है। परन्तु मोहेंजो-दडो की कई कांस्यवस्तुओ में राँगे की मात्रा २६ प्रतिशत तक पहुँच जाती है। इससे पता लगता है कि सिंधुकालीन शिल्पियों को काँसा बनाने मे उचित अनुपात मे इन धातों के मिश्रण पर नियंत्रण नही था और साधारणतः वे काँसे को प्राकृतरूप मे खानो से ही प्राप्त करते थे।

सोना विविध आभूषण बनाने के काम आता था। मोहेंजो-दडो मे सोने की जो तीन सूइयाँ मिली वे एक असाधारण सोना उपलब्धि थी। कई गहने केवल सोने के ही थे, और बहुत से, जो चाँदी, पत्थर आदि के बने थे, उनमें सोना केवल अंशतः प्रयोग में लाया गया था। अभी तक सोने का एक भी बर्तन सिंधु के काँठे में नही मिला। सोने के आभूषणों में मनके, मनकों की टोपियाँ, बाजूबंद, चूड़ियाँ, कानफूल, लटकन, क्लिप, कंठहार, कलाई बंद, सिंगार पट्टियाँ, बातियाँ आदि सम्मिलित थीं। सोने का प्रधान गुण यह है कि हजारों वर्ष मिट्टी में दबा रहने से भी इस पर न तो जंग लगता है और न ही यह अपनी दमक छोड़ता है। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की खुदाई में सोने चाँदी की छोटी से छोटी वस्तु भी यथावत् सुरक्षित पाई गई थी। सिंधु कालीन खंडहरों में चाँदी की वस्तुएँ इतनी संख्या मे नही मिली जितनी कि सोने की, शायद इसलिये कि चाँदी मिट्टी मे दबी रहने से गल सड़ जाती है। ताँबे की तरह इस पर भी हरे रग का जंग चढ़ जाता है और इस दशा मे चाँदी और ताँबे मे पहचान करना कठिन होता है। केवल रासायनिक शुद्धि के अनन्तर जब जंग उतर जाता है तभी चाँदी और ताँबे की वस्तुओं में भेद-प्रतीति सम्भव है। सिंधु के काँठे में भूषण या छोटे पात्र बनाने के लिये चाँदी का उपयोग किया जाता था। हड़प्पा की खुदाई मे चाँदी के मनके, खोखले कंगण, टोपियाँ एक छोटा पात्र तथा अन्य कई वस्तुएँ मिली थी।

चित्र ४०, लोहे और ताँबे की वस्तुएँ
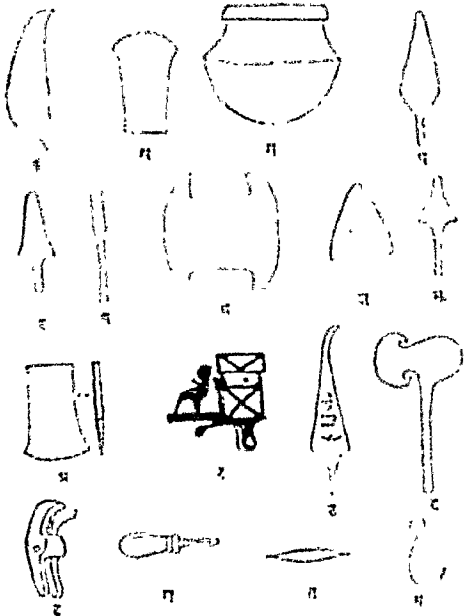
तांबा और कांसा—शस्त्रोपकरण, बर्तन, भूषण और घरेलू उपयोग की अनन्त वस्तुएँ बनाने के लिए ताँबे और कांसे का व्यापक रूप से प्रयोग होता था। सबसे प्रधान उल्लेखनीय उपलब्धि ताँबे का देगचा नं० २७७ था जो इसी धातु की थाली से ढका हुआ पाया गया था (फलक ४०, ग)। इसमें एक सौ से अधिक ताँबे के हथियार, औजार, भूषण आदि बंद थे। इसकी उपलब्धि टीला-एफ के खात नं० १ के तीसरे स्तर में सतह जमीन से ५ फुट ६ इंच की गहराई पर हुई थी। इसमें अधोलिखित वस्तुएँ सम्मिलित थी—

२१, कुल्हाड़े (फलक ४०, ख) भालों के फल और खाल उतारने के छुरे (घ), गदाशिर, बर्छे, दो-दो मुँहे कुल्हाड़े (छ), ११ छुरे (ड), तीर का फल (झ), कटार, दो आरे (ट) और दस छेनियाँ (च)। भूषणों में कगण, और हारों में पिरोने की अर्धचंद्राकार टोपियाँ थी। इनके अतिरिक्त घरेलू उपयोग की सात वस्तुएँ थीं, जैसे कटोरा, तराजू का डंडा, लिखने की कलम आदि। पूर्वोक्त देगचे की पेंदी में धुएँ की स्याही लगी थी जिससे मालूम होता था कि यह रसोई का बर्तन था और किसी आकस्मिक भय के कारण इसके स्वामी ने इसमें पूर्वोक्त वस्तुएँ डालकर इसे दबा दिया था।

ताँबे का रथ (फलक ४०, ट)—ताँबे की एक और मनोरंजक वस्तु दो पहियों का नोकदार छत वाला छोटा-सा रथ है। इस पर आगे कोचवान बैठा है जिस के सिर के लंबे बाल जूडे की तरह बंधे हैं। उसकी बाईं भुजा ऊपर को उठी है। परन्तु हाथ के टूट जाने से पता नहीं लगता कि इसमें वह चाबुक पकड़े था या बाग-डोर। यह खिलौना रथ सम्भवत. संसार में पहियेदार वाहन का प्राचीनतम उदाहरण है।

हड़प्पा के टीलों में ताँबे की और भी कई प्रकार की वस्तुएँ मिली थीं, जिनमें लेखांकित ताम्रखंड, मनके, शलाकाएँ, सूइयां, बर्तन, बबूल की फलियों के आकार के चिपटे पत्ते, तार में बंधे हुए तीन उपकरणों—सूआ, चिमटा और आरी—का गुच्छा, वर्णनीय है। इनके अतिरिक्त अन्य विविध वस्तुओं में देगचे, कलसियाँ, कटोरे, थालियाँ, आरे, गोल घटमंच, बसुला, कुल्हाड़ा, छेनियाँ, छुरे, उस्तरे (फलक ४०, ड) अजन-शलाका, दर्पण, मछली पकड़ने की कुंडियाँ (फलक ४०, थ) तीर के फल (ज), कुंडे आदि भी उल्लेखनीय हैं। मोहेंजो-दड़ो में ताँबे की अनेक चौकोण पट्टियाँ मिली थी जिनके एक ओर चित्राक्षर और दूसरी ओर पशु है। ये लेखांकित पट्टियाँ तथा मनुष्यों और पशुओं की मूर्तियाँ मोहेंजो-दड़ो की विशेष उपलब्धियाँ हैं जो हड़प्पा में अभी तक नहीं मिली। ताँबे की मूर्तियों में नग्न नर्तकी विशेषतया वर्णनीय है क्योंकि यह ताम्र मूर्तिकला का अपूर्व उदाहरण है (फलक ३७, ड)।

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के ताँबे में निकल (एक) और संखिये का जो मिश्रण पाया जाता है उससे उन खानों का पता लगाना कठिन नहीं जहाँ से सिन्धु निवासी अपने उपयोग के लिए कच्चा ताँबा मँगवाते थे। हड़प्पा के ताँबे में निकल साधारणतः ७ प्रतिशत की मात्रा में मिश्रित है परन्तु अधिक से अधिक १ प्रतिशत की मात्रा में भी मिलती है, और संखिया ७ प्रतिशत तक पाया जाता है। निकल और संखिये की मात्राओं वाला कच्चा ताँबा भारत में खेतरी, अलवर और सिंघभूम की खानों में तथा अफगानिस्तान में भी मिलता है। क्योंकि राजपूताना की पूर्वोत्तर की खानें हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के समीप हैं इसलिये सिंधु-घाटी के लोग अपनी इस आवश्यकता को इन्हीं खानों से पूरा करते थे। राँगे की खानें आजकल ईरान में खुरासान और कारादाग नामक स्थानों तथा भारत में हजारीबाग में हैं। यद्यपि हजारीबाग की खानों में इस समय राँगे का बहुत कम निकास है, तथापि सम्भव है कि प्राचीन काल में शायद उनकी पैदावार अधिक थी। हड़प्पा के ताँबे में राँगा, संखिया, अंजन, सीसा, निकल (एक), लोहा आदि खनिजों का मिश्रण प्राकृतिक है और यह मिश्रण खानों में उद्धृत कच्ची धातु में ही था, लोहकारों द्वारा मिलाया हुआ कृत्रिम नहीं था[1]।

वह ताँबा जिसमें ८ से ११ प्रतिशत तक राँगा मिला हो, दृढ़, लचकदार और कठिन चोट सहने के समर्थ हो जाता है। हड़प्पा के काँसे में राँगा ११ प्रतिशत से अधिक बहुत थोड़ा मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि स्थानीय लोहारों को ताँबे में उचित अनुपात से राँगा मिलने की विधि अच्छी प्रकार विदित थी। काँसे की छेनियाँ और दूसरे कई औजार ढाले हुए हैं, परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि हड़प्पा के लोहकारों को मधूच्छिष्ट विधि से साँचों में मूर्ति ढालने की क्रिया आती थी। यद्यपि मोहेंजो-दड़ो से काँसे की कई ऐसी वस्तुएँ मिली हैं जिनसे पता चलता है कि यह विधि सिंधु-कालीन लोगों को अज्ञात नहीं थी। इसकी पुष्टि में एक तो नर्तकी की नग्न मूर्ति और दूसरा काँसे का भैंसा है। ये दोनों मूर्तियाँ इसी विधि से ढाली गई थीं।

---

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ १ पृष्ठ ३७८-३८०।
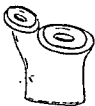
फलक ४१. घरेलू उपयोग की वस्तुएँ

१३

घरेलू उपयोग की वस्तुएँ

हड़प्पा की खुदाई में घरेलू उपयोग की विविध वस्तुएँ मिली थीं। उनमें मसाला आदि पीसने की सिल लुढ़िया (फलक ४१, ढ) रंग, मिलाने की तखतियाँ, कातने की तकलियाँ तथा दमकड़े (छ ट,ड), मिट्टी की असंख्या शुड्डाकार मुदरियाँ (फलक ४१, ञ) जो सम्भवत मछली पकड़ने के जालो की गोलियाँ थी,[१] शख और मिट्टी के करछुले और कटोरे जो शायद दवाई पीने या रसोई के काम आते थे।

अच्छी प्रकार पालिश किये हुए छोटे बड़े आकार के तोल (फलक ४१, ठ) हड़प्पा और मोहेंजो दड़ो की खुदाई में बहुत मिले थे। छोटे से छोटा तोल ग्रैम की एक कसर है, जब कि सब से बड़ा २७४ ६३८ ग्रैम अथवा सेर का ३/५ भाग है। मोहेंजो-दड़ो में २५ पौंड (१२ ५ सेर) के लगभग शिवलिंग के आकार का जो पत्थर का वज़न मिला था वह एक असाधारण उपलब्धि थी। प्रो० हैमी, जिन्होंने इन तोलो का परीक्षण किया, के अनुसार सिंधु कालीन तोल प्रणाली दो और दस की संख्या से घटती बढ़ती थी। इस प्रणाली का आरम्भिक तोल, अर्थात इकाई, ० ८५६५ ग्रैम था। ये वजन घन, बेलन (फलक ४१, ण), ढोल गोलक शलाका और शकु के आकार के थे। इनमें से घनाकार (फलक ४१, ठ) तोलो का व्यवहार सब से अधिक था। बेलन के आकार (फलक ४१, ण) के तोलो का व्यवहार समकालीन मिश्र, सुमेर और एलम में भी था। अधिकाश घनाकार तोल चकमक के बने हुए हैं। उनके कोने बहुत सीधे हैं और उन पर चमकीला पालिश चढ़ा है। ढोलक की शकल के वजन अच्छी प्रकार घुटे हुए स्याह पत्थर के बने हैं। परन्तु इन नाना भांति के तोलो में केल्सीडनी नामक झीने पत्थर के बने हुए गोल वजन अत्यन्त मनोहर हैं। सिंधु युग के तोल रत्ती, माशा आदि आधुनिक भारतीय तोल प्रणाली से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। और न ही इनका सुमेरियन तोल प्रणाली से किसी प्रकार का सादृश्य है। कई विद्वानो की सम्मति में समकालीन मिश्र देश के तोलो से इनका आंशिक सम्बन्ध अवश्य रहा होगा।

हड़प्पा में वत्स महोदय को लम्बाई नापने का एक नाप उपलब्ध हुआ था। यह तॉबे की एक खडित गोल शलाका पर, जो डेढ इंच लबी और सूत से कुछ अधिक

मोटी, थी, अंकित था। इस पर अंग्रेजी अक्षर 'वी' के आकार के चिह्नों में विभक्त चार समान भाग बने हुए थे। हर एक विभाग ० ९३४ सेंटीमीटर अर्थात् ० ३६७६ इंच के करीब था जो ० ७३७ संख्या का आधा अथवा मिश्र की प्राचीन "हस्त-मान प्रणाली" (अर्थात् २.९४७ इंच) का आठवाँ भाग है। फ्लिंडर्स पिट्री के अनुसार मिश्र की यह प्राचीन मान-प्रणाली २० ६२ इंच के प्रचलित 'हस्तमान' पर आश्रित थी जिसे मिश्र के इतिहास में 'राजकीय-हस्त' के नाम से व्यवहृत किया गया है। यह मान मिश्र के प्राक् वंशावली काल की राज-समाधियों के समय से प्रयोग में आता था और 'गुडिया' पतेसी के समय मेसोपोटेमिया में भी विदित था। पुरातत्त्व के भूतपूर्व रसायन शास्त्री श्री सनाउल्ला के मत में यह नाप सिंधु-प्रान्त में विदेश से आया था[1]। इसी प्रकार का एक नाप जो शंख के टुकडे पर खुदा है मोहेंजो-दड़ो में पाया गया था। इसका सादृश्य मिश्र के १३.२ इंच के 'फुट' (पाद) मान से किया गया है जो प्राचीन मिश्र, लघु एशिया, यूनान, सीरिया आदि देशों में प्रचलित था। वत्स महोदय लिखते हैं कि पूर्वोक्त दोनों नापों से हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो की मुख्य-मुख्य इमारतों के आयाम का परीक्षण किया गया था और इमारतों की लंबाई चौड़ाई पूर्वोक्त नापों का सामान्य गुणनफल था। हड़प्पा का नाप मिश्र के 'राजकीय-हस्तमान' के समान और मोहेंजो-दड़ो का नाप १३.२ इंच फुट-मान (पाद मान) से मिलता है। वे पुनः लिखते हैं कि सम्भवतः दोनों मान प्रणालियाँ, जिनमें से एक 'पाद मान' और दूसरी 'हस्त-मान' पर आश्रित थी, एक ही समय सिंधु-देश में प्रचलित थीं। उनका यह विचार केवल सम्भावना ही है। जब तक इस भाँति के बड़े नाप इस भूखंड में नहीं मिलते तब तक इन छोटे टुकड़ों के आधार पर मिश्र से सिंधु-सभ्यता का सम्बन्ध स्थापन करना अनुचित है। इतने छोटे-छोटे खंड जिन पर संदिग्ध अभिप्राय के चिह्न अंकित हैं बड़ी-बड़ी इमारतों के परीक्षण में प्रामाणिक नाप नहीं हो सकते, और न ही इस साक्ष्य के आधार पर इनका अपना मूल्य आँका जा सकता है। अतः निश्चितरूप से यह कहना सम्भव नहीं कि इन खंडों पर खुदे हुए चिह्न किसी मान-प्रणाली के प्रतीक थे। हो सकता है कि ये निशान किसी और प्रयोजन के लिए लगाये गये हों।

पूर्वोक्त ताँबे और काँसे के शस्त्रोपकरणों के अतिरिक्त सिंधु-कालीन लोग इस प्रयोजन के लिए पत्थर का प्रयोग भी करते थे। पत्थर के शस्त्रोपकरणों में गदा, कुल्हाड़ा (फलक ४१, घ) खुरचनी (ङ, च) बरमा आदि पाए गये हैं। गदा चार आकार की थी—गोल, नाशपाती नुमा, उन्नतोदर वृत्ताकार, और ढोल की शकल की। इन सबमें लकड़ी के दस्ते डालने के लिए छेद थे।

---

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रंथ १, पृष्ठ ३६५।

विविध घरेलू वस्तुओं में निम्ननिर्दिष्ट वर्णनीय हैं। पत्थर के चतुर्दल पुष्पाकार शंकु (फलक ४१, ख), जिनके शिखर गोल और पेंदियाँ चिपटी हैं। इनमें से एक लाल पत्थर का और शेष संगजराहत (एलेबास्टर) के हैं। हर एक के बीच चोटी में पेंदी तक एक गोल छेद तथा शरीर पर एक बन्द सुराख था। प्रतीत होता है कि ये शंकु शायद वेदिका-स्तम्भों में कसे थे, धातु और मिट्टी के करछुले, कटोरे तथा चम्मच, कई भाँति की शीशियाँ जिनमें आँख के लेप, मरहम अथवा बच्चों को पिलाने की दवाइयाँ डाली जाती थीं, जैसा कि आजकल भी गाँवों में प्रथा है। हाथ-पैर साफ करने के लिए मिट्टी के गोल झाम, कई प्रकार के दिए (फलक ४१, ग) मिट्टी के टूटी-दार भबके, छिद्री हुई पक्की मिट्टी की टाइलें जो शायद रोशनदानों या झरोखों की जालियाँ थीं, आड़ी टेढ़ी रेखाओं से अंकित टाइल जो शायद क्रीड़ा-फलक था, चपाती बनाने के लिए मिट्टी का चकला जो आजकल के लकड़ी अथवा पत्थर के चकलों के समान है, पत्थर और ईंटों की बनी हुई दरवाजों की चूलें, मिट्टी के परनाले, हथियार औजार तेज करने की पथरियाँ आदि।

हड़प्पा और मोहंजो दड़ो की खुदाई में पत्थर के अगणित गोले मिले थे। इनके सम्बन्ध में साधारण विचार है कि ये एक प्रकार के अस्त्र थे जो बलिस्टा' नामक लकड़ी के यन्त्र के द्वारा शत्रु पर फेंके जाते थे। इसी प्रकार आमले के समान मिट्टी के असंख्य गोले जो इन खण्डहरों से मिले सम्भवतः गुलेल की गोलियाँ थीं जिनसे लोग पक्षियों का शिकार करते थे। मिट्टी, फेंस और शंख की अगणित तकलियाँ (फलक ४१ छ ज, झ, ञ, ट) सूत कातने और कपड़ा बुनने के काम आती थीं। इसमें सन्देह नहीं कि सिंधु-घाटी में कपास की बहुतायत के कारण यह दस्तकारी बड़ी उन्नति पर थी। सिंधुकालीन लोग गेहूँ, जौ, तिल, मटर और खरबूजे की कृषि जानते थे। इन्हें खजूर, अनार, नारियल और कमल के पौधों के उत्पादन का भी ज्ञान था। इसका समर्थन इन पौधों के बीजों अथवा प्रतिकृतियों से जो खण्डहरों में मिली हैं सिद्ध होता है। खेती-बाड़ी के सम्बन्ध में बीजने, काटने और समेटने के लिए वे नाना प्रकार के लकड़ी के साधनों और उपकरणों का प्रयोग अवश्य करते होंगे, परन्तु गैर-टिकाऊ द्रव्यों के बने होने के कारण खुदाई में इनके कोई अवशेष नहीं मिले।
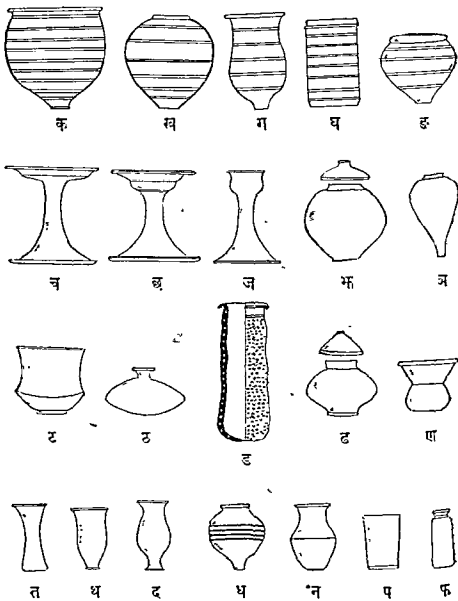
फलक ४२. सिंधु-कालीन कुम्भ-कला के कुछ उदाहरण

१४

कुम्भकला

मोहेंजो-दडो की तरह हडप्पा में भी इतर वस्तुओं की अपेक्षा मिट्टी के बर्तन अत्यधिक सख्या में मिले हैं। धातों के दुर्लभ होने के कारण धनी और निर्धन लोग प्राय मिट्टी के बर्तन ही काम में लाते थे। फलत. उस समय कुम्भकला उन्नत कोटि पर पहुँची हुई थी। अधिकाश बर्तन चाक पर बनाये गए थे। बर्तन कई आकार और परिमाण के हैं। एक ओर तो महाकाय माट हैं (फलक ४२, ख) जो ऊँचाई तथा व्यास में तीन फुट के लगभग हैं, परन्तु दूसरी ओर ऐसे भी छोटे बर्तन हैं जो ऊँचाई में केवल आध इच के करीब हैं। इन सीमाओं के बीच छोटे-बड़े असख्य बर्तन पाए गए थे। आकार मे बड़े बर्तन कई प्रकार के थे, जैसे शलगमनुमा (फलक ४१, ख), खुले मुँह और गावदुम पैंदी के नाँद (फलक ४२, क), बड़े और मझोले गोल मटके (फलक ४२, झ), गाजर के आकार के भाँड (फलक ४२, ट)। विलक्षण आकार के छोटे बर्तनों में ये वर्णनीय हैं—तग मुँह वाली चिपटी कलसियाँ (फलक ४२, ठ), बेलन के आकार की बोतलें (फलक ४२, फ), अनाज नापने के पात्र (फलक ४२, ण) आदि। सिंधु कुम्भकला के बर्तन घर की हर आवश्यकता को पूर्ण करने के उद्देश्य से बनाये गए थे। उदाहरणतः, इनमे घटमच, थालियाँ, पलेटें, हाँडियाँ, तमले, फलदान, कटोरदान, मद्यपात्र, ढकने, कुठले, तश्तरियाँ आदि सम्मिलित थी (फलक ४२, च-द)। छोटे आकार के बर्तनो मे सबसे अतिसख्य गावदुम पैंदी का लोटा या जो आजकल के कसोरो के समान जलपान करने का साधारण बर्तन था (फलक ४२, घ)। मालूम होता है कि एक बार प्रयोग करके इसे फेंक देते थे। यही कारण है कि हडप्पा के टीलो के हर स्तर मे इस आकार के खण्डित बर्तनो की भरमार है।

बहुवर्ण चित्रित बर्तन—बहुवर्ण चित्रित बर्तन जो हडप्पा मे बहुत थोडी सख्या मे मिले छोटे आकार के हैं। इनमें एक अनार की शक्ल का और कई एक गावदुम पैंदी के गिलास थे। इन पर बने हुए चित्र फीके पड गए थे। परन्तु एक बर्तन मे सफेद जिल्द पर बनी हुई लाल और हरी पत्तियाँ अब भी स्पष्ट दिखाई देती है। लाल कुम्भ-कला के अतिरिक्त हडप्पा मे काली या सलेटी कुम्भकला के बर्तनो के उदाहरण भी मिले थे जो सब छोटे आकार के थे।

हडप्पा और मोहेंजो-दडो मे सादे (चित्रहीन) तथा चित्रित दोनो प्रकार के

बर्तन मिले थे जिनमें सादो की संख्या बहुत अधिक थी। चित्रों के अतिरिक्त बर्तनों पर छाप वाले अथवा उत्कीर्ण अलंकरण भी थे। चित्रित वर्तन बनाने के लिए पहले उन पर लाल रग का पोता चढ़ाया जाता था और इस लाल जिल्द पर काले अलंकरण डाले जाते थे। भट्ठी पर चढाने के पहले चित्रित बर्तन को हड्डी अथवा पत्थर के खण्ड से अच्छी प्रकार घोटा जाता था जिससे बर्तन की सतह न केवल चमकीली ही बन जाती थी, किन्तु इसमें से पानी भी नहीं झर सकता था। चित्र डालने के लिए जो रंग प्रयोग मे आते थे वे प्राय: गेरु, हरताल, तांबा, लोहा आदि खनिज पदार्थों से प्रस्तुत किए जाते थे।

मोहेंजो-दड़ो की तरह हड़प्पा के अधिकांश वर्तन भी चाक पर ही बने थे। हाथ के बने बर्तन प्राय क्षुद्राकार और निचले स्तरों में ही सीमित थे। मालूम होता है कि सिंधु-कालीन लोगो को हाथ से चलाया जाने वाला निकृष्ट चाक ही मालूम था। पैर से चलाया जाने वाला उत्कृष्ट चाक सम्भवतः यूनानियों अथवा पार्थियन लोगो द्वारा भारत में लाया गया था। हाथ के चाक की अपेक्षा पैर के चाक की उत्कृष्टता सर्वविदित है। पहला धीमा है और कुम्हार को इसे बारम्बार हाथ से चलाना पड़ता है, परन्तु दूसरे में यह विशेषता है कि कुम्हार इसे निरन्तर पाओं से चलाए रखता है जब कि उसके दोनो हाथ बर्तन बनाने में व्यस्त रहते हैं। इससे वह अपना काम तीव्र गति से निर्बाध कर सकता है। चाक का प्रथम आविष्कार कहाँ और कब हुआ इस विषय में बहुत मतभेद है। डा० हाल के मत मे इसका आविष्कार इलम में हुआ था, परन्तु दूसरे विद्वानो मे से कई इसका श्रेय ईरान को, कई मिश्र को और कई सुमेर को देते हैं। बर्तन बनाने में जिस चिकनी मिट्टी का प्रयोग किया गया है वह नदी पुलिन से लाई जाती थी। इसमें चूने और रेत का किंचित् मिश्रण है। पकाने के लिए बर्तनों को खुली अथवा बन्द भट्ठियों में चिन देते थे। आज भी पंजाब और सिंध के कुम्हार बर्तनो को इसी विधि से पकाते हैं।

सिंधु-कालीन कुम्भकला उच्च कोटि की है। यह ऐसे कुम्भकारों की कृति है जो परम्परा से इस व्यवसाय मे प्रवृत्त रहने के कारण प्रवीण और अनुभवी हो गए थे। यह कला अपने ढंग की निराली है। इलम तथा सुमेर की कुम्भकलाओं से इसका बहुत थोड़ा सादृश्य है। सिन्धु-सभ्यता के केवल दो ऐसे बर्तन हैं जिनकी तुलना पश्चिमी एशिया के कुछ बर्तनों से की जा सकती है। इनमे एक तो खड़ी पैंदी का बलि-पात्र है (फलक ४२, च)। जिसके समान पात्र किश, उर, फारा और बाबल मे पाए गए थे। दूसरा कटोरे के आकार का खड़ी-मूठ का ढकना है (फलक ४२, थ) जिसके समान, रूप ढकने जमदेत नसर की कुम्भकला में पाए गए थे।

अनाज रखने के बड़े माट—हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के बर्तनों में सब से

विलक्षण और सुन्दर अनाज सग्रह करने के बड़े आकार के माट थे। ये सिंधु-कालीन कुम्भकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ऐसे उत्तम माट किसी अन्य देश की प्रागैतिहासिक कुम्भकला मे अभी तक नही पाए गए[१]। इनमे सबसे उत्तम शलगम के आकार के महाकाय माट हैं जिनका पहले उल्लेख किया गया है। अपनी सर्वांगीण सुन्दरता, उचित अनुपात और चमकीले पालिश के कारण सिंधु-कालीन कुम्भकला मे कला-दृष्टि से इनका सर्वोच्च स्थान है। इनका शरीर तोंदीला, पैंदी गावदुम और मुँह का किनारा मोटा तथा मुड़ा हुआ है (फलक ४२, ख)। इनमे सबसे बड़ा माट तीन फुट ऊँचा और मध्य मे इतने ही व्यास का था। दूसरे प्रकार के बड़े माट बेलन अथवा ढोल के आकार के तथा खुले मुँह और गावदुम पैंदी के नांद थे। पूर्वोक्त महाकाय भाँडों तथा छोटे बर्तनो के मध्यवर्ती कई प्रकार के अन्य भांडे थे जिनमे अधिक सख्या जलघटों की थी।

महाकाय माट प्रधानत. अनाज, पानी आदि घरेलू उपयोग की वस्तुओ के सग्रह के लिए थे। परन्तु इसके अतिरिक्त ये गौणरूप से एक दूसरे काम मे भी आते थे। हड़प्पा की खुदाई मे इस शैली के प्राय २३० माट बिखरी हुई दशा मे दीवारो, पक्के फर्शों और दुर्बल नालियो के सहारे रखे हुए पाए गए थे। दूसरी बात यह है कि जो वस्तुएँ इन भांडो मे पड़ी मिली वे प्राय समानशैली की थी जिससे प्रतीत होता था कि ये माट नगर की नाली-प्रबन्ध के योजना-आधीन नहीं रखे गए थे, और न ही इनके अन्दर की वस्तुएँ अकस्मात् इनमे आ गिरी थी। इसमे सन्देह नही कि ये वस्तुएँ जान-बूझकर किसी निश्चित प्रयोजन के लिए इनमे डाली गई थी। इस वस्तु-समुदाय मे गो-जाति के पशुओ मुर्गों और मछलियो की हड्डियाँ, पशुओ और मनुष्यो की मृण्मय मूर्तियाँ, खिलौने, गाड़ियाँ, गाड़ियो के पहिए, गोले, गने सड़े गेहूँ और जौ के ढेले, सीपियाँ, पियास और पकी मिट्टी की चूड़ियाँ, छोटे दाने, गुतेन्न की गोलियाँ और तख्तियाँ आदि सम्मिलित थे। कई मटको मे इनके अतिरिक्त विशेष वस्तुएँ भी थी, जैसे कछुए की खोपड़ी, हाथी-दांत और तांबे की शलाकाएँ, बारहसींगे के सींग, अभ्रक के खण्ड, हथियार, खरबूजे के बीज, सड़ा हुआ भुस आदि। इनमे से एक माट पर तीन चित्राक्षरो का लेख खुदा हुआ था जो शायद इसके स्वामी का नाम था।

समान शैली की वस्तुओ का मटको मे इस प्रकार एकत्र पाया जाना इस

---

१ प्रो० चाईल्ड लिखते हैं कि तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के आरम्भ मे सिंधुदेश मुद्रानिर्माण तथा कुम्भकला के विषय मे सुमेरियन सभ्यता के बहुत आगे था, और महत्त्व की बात यह है कि सिंधु-सभ्यता का यह रूप उत्तर-कालीन था।

— "न्यू लाईट ऑन दि मोस्ट एन्शेंट ईस्ट" पृष्ठ २११।

बर्तन मिले थे जिनमे सादों की संख्या बहुत अधिक थी। चित्रों के अतिरिक्त बर्तनो पर छाप वाले अथवा उत्कीर्ण अलंकरण भी थे। चित्रित बर्तन बनाने के लिए पहले उन पर लाल रग का पोता चढ़ाया जाता था और इस लाल जिल्द पर काले अलंकरण डाले जाते थे। भट्ठी पर चढाने के पहले चित्रित बर्तन को हड्डी अथवा पत्थर के खण्ड से अच्छी प्रकार घोटा जाता था जिससे बर्तन की सतह न केवल चमकीली ही बन जाती थी, किन्तु इसमें से पानी भी नही झर सकता था। चित्र डालने के लिए जो रग प्रयोग में आते थे वे प्राय गेरु, हरताल, तांबा, लोहा आदि खनिज पदार्थों से प्रस्तुत किए जाते थे।

मोहेंजो-दडो की तरह हड़प्पा के अधिकांश बर्तन भी चाक पर ही बने थे। हाथ के बने बर्तन प्राय: क्षुद्राकार और निचले स्तरों में ही सीमित थे। मालूम होता है कि सिंधु-कालीन लोगो को हाथ से चलाया जाने वाला निकृष्ट चाक ही मालूम था। पैर से चलाया जाने वाला उत्कृष्ट चाक सम्भवतः यूनानियों अथवा पार्थियन लोगों द्वारा भारत में लाया गया था। हाथ के चाक की अपेक्षा पैर के चाक की उत्कृष्टता सर्वविदित है। पहला धीमा है और कुम्हार को इसे बारम्बार हाथ से चलाना पड़ता है, परन्तु दूसरे में यह विशेषता है कि कुम्हार इसे निरन्तर पाओं से चलाए रखता है जब कि उसके दोनो हाथ बर्तन बनाने में व्यस्त रहते हैं। इससे वह अपना काम तीव्र गति से निर्बाध कर सकता है। चाक का प्रथम आविष्कार कहाँ और कब हुआ इस विषय में बहुत मतभेद है। डा० हाल के मत मे इसका आविष्कार इलम मे हुआ था, परन्तु दूसरे विद्वानों में से कई इसका श्रेय ईरान को, कई मिश्र को और कई सुमेर को देते हैं। बर्तन बनाने में जिस चिकनी मिट्टी का प्रयोग किया गया है वह नदी पुलिन से लाई जाती थी। इसमें चूने और रेत का किंचित् मिश्रण है। पकाने के लिए बर्तनों को खुली अथवा बन्द भट्ठियों में चिन देते थे। आज भी पजाब और सिंध के कुम्हार बर्तनो को इसी विधि से पकाते हैं।

सिंधु-कालीन कुम्भकला उच्च कोटि की है। यह ऐसे कुम्भकारो की कृति है जो परम्परा से इस व्यवसाय मे प्रवृत्त रहने के कारण प्रवीण और अनुभवी हो गए थे। यह कला अपने ढग की निराली है। इलम तथा सुमेर की कुम्भकलाओं से इसका बहुत थोड़ा सादृश्य है। सिन्धु-सभ्यता के केवल दो ऐसे बर्तन हैं जिनकी तुलना पश्चिमी एशिया के कुछ बर्तनों से की जा सकती है। इनमें एक तो खड़ी पैंदी का बलि-पात्र है (फलक ४२, च)। जिसके समान पात्र किश, उर, फारा और बावल में पाए गए थे। दूसरा कटोरे के आकार का खड़ी-मूठ का ढकना है (फलक ४२, थ) जिसके समान, रूप ढकने जमदेत नसर की कुम्भकला में पाए गए थे।

अनाज रखने के बड़े माट—हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के बर्तनों में सब से

विलक्षण और सुन्दर अनाज सग्रह करने के बडे आकार के माट थे। ये सिधु-कालीन कुम्भकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ऐसे उत्तम माट किसी अन्य देश की प्रागैतिहासिक कुम्भकला मे अभी तक नही पाए गए[1]। इनमे सबसे उत्तम शलगम के आकार के महाकाय माट हैं जिनका पहले उल्लेख किया गया है। अपनी सर्वांगीण सुन्दरता, उचित अनुपात और चमकीले पालिश के कारण सिधु-कालीन कुम्भकला मे कला-दृष्टि से इनका सर्वोच्च स्थान है। इनका शरीर तोंदीला, पैंदी गावदुम और मुँह का किनारा मोटा तथा मुडा हुआ है (फलक ४२, ख)। इनमे सबसे बडा माट तीन फुट ऊँचा और मध्य मे इतने ही व्यास का था। दूसरे प्रकार के बडे माट बेलन अथवा ढोल के आकार के तथा खुले मुँह और गावदुम पैंदी के नाँद थे। पूर्वोक्त महाकाय भाँडो तथा छोटे बर्तनो के मध्यवर्ती कई प्रकार के अन्य भांडे थे जिनमे अधिक सख्या जलघटो की थी।

महाकाय माट प्रधानत अनाज, पानी आदि घरेलू उपयोग की वस्तुओं के सग्रह के लिए थे। परन्तु इनके अतिरिक्त ये गौणरूप से एक दूसरे काम मे भी आते थे। हडप्पा की खुदाई मे इस शैली के प्राय. २३० माट बिखरी हुई दशा मे दीवारो, पक्के फर्शों और दुर्बल नालियो के सहारे रखे हुए पाए गए थे। दूसरी बात यह है कि जो वस्तुएँ इन भाँडो मे पडी मिली वे प्राय समानशैली की थी जिससे प्रतीत होता था कि ये माट नगर की नाली-प्रबन्ध के योजना-आधीन नही रखे गए थे, और न ही इनके अन्दर की वस्तुएँ अकस्मात् इनमे आ गिरी थी। इसमे सन्देह नही कि ये वस्तुएँ जान-बूझकर किसी निश्चित प्रयोजन के लिए इनमे डाली गई थीं। इस वस्तु-समुदाय मे गो-जाति के पशुओ, मुर्गों और मछलियो की हड्डियाँ, पशुओ और मनुष्यों की मृण्मय मूर्तियाँ, खिलौने, गाडियाँ, गाडियो के पहिए, गोले, गले सडे गेहूँ और जौ के ढेले, सीपियाँ, फियास और पकी मिट्टी की चूडियाँ, छोटे ढक्कने, गुलेल की गोलियाँ और तखतियाँ आदि सम्मिलित थे। कई मटको मे इनके अतिरिक्त विशेष वस्तुएँ भी थीं, जैसे कछुए की खोपडी, हाथी-दाँत और ताँबे की शलाकाएँ, बारहसींगे के सींग, अभ्रक के खण्ड, हथियार, खरबूजे के बीज, सडा हुआ भुस आदि। इनमे से एक माट पर तीन चित्राक्षरो का लेख खुदा हुआ था जो शायद इसके स्वामी का नाम था।

समान शैली की वस्तुओ का मटको मे इस प्रकार एकत्र पाया जाना इस

---

१ प्रो० चाईल्ड लिखते हैं कि तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के आरम्भ मे सिधुदेश मुद्रानिर्माण तथा कुम्भकला के विषय मे सुमेरियन सभ्यता के बहुत आगे था, और महत्त्व की बात यह है कि सिधु-सभ्यता का यह रूप उत्तर-कालीन था।

— "न्यू लाईट ऑन दि मोस्ट एन्शेंट ईस्ट" पृष्ठ २११।

बात का समर्थन करता है कि ये मटके अवश्य किसी निश्चित योजना के अधीन भूमि में गाड़े गए थे। ये गन्दा पानी इकट्ठा करने के मलभांड नहीं थे जैसा कि कई पुरातत्त्वज्ञों का विचार है। इसकी पुष्टि में पहला प्रमाण तो यह है कि फर्श, नालियाँ और दीवारों के टुकड़े जिनके पास ये भांडे पाये गए इतने दुर्बल और अस्थायी थे कि वे मनुष्य के उपयोग के वास्तु नहीं हो सकते थे, जैसे कि मिट्टी की निर्जीव रोटियाँ जो इन मटकों में प्रचुर संख्या में पाई गईं, मनुष्य के उपयोग की वस्तुएँ नहीं थीं। वे केवल वास्तविक वास्तुओं और वस्तुओं का अनुकरण मात्र थीं। दूसरा कारण यह है कि मटकों के अन्दर की वस्तुएँ तथा आस-पास की मिट्टी पानी के निरन्तर गिरने से हरे रंग की हो गई थीं। मार्शल तथा वत्स महोदयों ने पूर्वोक्त विलक्षणताओं का अध्ययन करके इन्हें 'अग्निदाहोत्तर-अस्थिभांड' नाम से निर्दिष्ट किया है। उनके विचार में इन भांडों में अग्निदग्ध शवों की चूर्णित अस्थियाँ थीं, जिन्हें सम्बन्धियों ने पशुबलि तथा अन्न सामग्री के साथ प्रचलित प्रथा के अनुसार इनमें गाड़ दिया था। इस विषय में डा० व्हीलर का पूर्वोक्त विद्वानों से मतभेद है। उनका कथन है कि इन तथाकथित "दाहोत्तर-अस्थिभांडों" का न तो मृतक के दाह और न ही उसकी अन्त्यक्रिया से कुछ सम्बन्ध है। मार्शल के सिद्धान्त के मूल में यह तर्क था कि क्योंकि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के आदि-निवासियों का कोई कब्रिस्तान नहीं मिला इसलिए इससे यही निष्कर्ष निकालना सम्भव है कि वे लोग अपने मृतकों का अग्निसंस्कार करते थे। आज भी पंजाब के कई भागों में हिन्दुओं में प्रथा है कि वे अपने अग्निदग्ध मृतकों की अस्थियों को चूर्णित करके निकटवर्ती नदी या जलाशय में फेंक देते हैं।" उनके विचार में इन भांडों में भी अग्निदग्ध शवों की चूर्णित अस्थियों का कुछ अंश] गड़ा रहता था।

परन्तु जब सन् १६३७ में 'कब्रिस्तान आर-३७' की उपलब्धि हुई तो सिद्ध हो गया कि सिंधु-सभ्यता के निर्माता लोग भी अपने मृतकों को भूमि में ही गाड़ते थे, जलाते नहीं थे। अतः इन मटकों को 'दाहोत्तर-अस्थिभांड' कहना सर्वथा अनुचित है। फिर भी यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि ये मटके जिनमें समानशैली की वस्तु-सामग्री मिली थी किसी निश्चित उद्देश्य और निर्धारित योजना के अधीन भूमि में गाड़े गए थे। इसका केवल एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह कि ये भांडे किसी धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन मृतकों की स्मृति में गाड़े गए थे जो 'कब्रिस्तान आर-३७' या इसी प्रकार के किसी दूसरे अज्ञात कब्रिस्तान में दबाए गए थे। मालूम होता है कि मनुष्य के मर जाने पर उसके सम्बन्धी बलिरूप से वध किए हुए पशु के अंगों को शव सामग्री के साथ मटके में डालकर शहर के उजाड़ भाग में दबा देते थे। मटके के पास ही एक छोटी दीवार, नाली और छोटा-सा फर्श बना देते थे। नाली का एक

सिरा फर्श के साथ और दूसरा माट के मुँह से सम्बद्ध होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि मटका दबा देने के अनन्तर मृतक के निकट सम्बन्धी कुछ दिनों तक फर्श पर बैठ कर मृतकोद्दिष्ट जलतर्पण करते थे। अन्त्यक्रिया की यह विधि हिन्दुओं में प्रचलित श्राद्धकर्म के बहुत सदृश प्रतीत होती है। इस अनुमान का समर्थन मटकों की विलक्षण वस्तु सामग्री से मुतरां होता है। उदाहरणत, हर एक भाँडे में थोड़ी बहुत राख थी जो दग्धबलि के अवशिष्ट अंश थे। पशुओं की अस्थियाँ वध किए हुए पशुओं के अवशेष और गले-सड़े गेहूँ जौ, तिल आदि के ढेर बलिरूप से उपहृत धान्य के अंश थे। मिट्टी की तिकोन रोटियाँ और अँगुलियों की छाप वाले मिट्टी के गोले जो भांडों में मिले वास्तविक अन्नपिण्डों के नकली प्रतिरूप थे। नकली पिण्डों की आवश्यकता शायद अन्न की कमी अथवा उनके चिरस्थायी होने के कारण हुई हो। भाँडों में निहित वस्तु-सामग्री में मिट्टी के खिलौने भी थे जिनमें मनुष्यों की मूर्तियाँ, बैल, पहिए, छकड़े, सीपियाँ, हथियार, भूषण, मिट्टी के गोले और लोटे, कलसियाँ आदि सम्मिलित थे। यदि मृतक पुरुष था तो माट में पुरुष मूर्ति रख दी जाती थी और यदि स्त्री थी तो स्त्री मूर्ति। सम्भवत बैलगाड़ी मृतक की सवारी के लिए, भूषण पहनने के लिए, हथियार शत्रु से लड़ने, अंजन तथा सुगन्धि-द्रव्य शरीर के प्रसाधन और मिट्टी के बर्तन तथा अन्य वस्तुएँ मृतक की आत्मा के उपयोग के लिए थी। वस्तुत मृतक की अन्त्यक्रिया के सम्बन्ध में जो काम इन भांडों से लिया जाता था वह उस श्राद्धविधि से बहुत भिन्न नहीं था जो हिन्दू आज भी अपने पितरों की तृप्ति के लिए करते हैं। सम्भव है कि हिन्दुओं की यह श्राद्ध-प्रथा सिंधु कालीन पूर्वोक्त प्रथा का उत्तर-कालीन रूपान्तर हो। इसलिए यह अनुचित नहीं होगा यदि हम इन तथाकथित 'दाहोत्तर-शवभांडों' को स्मारक-भांडों' अथवा 'श्राद्ध-भांडों' के नाम से पुकारें।

चित्रमय अलंकरण—साधारणत कुम्भकला पर जो अलंकरण पाए जाते हैं वे अधिकांश चित्रमय हैं जो लाल पृष्ठभूमि पर काले रंग से बने हैं। बड़े आकार के मटकों और नांदों पर ये अलंकरण केवल बांधों के रूप में हैं, परन्तु छोटे बर्तनों पर इन बांधों के अन्दर रेखाचित्र तथा पेड़-पत्तियों के अभिप्राय भी बने हैं और इनमें कहीं-कहीं पशुओं के चित्र भी हैं। इन चित्रों में मनुष्य-मूर्तियाँ बहुत कम हैं। यद्यपि अधिकांश चित्र लाल-काले ही हैं, फिर भी बहुवर्ण चित्रों के उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ दो से अधिक रंगों का प्रयोग किया गया है। इस अलंकार-शैली में लाल, काले, हरे और पीले रंगों का मिश्रण है। यह बहुवर्ण चित्रण केवल छोटे बर्तनों पर ही मिलता है और इस शैली में दुपत्ती, तिपत्ती, उलझे हुए वृत्त आदि थोड़े ही अभिप्रायों का प्रयोग किया गया है।

दुरंगी कुम्भकला पर बने हुए चित्रों में विविध पौधे, पल्लव और ज्यामितीय

फलक ४३. सिंधु-कालीन कुम्भकला पर चित्रित अलंकरण

अभिप्राय हैं (फलक ४३, ग-घ)। पौधों मे पीपल, शमी, नीम, केला, खजूर और सरकण्डा है। ज्यामितीय अभिप्रायों में 'कंघा', अंग्रेजी वर्ण 'टी' के आकार के अलंकरण, शूल, जाल, टोकरा, मछली के चन्दवे, बिम्ब, बिन्दु, त्रिभुज, द्विगुण त्रिभुज, शतरंज फलक, उलझे हुए वृत्त (फलक ४३, छ) आदि, और पशुओं में मोर, मुर्ग, हिरण, साँप, टिड्डा, बकरा, मछली आदि सम्मिलित थे। हड़प्पा के कई ठीकरों पर मनुष्य मूर्तियाँ थी। उनमें से एक पर मनुष्य अपने कन्धों पर बहँगी उठाए जा रहा है (फलक ४३, क) जो सिंधु-चित्रलिपि के एक अक्षर से मिलता है। दूसरे ठीकरे पर एक घरेलू दृश्य है जिसमे 'पिता-पुत्र' पशु-पक्षियों से सकुल उद्यान में खड़े दिखलाए गए हैं (फलक ४३, ग)।

सिंधु-कुम्भकला पर चित्रों के अतिरिक्त उत्कीर्ण, छाप वाले एवं सूत्रांकित अलंकरण भी बने हैं। इस भांति के अलंकरणों मे साधारणत समान केन्द्र तथा उलझे हुए वृत्त हैं। कई बर्तनों पर कुम्हार के चिह्न और मुद्रा छापें भी अंकित हैं जो सम्भवत स्वामियों के नाम थे। कुछ छोटे बर्तनों की पेंदियों में फफोले से बने हैं। इन्हें 'बार्बोटाइन' बर्तनों के नाम से निर्दिष्ट किया गया है।

१५

शिल्प-कला

मूर्ति तथा मुद्राओं के निर्माण में सिंधु-निवासी विशेष प्रवीण थे। इसमें सब का ऐकमत्य है। हड़प्पा से उपलब्ध छोटी मूर्तियों से इन कलाकारों की अद्‌भुत चातुरी का भूरि-भूरि समर्थन होता है। ये मूर्तियां 'टीला-एफ' में एक दूसरी से २५० फुट के अन्तर पर मिली थीं। दोनों बिना सिर और भुजाओं के हैं। इनमें नं० ९०४२ लाल पत्थर की बनी हुई खड़े नग्न मनुष्य की मूर्ति है (फलक ३९, क)। इसकी ऊंचाई ३.७ इंच और चौड़ाई २.४ इंच है। छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह एक अद्वितीय उदाहरण है। इसके अंग प्रत्यंग में वास्तविकता की अपूर्व झलक है। यूनानी मूर्ति-कला से २५०० वर्ष प्राचीन होने पर भी कला-दृष्टि से यह उससे किसी बात में निकृष्ट नहीं। इस मनुष्य की किंचित् बढ़ी हुई तोंद, मांसल शरीर और धंसी हुई छाती से व्यक्त है कि यह चालीस या पचास वर्ष की आयु के तत्कालीन किसी भारतीय की प्रतिकृति है। कन्धों के नीचे और गर्दन पर बने हुए छेद भुजाएं और सिर पृथक् जोड़ने के लिए बनाए थे, परन्तु स्तनों और कन्धों पर खोखले बरमे से निकाले हुए छेद सम्भवतः जड़ाई के लिए थे। मूर्तियों को खण्डशः बनाने की यह कला प्राचीन यूनानियों और भारतीयों को अज्ञात थी।

दूसरी मूर्ति, नं० ए-बी ९५९, एक नर्तक का कबन्ध है। यह काले रंग के रेतीले पत्थर की बनी है (फलक ३९, ग)। इसकी ऊँचाई ३.९ इंच और चौड़ाई १.५ इंच है। छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह भी एक अपूर्व उदाहरण है। पहली मूर्ति की तरह इसमें भी भुजाएं और सिर पृथक् जोड़ने के लिए कांख और गले में छेद हैं। इसी प्रकार गर्दन और स्तनों में बने हुए छोटे रंध्रों में आरम्भ में शंख, हाथी-दांत या फियांस के टुकड़े जड़े थे। अपनी अद्‌भुत नृत्यमुद्रा तथा अंग-प्रत्यंग के सौष्टव के कारण यह नर्तक-मूर्ति शिल्पकला का एक अद्वितीय उदाहरण है (फलक ३९, ग)। गले की असाधारण मोटाई के कारण मार्शल महोदय लिखते हैं कि 'इस मूर्ति के तीन सिर थे और सम्भवतः यह मूर्ति शिव नटेश का पूर्वरूप थी[१]।'

प्रारम्भिक राजावली काल में मूर्ति को खण्डशः बनाने की कला मेसोपोटेमियां

---

१. मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इंडस सिविलाइज़ेशन, ग्रन्थ १, पृष्ठ ५२-५५।

में ज्ञात थी। सर लियोनार्ड वूली को उर की 'राजकीय-कब्रों' में खण्डशः बने हुए मेढों की जो मूर्तियाँ मिली थीं उनका उल्लेख वत्स महोदय ने किया है[1]। सार्गोन-काल की कुछ और मूर्तियाँ, जो फ्रेंकफर्ट को खफजा की खुदाई में मिलीं, भी खण्डशः बनी थीं। उनमें एक मनुष्य-मस्तक है[2] जिसका अलग बना हुआ पृष्ठ-भाग खूँटी के द्वारा अग्रभाग से जुड़ा था। इसी विधि से यह नरमुण्ड शरीर से भी जोड़ा गया था। आँख के गोले शंख के और पलकें खचित शिलाजीत या राल की बनी थीं। फ्रेंकफर्ट के मतानुसार खफजे की बहुत सी मूर्तियाँ खण्डशः तैयार की गई थीं[3]।

मोहेंजो-दड़ो की पाषाण-मूर्तियों में हड़प्पा की मूर्तियों के अनुपात और सौन्दर्य का अभाव है। सिंधु-कला की टकणकला, जिसके उदाहरण सैकड़ों पाषाण-मुद्राएँ हैं, भी उच्च कोटि की थी। मुद्राएँ सिंधु-कालीन कलाकारों की अद्भुत कृतियाँ हैं। उन पर उत्कीर्ण पशु इतने वास्तविक हैं कि सजीव प्रतीत होते हैं। विशेषज्ञों का विचार है कि जो कलाकार ऐसी अपूर्व मुद्राएँ घड़ सकते थे वे निस्सन्देह इस कुशलता से कोरकर अद्भुत मूर्तियाँ बनाने का सामर्थ्य भी रखते थे।

हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में जो थोड़े से पत्थर के बर्तन मिले वे छोटे आकार के तथा भद्दे थे। सिंधु-कालीन कलाकार लकड़ी की मूर्तियाँ बनाना भी अवश्य जानते होंगे, परन्तु गैर-टिकाऊ होने के कारण ऐसी कोई वस्तु खुदाई में नहीं मिली। उन्हें शंख और हाथीदाँत का काम भी आता था। इन द्रव्यों की बनी हुई घरेलू उपयोग की असंख्य वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें जड़ाई के टुकड़े, शलाकाएँ, लटकन, चौसर, गोले, खेलों के मोहरे, कटोरियाँ आदि सम्मिलित हैं। सिंधुकालीन लोग कृषि विज्ञान में भी प्रवीण थे। उनके पास खेती बीजने और काटने के पर्याप्त साधन और उपकरण थे। परन्तु अधिकांश लकड़ी के होने के कारण कालान्तर में नष्ट हो गए। सूत कातने और कपड़ा बुनने की कला भी ज्ञात थी। तदुपयोगी साधनों में से बहुत से नष्ट हो चुके हैं। केवल कुछ दमकड़े, फिरकियाँ और तकलियाँ शेष हैं।

सीना और कसीदा काढ़ना—हड़प्पा में वस्त्रों के कोई अवशेष नहीं मिले। केवल सुगन्धित द्रव्य डालने के कुछ छोटे बर्तनों के अन्दर कपड़े की छाप के निशान पाए गए थे। ताँबे और काँसे के कई एक सूए जो खुदाई में मिले इस बात के साक्षी हैं कि लोगों को सीना, पिरोना और कसीदा निकालना आता था। इसका समर्थन मोहेंजो-दड़ो की उस पाषाण मूर्ति से भी होता है जिसने त्रिदल अलंकरण से सुशोभित

---

१. वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रन्थ, १, पृष्ठ ७४, ७५।

२. फ्रेंकफर्ट—टेल अस्मर एण्ड खफजे, पृष्ठ २३, ७०।

३. फ्रेंकफर्ट—टेल अस्मर एण्ड खफजे, पृष्ठ २३, ७०।

शाल ओढा हुआ है (फलक १५, ग)। मालूम होता है कि असली शाल पर यह अलंकरण कसीदा काढ कर बनाया गया था। मोहेंजो-दड़ो के एक भूषण-समुदाय में सोने के तीन सूए थे जो शायद किसी विशेष प्रकार के कसीदा काढने में व्यवहृत होते होंगे।

चित्रकारी और विलेपन (ग्लेज)—यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि चित्रकारी एवं विलेपन कलाओं में सिंधु-कालीन लोग प्रवीण थे। इनका साक्ष्य अधिकाश मिट्टी के बर्तन और खिलौने हैं। दो-रंगी चित्रों के अतिरिक्त बहुरंगी चित्रों के उदाहरण भी मिले है जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। विलेपन (ग्लेज) मिट्टी के बर्तनों, फियांस, पेस्ट आदि कई प्रकार की अलंकरण-वस्तुओं पर चढाया जाता था। ग्लेज चढाकर जब कोई वस्तु पकाई जाती थी तो उसकी जिल्द पर एक विशेष चमक आ जाती थी। ग्लेज़ वाली वस्तुएँ गहरे स्तरों से भी मिली हैं जिससे स्पष्ट है कि सिंधु-निवासियों को इस क्रिया का ज्ञान बहुत प्राचीन-काल से था। मालूम नही कि इस कला का आविष्कार किस देश में हुआ। इतने प्राचीन-काल की ग्लेज़ वाली कोई वस्तु किसी अन्य देश में अभी तक नही मिली। फिर भी डा० मैके का कहना है कि भारत को इस कला के आविष्कार का श्रेय नहीं दिया जा सकता। सिंधु-निवासियों को यथार्थ शीशे का ज्ञान नही था, यद्यपि वे फियांस द्रव्य से भली प्रकार परिचित थे। बेक महोदय के मतानुसार फियांस एक मिश्रित पदार्थ था और इसके योग में प्रधान अंश क्वार्ट्ज़ (स्फटिक ?) पत्थर का था। वे लिखते हैं कि इस पत्थर को पीस कर और इसमें गोंद, रंग तथा अन्य वस्तुएँ मिलाकर इसे आग में पकाया जाता था और अन्त में पकी वस्तु पर ग्लेज़ का लेप चढा दिया जाता था। इस कृत्रिम द्रव्य से विविध वस्तुएँ बनती थीं, जैसे गन्ध-पात्र, चूड़ियाँ, कर्णफूल, बटन, मुद्राएँ आदि।

सुवर्णकार की कला—सिंधु-कालीन सुवर्णकार उन्नत कोटि का कलाकार था। इसका समर्थन उन भूषण-समुदायों से होता है जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में मिले। धातो को पिघलाने, जोड़ने, तथा मीनाकारी और जडाई के कामों में वह सुतरां अभिज्ञ था। संकीर्ण गलहार, मेखला, सिरके कांटे, क्लिप और लटकन, बाजूबन्द, चूड़ियाँ, कंगण, कर्णफूल, बटन आदि भूषणों को वह सुगमता से बना सकता था और सूक्ष्म जड़ाई के काम से इनके सौन्दर्य को बढा सकता था। इसी प्रकार पत्थर का काम करने वाले शिल्पी तथा कुंदेरे भी अपने व्यवसाय में प्रवीण थे। वे गोमेदा (अकीक), केलसीडोनी, जैसे कठिन पत्थरों को सुगमता से घड़ तथा बेध सकते थे और इन पर पालिश भी चढ़ा सकते थे। पत्थरों में छेद निकालने के लिये दो प्रकार के बरमे प्रयोग में आते थे। इनमें एक सूचीमुख शलाकाकार और दूसरा नलिकाकार खोखला था।

पत्थर, शंख, हाथीदाँत आदि द्रव्यों में नालियाँ निकालने के लिये 'पूज' नामक औजार काम में आता था। दुधिया पत्थर को भून तथा बारीक पीसकर इसकी लेई से बहुसंख्य भूषण और मनोरंजक वस्तुएँ प्रस्तुत की जाती थीं।

लिखने की कला—सिन्धु-कालीन लेख प्रणाली भी एक अद्भुत कला थी। इसका समर्थन सिन्धुलिपि के अनन्य विकसित एवं सुडौल चित्राक्षरों से होता है। अभी तक छः सौ के लगभग चित्राक्षर उपलब्ध हो चुके हैं और उनके चित्रदर्शी रूप से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि इस विकसित दशा तक पहुँचने के लिये इस लिपि को कितनी शताब्दियाँ लगी होंगी। अक्षरों के अंदर बाहर विभक्ति-व्यञ्जक लगमात्रा लगाने से मौलिक सरल अक्षर के अनन्त रूपान्तरों का बन जाना इस लिपि की ऐसी विशेषता है जो अन्य किसी चित्र लिपि में अभी तक नहीं पाई गई[1]।

खनिज पदार्थ—पूर्वनिर्दिष्ट पाँच धातुओं के अतिरिक्त और भी कतिपय खनिजों के ढेले हड़प्पा के खंडहरों में मिले हैं। सम्भवतः इनका प्रयोग औषधियों या कलाकृतियों के प्रस्तुत करने में होता था। इस प्रसंग में हरताल, सालगेरू, नीली और हरी मिट्टी तथा सफेद फियाँस विशेषतया वर्णनीय हैं। इनमें से कई एक खनिज विविध रंग प्रस्तुत करने के काम में आते थे।

भट्ठियाँ—शिल्पियों के निवासगृहों के अंदर बाहर उन सोलह भट्ठियों का वर्णन करना भी आवश्यक है जो 'टीला-एफ' की खुदाई में मिली थीं। इनमें एक भट्ठी मटके की बनी हुई, एक चतुर्भुज आकार की और शेष चौदह निराल-नुमा थीं। कई भट्ठियों के अंदर दीवारों के साथ चिमटे हुए सागर के टुकड़े पाए गये थे जिनसे स्पष्ट था कि इन भट्ठियों में फियाँस, मिट्टी आदि की वस्तुएँ पकाई जाती थीं और मुद्राओं तथा मुद्राछापों पर ग्लेज भी चढ़ाई जाती थी। भट्ठियों में उचित आँच का नियन्त्रण और नाना प्रकार की वस्तुएँ पकाने में इतना यथार्थ उपयोग इस बात का सुन्दर प्रमाण है कि सिन्धुकाल के शिल्पी विलक्षण कलाकार थे।

---

१. सिन्धुलिपि के विस्तृत विवरण के लिये पृ० २११-२२१ देखें।

१६

मनुष्य और पशुओं की मूर्तियाँ

मोहेंजो-दड़ो की मूर्तियो की तरह हड़प्पा की अधिकांश मूर्तियाँ भी पकी मिट्टी की हैं। वे सब हाथ की बनी हैं और उनके शरीर ठोस तथा चेहरे पक्षियों जैसे हैं। मुख और आँखों की अभिव्यक्ति चिपकाई हुई मिट्टी की गोलियों से की गई है (फलक ३६, ख, घ-ए)। मुख की प्रतीक गोली में लकड़ी से गहरी रेखा डालकर मुखरध्र को दिखलाया गया है। टाँगे और भुजाएँ मिट्टी की गोल बत्तियों की बनी हैं। इनमें हाथ पाँव की अगुलियों की अभिव्यक्ति नही की गई। नाक, जो बहुत ऊँची और बेढब है, चिपका कर नही किन्तु चेहरे की मिट्टी को अंगुलियों से दबा कर बनाई गई थी। नासावश प्रायः मस्तक के समतल है परन्तु कान किसी भी मूर्ति के नही बने हैं। अपने विकृति पशुसमान चेहरो के कारण सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियों की तुलना मेसोपोटेमिया और ईरान की प्राचीनतम मूर्तियों से की जा सकती है[1]। डॉ० मेके का विचार है कि सिन्धुकालीन बहुत सी मनुष्य मूर्तियाँ आरम्भ में लाल-काले दोरंगी चित्रों से चित्रित थी।

पार्थिव मनुष्य-मूर्तियाँ हडप्पा और मोहेजो-दडो के अतिरिक्त भारत के ऐतिहासिक काल के खंडहरो मे भी व्यापक रूप से मिली हैं। समकालीन सामाजिक जीवन के चित्रण की अभिलाषा मानव हृदय मे सदा प्रबल रही है। इसे मूर्त स्वरूप देने के लिये स्वभावत: उसने मिट्टी जैसे बेमोल के माध्य से बहुत काम लिया। मनुष्य के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक जीवन की मूर्त अभिव्यक्ति में मिट्टी के खिलौनों ने प्रमुख भाग लिया है। इनका और भी महत्व इस बात में है कि लोकप्रिय कला

---

१. पशु-समान चेहरों और कुरूप आकृतियों के विषय मे ईरान के प्रागैतिहासिक खडहर 'अनौ' से प्राप्त मनुष्य-मूर्तियाँ सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियों से बहुत सादृश्य रखती हैं।

किंग—हिस्टरी आफ सुमेर एण्ड एक्कड, फलक नं० १६।

समकालीन उर से उपलब्ध मिट्टी की मनुष्य-मूर्तियो के सिर भी वैसे ही पशुओं के सिरों के समान हैं, जैसे गारा मे प्राप्त मुद्राओं पर खुदी हुई मूर्तियों तथा मूसा की कुम्भकला पर चित्रित मूर्तियों के हैं। कई विद्वानों के मत मे इन पशु-मुख मूर्तियों का कुछ तान्त्रिक अभिप्राय था।

—एंटक्विटी, ग्रं० १५, नं० ५८, पृ० १६३।

फलक ४४. सिन्धुकालीन पशुओं की मूर्तियाँ

होने के कारण इसमें निम्नस्तर के साधारण लोगों के जीवन का चित्रण है। इस दृष्टिकोण से जब हम सिन्धुकालीन खिलौनों का अध्ययन करते हैं तो पता लगता है कि इनमें हजारों वर्ष पुरानी प्रथाओं और रीति-रिवाजों का अनमोल कोष भरा पड़ा है। इनके द्वारा चिरकाल से काल-गर्भ में विलीन मानव समाज के वेश, भूषा, व्यवसाय आदि का विशद विवरण मिलता है। यह दरिद्रनारायण की कला है और इससे हम प्रागैतिहासिक काल का अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। पत्थर, शंख, हाथीदांत आदि बहुमूल्य तथा दुष्प्राप्य माध्यों की बनी हुई वस्तुओं से यह ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं।

सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियों में साठ प्रतिशत के लगभग स्त्रियां हैं और शेष पुरुष। मूर्तियां स्थान और आसीन दोनों मुद्राओं में पाई गई हैं। खड़ी स्त्री-मूर्तियां जो सिरों पर उन्नत शिरोवेष्टन, गलहार, मेखला और कटिवस्त्र पहने हैं सम्भवतः मातृदेवी की प्रतिकृतियां हैं। उनमें से कई एक अपने दोनों हाथों से शिरोवेष्टन को छू रही हैं मानो अभिवादन कर रही हों। ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि इस अभिवादन मुद्रा का तात्पर्य सम्भवतः सिन्धु-युग के अश्वत्थाधिष्ठातृ परमदेवता के प्रतीक शृंगमुकुट का आदर करना था। असाधारण स्त्री मूर्तियों में कई एक उल्लेखनीय हैं—एक गर्भवती स्त्री, दूसरी अपने हाथ में एक गोल वस्तु (रोटी ?) और तीसरी सींगों वाला मुकुट (शृंगमुकुट) उठाये हुए है। कई स्त्रियां बच्चों को स्तन पिला रही हैं, एक के सिर पर पुष्पमाला है (फलक ३५, ग, ब) और एक दूसरी स्त्री अपनी कांख में खड़ी पेंदी की थाली उठाये हुए है।

मृण्मय पुरुष-मूर्तियां प्रायः सभी नग्न हैं। कई खड़ी और कई बैठी हैं। उनका केशविन्यास कई प्रकार का है। कई मूर्तियां गलों में हार पहने हैं। कई के सिरों पर स्त्रियों की तरह लंबे केश और कई के सिर मुंडित हैं। उनकी मूंछें मुंडी हुई और दाढ़ियां छोटी तथा कुछ नुकीली हैं (फलक ३६, ड, छ)। कई के गले में कालर (फलक ३६, ज, ब) और मस्तक पर सिंगार पट्टी है। कई पुरुष टांगें समेट और दोनों भुजाओं से उन्हें दबाकर चूतड़ों के बल इस प्रकार बैठे हैं जैसे ग्रामीण लोग शीतकाल में प्रायः धूप सेकने बैठते हैं (फलक ३६, झ)। एक और विचित्र आसन मुद्रा है जिसमें मनुष्य ने टांगें लंबी तानी हैं और हाथ नमस्कार मुद्रा में छाती पर रखे हैं (फलक ३६, ट)। पूर्वोक्त दोनों मुद्राएं किसी धार्मिक अभिप्राय की प्रतीत होती हैं। शायद ये मनुष्य देवपूजा अथवा किसी साधना में संलग्न हैं। एक पुरुष की मुद्रा से ऐसा मालूम होता है मानो वह व्यायाम कर रहा हो। उसकी दोनों भुजाएँ पीछे की ओर तनी हैं और घुटने कुछ बाहर को निकले हैं। एक मनुष्य ने अपने लंबे केशों को चोटी के आकार में सजाया है, दूसरा गले में दुपट्टा पहने है (फलक ३६, ब)

और तीसरे के सिर पर कुंडलाकार जटाजूट है (फलक ३७, ठ)।

पशुमूर्तियां—पशमूर्तियों में कई प्रकार के पालतू और जंगली जानवर हैं (फलक ४४)। इनमें बैल, भैंसा, गैंडा, बकरा, मेढा, बाघ, हाथी, सूअर, कुत्ता, बंदर और बिलाव वर्णनीय हैं। छोटे पशुओं और रेंगने वाले जन्तुओं में न्योला, सांप, चींटी-भक्षक आदि, जल-जन्तुओं में मगर, घडियाल, कछुआ, मछली आदि वर्णनीय हैं। पक्षियों में बत्तख, मोर, मुर्ग, चील, कबूतर, फाखता, सुग्गा, उल्लू और हंस समाविष्ट हैं। एक मिट्टी की मूर्ति में दो व्याघ्रमुंड एक ही गले से उभर रहे हैं (फलक ४४, ड)।

हड़प्पा में मनुष्य अथवा पशु की एक भी तांबे की मूर्ति नहीं मिली। परन्तु मोहेंजो-दडो से कई एक हस्तगत हुई थीं। गिलहरी, मेढा, पक्षी आदि की फियांस की बनी हुई बहुत सी मूर्तियां हड़प्पा से प्राप्त हुई थीं। सब से विलक्षण पेस्ट की बनी हुई गैंडे की एक छोटी प्रतिकृति है जो इस पशु को सजीव तथा वास्तविक रूप में दिखलाती है (फलक ४४, भ)।

मृण्मय मूर्तियां प्रयोजन-भेद से तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं। इनमें कई एक अन्य वस्तुओं के साथ पूर्वोक्त स्मारक-भांडों में से मिली थीं जहां वे मृतक की अन्त्यक्रिया के सम्बन्ध में रखी गई थीं। दूसरे प्रकार की मूर्तियां जिनमें गर्भवती अथवा बच्चों को स्तन पिलाती हुई स्त्रियां हैं निस्सन्देह पुत्रकामना की पूर्ति के उपलक्ष्य में घरों अथवा मंदिरों में इष्टदेवता के सम्मुख भेंट की गई थीं। तीसरी भांति की वे असंख्य मूर्तियां हैं जो शिशुविनोद के लिये खिलौनों के रूप में बनाई गई थीं। मृतक की अन्त्यक्रिया से सम्बद्ध वस्तु-सामग्री में मनुष्य मूर्तियों के अतिरिक्त पशुमूर्तियां भी थीं। इस भांति की खड़ी स्त्रीमूर्ति जो एक स्मारक भांड में मिली अंगुली में तांबे की अंगूठी पहने हुए थी।
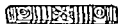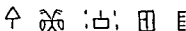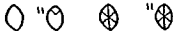
फलक ४५. खिलौने तथा विनोद की वस्तुएँ

१७

रीति-रिवाज और विनोद सामग्री

हड़प्पा की खुदाई से विनोद तथा क्रीडा की विविध वस्तुएँ उपलब्ध हुई थी। उनमे मनुष्य और पशुओ की मूर्तियाँ, बैलगाडियाँ, पशु और पक्षियो के आकार के रथ, दो पहिये वाला ताँबे का विलक्षण रथ (फलक ४०, ट), हिलते हुए सिरो वाले बैल (फलक ४५ ड, छ), क्रीडाशुक रखने के पिजरे (फलक ४३, ज), चलनियाँ, छोटे टोकरे (फलक ४५, ठ), झुनझुने, वृक्ष के ठूँठे पर ऊपर नीचे भागते हुए बन्दर आदि (फलक ४४, छ) थे। क्रीडा की वस्तुओ मे पत्थर, शख, फेंस आदि के बने गोले और गोलियाँ जिनमे भीने चकमक पत्थर की बनी गोलियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। घनाकार अक्ष (फलक ४५, क) जिन पर अकित छेदो का विन्यास तीन प्रकार का है। उनमे से एक अक्ष के छ पहलुओ पर जो चिह्न बने हैं उनकी योजना आजकल के अक्षो की तरह है अर्थात १ के सामने ६, २ के सामने ५, और ३ के सामने ४, जिससे आमने-सामने के दो अको का योग ७ हो जाता है[1]। यह बात उल्लेखनीय है कि अक्ष-क्रीडा वैदिक-काल मे भी प्रचलित थी। उस समय अक्ष विभीतक के फल का बनाया जाता था, क्योकि लोगो का विश्वास था कि इस वृक्ष मे पाप और अधर्म का निवास है।

इसी प्रकार सिंधु-प्रान्त से प्राप्त मिट्टी, फियाँस आदि के बने हुए अनेक क्षुद्राकार तिपहलू मोहरे भी किसी न किसी खेल मे काम आते थे (फलक ४५, ग)। कई एक अज्ञात प्रयोजन के मोहरे भी अवश्य किन्ही खेलो से ही सम्बन्ध रखते थे, परन्तु इस समय उनके यथार्थ प्रयोजन का जानना कठिन है। यह स्पष्ट है कि लकड़ी आदि विनिश्वर द्रव्यो की बनी हुई सिंधु-कालीन असख्य विनोद-वस्तुएं पुरातत्वज्ञ के लिए चिरकाल से अशेषत नष्ट हो चुकी है।

हाथीदाँत की बनी हुई चौपहल असख्य शलाकाएं जिन पर समानकेन्द्र वृत्त और आडी रेखाएँ अकित हैं बहुत मिली थी (फलक ४५, घ, ज)। डॉ० मेके के विचार मे ये भी एक प्रकार के अक्ष ही थे। इनमे से कई शलाकाओ पर सब ओर एक ही भाँति के चिह्न अकित हैं (फलक ४५, घ)। उनका कहना है कि इन शलाकाकार

---

१ सन् १८५४ मे वेलेसिस को ब्राह्मणाबाद मे जो अक्ष मिला उसके अको की भी यही योजना थी। मिश्र मे पिलडर्स पिट्री को जो हड्डी के अक्ष मिले वे भी ऐसे ही थे।

अक्षों का रहस्य फेंके जाने के अनन्तर इनकी अपेक्षाकृत स्थिति पर निर्भर था। हड़प्पा में एक शलाकाकार तथाकथित अक्ष के एक सिरे पर तांबे की टोपी चढ़ी थी जिससे प्रतीत होता था कि सम्भवतः ये किसी हार का लटकन था। हो सकता है कि इन अक्षों में से कई एक शायद लटकनों या तावीजों के रूप में प्रयोग में आते थे और इन पर जो निशान अंकित हैं उनका कुछ तान्त्रिक रहस्य हो।

पत्थर, फेंस, मिट्टी आदि के बने हुए लिंगाकार शंकुओं में भी कई सम्भवतः खेलने के मोहरे ही होंगे (फलक ४५, ग)। इनका एक बड़ा समुदाय जो हड़प्पा से मिला शायद क्रीड़ा या अलंकरण का साधन था। सिंधु-निवासियों के पास खेलें खेलने के लिए क्रीड़ापट्ट भी थे। एक बड़ी ईंट जिस पर आड़ी टेढ़ी रेखाओं के परस्पर काटने से कोष्ठ बने थे शायद इसी प्रयोजन का एक क्रीड़ा-फलक था। मोहेंजो-दड़ो में एक पकी मिट्टी के फलक (टाईल) पर त्रिभुज बने थे जिनमें से एक में 'घर' का प्रतीक एक चिह्न अंकित था। मिश्र और सुमेर के प्राचीन खण्डहरों में भी क्रीड़ापट्ट मिले थे। बच्चे गोलियां खेलते थे। कई एक गोलियां जिन पर समान केन्द्र वृत्त बने हैं खेल की ही वस्तुएँ थी (फलक ४५, भ)।

स्वभाव और रीति-रिवाज—सिंधु निवासी भारी मांसभक्षक थे। इसका समर्थन हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के टीलों में गो-जाति के पशुओं की हड्डियों के अम्बारों से होता है। लोग आखेट के शौकीन थे। कुत्ते और मुर्ग को पालते थे। परन्तु इस बात का पता नहीं कि वे कुत्तों से शिकार करते थे या नहीं। सम्भवतः मुर्गों का द्वन्द्व युद्ध एक विनोद समझा जाता था। सूअर और दूसरे जंगली जानवरों को जाल आदि से पकड़ना और मछलियों का शिकार करना लोकप्रिय विनोद और व्यवसाय भी थे। गेहूँ और जौ उनके प्रधान अन्न थे। परन्तु फल, दूध, दही, माखन आदि भी खाद्य वस्तुएँ थी। सांभर और बारह सींगे के सींग, पीली हरताल, शिलाजीत, आदि वस्तुएँ औषधियों के काम आती थी। शिलाजीत नेपाल के पहाड़ी इलाकों से आती थी। यह हिमालय की चट्टानों से एक प्रकार का स्राव निकलता है जिसे इकट्ठा करके पहाड़ी लोग आज भी मैदानों में ले आते हैं और अजीर्ण तथा यकृत् की बीमारियों के लिए दवाई के रूप में बेचते हैं।

१८

सिंधु-लिपि

सिंधु-लिपि के अधिकांश चित्राक्षर मुद्राओं पर अंकित हैं। इसलिए यहां सर्वप्रथम मुद्राओं के सम्बन्ध में कुछ परिचय देना आवश्यक है। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के खण्डहरों से प्राय: तीन हजार के लगभग मुद्राएँ और मुद्राछापें आज तक उपलब्ध हो चुकी हैं। आकारभेद से वे दो प्रकार की हैं। प्रथम बड़े आकार की छाप लगाने की मुद्राएँ (फलक ४६, घ १, २) जिन पर अक्षर और मूर्तियाँ उलटी खुदी हैं। ये एक प्रकार के साँचे हैं जो गीली मिट्टी, लाख, मोम आदि कोमल द्रव्यों पर छाप लगाने के काम में आते थे। दूसरी खड़िया पत्थर की क्षुद्राकार मुद्राएं (फलक ४६, घ ३-१३), जो बनावट में अत्यन्त दुर्बल और भँगुर हैं। इनमें से कई पर लेख उलटा और कई पर सीधा खुदा है। अपनी भँगुरता के कारण ये मुद्राएँ छाप लेने के काम में नहीं आ सकती थीं। छाप-मुद्राएँ प्रायः खड़िया पत्थर की बनी हैं और आकार में वर्ग अथवा समकोण चतुर्भुज की शकल की हैं। इनमें से वर्गात्मक मुद्राओं की भुजाएँ ·४५ से २.६५ इंच तक हैं। इनके सामने माथे पर एकशृंग अथवा कोई दूसरा पशु, ऊपर के किनारे के साथ चित्राक्षर और पीठ पर डोरी डालने के लिए एक छेददार उभार होता है (फलक ४६, घ १)। पशु चाहे एकसमान हों प्रत्येक मुद्रा पर लेख भिन्न-भिन्न होते हैं। अन्य उत्कीर्ण पशुओं में ब्राह्मणी बैल (वैदिक महर्षभ), हाथी, भैंसा, बाघ, गैंडा, नील गाय, छोटे सींगों वाला बैल, मगर, हरिण आदि हैं। कई मुद्राओं पर नरमुण्ड संकीर्ण पशु खुदा है जिसका शरीर हाथी, बाघ, मेढ़ा, आदि सात आठ पशुओं के भिन्न-भिन्न अंगों के विचित्र योग से सगठित है। एकशृंग वाली मुद्राओं पर पशु के गले के नीचे एक वेदिका धरी रहती है। कई एक पशुओं के आगे टोकरा धरा हुआ मिलता है (फलक २५, ग)। मार्शल के विचार में पशुओं के आगे टोकरा रखने का तात्पर्य यह नहीं था कि ये पशु पालतू थे, किन्तु इन पशुओं में आविष्ट आसुरी शक्तियों को शान्त करने के लिए लोगों के द्वारा दी हुई यह एक प्रकार की बलि थी।

समकोण चतुर्भुज आकार की छाप-मुद्राएँ सामने की ओर समतल और पीठ पर उन्नतोदर हैं (फलक ४६, घ २)। डोरी डालने के लिए इनमें एक या दो छेद बने होते हैं। कई एक मुद्राएँ दोनों ओर समतल हैं। इनमें से कई की पीठ पर छेददार
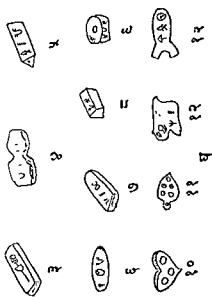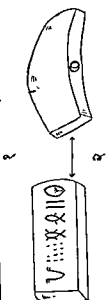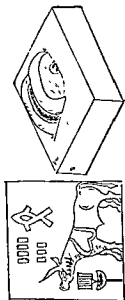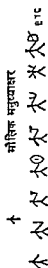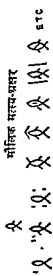
फलक ४६. सिंधु-कालीन मुद्राएँ तथा चित्र-लिपि

उभार है और कई पर नहीं। ऐसी मुद्राओं पर प्राय केवल लेख ही अंकित होता है, पशु नहीं।

क्षुद्राकार मुद्राएँ—दूसरी श्रेणी में दो सौ के लगभग खड़िया पत्थर की क्षुद्राकार मुद्राएँ सम्मिलित हैं। उनकी लम्बाई ३५ से ६ इच तक, चौड़ाई १५ से ३ इंच तक और मोटाई ३ से ०५ इच तक है। छाप-मुद्राओं पर लेख और पशु गहरे, सुन्दर और यथार्थ खुदे हैं, परन्तु क्षुद्र-मुद्राओं पर ये वैसे सुन्दर और गहरे नहीं हैं। बड़ी और छोटी मुद्राओं में जो परस्पर अन्तर है उनका विवरण इस प्रकार है—क्षुद्राकार मुद्राओं में डोरी डालने के लिए न तो कोई छेद है और न ही उनकी पीठ पर किसी प्रकार का उभार है। उनमें से बहुत-सी मुद्राओं पर एक ही प्रकार के लेख हैं, परन्तु बड़ी मुद्राओं पर जो लेख हैं वे एक दूसरे से नहीं मिलते। छोटी मुद्राएँ कई आकार की हैं, जैसे चतुर्भुज, अण्डाकार (फलक ४६, घ ६) शलाकाकार (घ ८), वृत्ताकार (घ ६), समोन्नत, तथा कछुआ (घ ११), मछली (घ १३), बोतल, पत्र आदि के आकार की। चतुर्भुज आकार की छोटी मुद्राओं में से अधिकांश पर दोनों ओर लेख है कई पर एक ओर लेख और दूसरी ओर पशु पीपल का पत्ता वेदिका आदि अभिप्राय हैं। कई मुद्राएँ केवल एक ओर ही लेखांकित हैं, दूसरी ओर खाली हैं। बहुत-सी तिपहलू शलाकाकार (घ ५) मुद्राओं पर दो ओर लेख और तीसरी ओर वृत्त अथवा अन्य अभिप्राय हैं। बड़ी मुद्राओं पर खुदे हुए चित्राक्षरों की संख्या ६०० के लगभग है परन्तु छोटी मुद्राओं पर इनकी संख्या केवल पचास तक ही सीमित है। विद्वानों का अनुमान है कि ये मुद्राएँ या तो यन्त्र (रक्षा-करण्ड) और तावीजों के रूप में प्रयोग में आती थीं अथवा उस समय का चलन थी।

सिंधु-लिपि—सिंधु लिपि उन अर्धचित्रमय लिपियों के परिवार में से है जो ताम्रयुग में पश्चिमी एशिया तथा आस-पास के देशों में प्रचलित थीं। इस लिपि में ६०० से अधिक चित्राक्षर हैं जिनमें ६० के लगभग मौलिक अक्षर (फलक ४७, ख) और शेष उनके केवल रूपान्तर हैं। मौलिक अक्षरों में कई प्रकार की आन्तरिक एवं बाह्य लगमात्रा आदि लगाने से अथवा दूसरा अक्षर जोड़ देने से एक ही वर्ण के अनेक रूपान्तर बन जाते थे। उदाहरणत 'मनुष्य'-वाचक (फलक ४६, ग १) अथवा 'मत्स्य'-वाचक (फलक ४६, ग २) सरल मौलिक अक्षरों से पूर्वोक्त विधि से अनेक संकीर्ण रूपान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ था, जैसा कि फलक ४६ (ग ३, ग ४) में प्रदर्शित है।[1] यह बात उल्लेखनीय है कि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के निम्नतम स्तर में जब सिंधु-लिपि प्रथम प्रकाश में आई तो इसके अक्षर चित्रमय रूप को त्याग कर पहले ही वर्णमय भूमिका पर पहुँच चुके थे। अधिकांश अक्षरों में इतना परिवर्तन हो चुका था कि उनके मौलिक चित्राक्षरों का पता लगाना या यह मालूम करना कि

सिन्धुलिपि

a (अ) i (इ) u (उ) ka (क) ga (ग) cha (च) ja (ज) ta (त) tha (थ) da (द) ma (म) ya (य)

ब्राह्मीलिपि

फलक ४७. (क) सिन्धु-लिपि से ब्राह्मी-लिपि के सादृश्य।
(ख) सिंधु-लिपि के मौलिक चित्राक्षर।

अमुक वर्ण अमुक पदार्थ का चित्र है, अत्यन्त कठिन था। अत. इस लिपि के आविर्भाव, क्रमिक विकास और तिरोभाव का सम्बद्ध इतिवृत्त अभी अज्ञात है। हड़प्पा और मोहेंजो-दडो के सात-आठ स्तरो मे प्रतिबिम्बित दीर्घ-जीवनकाल मे इस लिपि के आकार मे किंचित् भी परिवर्तन दृष्टिगोचर नही होता। ससार की हर एक लिपि-शैली के समान सिंधु-लिपि का आविर्भाव भी पदार्थ-चित्रो मे ही हुआ था। धीरे-धीरे इन चित्रो से ध्वन्यात्मक पदाशो और पदो का क्रमिक विकास हुआ।

लिपि-विद्या-विशारद बार्टन के कथनानुसार समस्त प्राचीन लिपियो का जन्म चित्राक्षरो से हुआ था। प्रथम चित्राक्षरो से उच्चारण-समर्थ पदाशो का और अनन्तर पदाशो से ध्वन्यात्मक वर्णमाला का विकास हुआ। उनके मत मे कतिपय मौलिक चित्राक्षरो से अन्य चित्राक्षरो की उत्पत्ति चार प्रकार से अस्तित्व मे आई। यथा—(१) मौलिक चित्राक्षरो को सरल एव सुगम बनाने से, (२) मौलिक चित्राक्षरो के योगद्वारा नए अक्षर बनाने से, (३) आरम्भ मे नितान्त भिन्न दो या अधिक चित्राक्षरो के योगद्वारा सयुक्त चित्राक्षर बनाने से, (४) एकाकी चित्राक्षर के अनेक रूपान्तरो मे से किसी एक की प्रधानता मान लेने से[1]।

वर्ण-मालात्मक नहीं—सिंधु-लिपि शुद्ध रूप से वर्णमालात्मक लिपि नही थी। इस तथ्य का प्रमाण इस लिपि के ६०० से अधिक चित्राक्षर हैं। उन लिपियो के सम्बन्ध मे जो शुद्धरूप से वर्णमालात्मक नही हैं कहा जा सकता है कि वे तीन प्रकार के अक्षरो से बनी थी—(१) 'उच्चारण-समर्थ पदाश', (२) 'सकेताक्षर' और (३) 'नियामक-अक्षर'। लिपि-शास्त्रियो की सम्मति मे सिंधु-लिपि का शरीर भी पूर्वोक्त तीन प्रकार के अवयवो से सगठित था। इस लिपि की एक और विलक्षणता यह है कि सिंधु-मुद्राओ पर खुदे हुए लेखो मे बहुत से अक्षरयोग एक ही आनुपूर्वी क्रम से देखने मे आते हैं जिससे प्रतीत होता है कि इस प्रकार बार-बार आने वाले अक्षरयोग या तो वैयक्तिक नाम थे अथवा किन्ही परिचित और सुविदित भावो के वाचक शब्द थे।

गैड और सिडने स्मिथ महोदयो की सम्मति मे सिंधु-लिपि के चित्राक्षर स्थिति-भेद से तीन प्रकार के थे—इनमे कुछ 'आरम्भाक्षर', कुछ 'अन्त्याक्षर' और कई सख्या-वाचक थे। इस कल्पना के आधार पर कि यह लिपि दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी उनका विचार है कि कई चित्राक्षर अन्त्याक्षर (फलक ४५, ड १) और कई आरम्भाक्षर (फलक ४५, ड २) थे, क्योकि वे अनेक बार क्रमश. लेखो के अन्त अथवा आरम्भ मे आते थे। सख्यावाचक अक्षरो का निर्माण खडी अथवा पडी

---

१. बार्टन—आरिजिन एण्ड डेवेलपमेंट आफ् बेबीलोनियन राईटिंग, पृष्ठ १६।

रेखाओं के द्वारा किया जाता था जो कभी-कभी अकेली परन्तु अक्सर दो या अधिक की संख्या में होती थी।

कुछ भी हो, जहाँ तक आरम्भ और अन्त्य अक्षरों का सम्बन्ध है मुझे उनकी युक्ति की निर्दोषता में बहुत सन्देह है। उनका निर्णय इस कल्पना पर आधारित है कि मिश्र और सुमेर की चित्र-लिपियों की तरह सिंधु-लिपि भी दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। अन्तः प्रमाणों के आधार पर विश्वस्त रूप से कहा जा सकता है कि अशोक कालीन ब्राह्मी-लिपि की तरह प्रागैतिहासिक सिंधु-लिपि भी दाएँ से बाएँ को ही लिखी जाती थी।

सिंधु-लिपि और ब्राह्मी-लिपि—प्रो० लैंगडन ने सिंधु और ब्राह्मी-लिपियों में बहुत से सादृश्य दिखलाये हैं। उनका विश्वास है कि ब्राह्मी का जन्म सिन्धु-लिपि से हुआ था[1], क्योंकि ब्राह्मी के बहुत से अक्षर सिंधु-लिपि के चित्राक्षरों के समान-रूप है (फलक ४७, क)। न केवल यही, किन्तु ब्राह्मी-लिपि की सहायता से उन्होंने सिंधु-लिपि के कई चित्राक्षरों का आनुमानिक ध्वन्यात्मक मूल्य भी आंका है। उनके विचार में सिंधु-लिपि में स्वर-व्यंजन सयोग से उच्चारण-समर्थ पदांश (सिलेबल) का इस प्रकार विकास नही हुआ था जैसा कि ब्राह्मी में पाया जाता है। लैंगडन तथा स्मिथ की सम्मति में सिंधु-लिपि का सम्बन्ध न तो सुमेरियन और न ही इलम की प्राचीन लिपियों से है। पहले विद्वान् के मत में इस लिपि के अक्षर सुमेर की चित्रमय तथा कीलाक्षर लिपियों की अपेक्षा मिश्र की चित्र-लिपि से अधिक समानता रखते हैं। ऐसा होने पर भी सिंधु-लिपि में लगमात्रा आदि लगाने की व्यवस्था एक ऐसी विलक्षणता है जो विदेशीय चित्रलिपियों में नही पाई जाती। ब्राह्मी तथा सिंधु-लिपियों में सम्बन्ध यद्यपि अभी स्पष्ट नही, फिर भी निश्शंक रूप से कहा जा सकता है कि ब्राह्मी का सिंधु-लिपि से दूर का परम्परा-सम्बन्ध अवश्य था, क्योंकि इन दोनों के मध्यकाल की कोई लिपि अभी उपलब्ध नही हुई इसलिए ब्राह्मी के क्रमिक विकास की अन्तर्दशाओं का जानना कठिन है।

आज से एक शताब्दी पहले भारत के विख्यात पुरातत्त्वज्ञ सर एलेग्जेंडर कनिंघम ने अनुमान लगाया था कि ब्राह्मी-लिपि किसी भारतीय चित्र-लिपि की सन्तान होनी चाहिए। वेबर और ब्युहलर ने ब्राह्मी को फिनिशियन लिपि से, इज़ाक टेलर ने अरब की सेबियन लिपि से, और डीक ने असीरिया और बेबीलन की कीलाक्षर लिपि से प्रादुर्भूत माना था। परन्तु लैंगडन की सम्मति में इन विद्वानों की ये सब कल्पनाएँ निर्मूल एवं निरर्थक सिद्ध हुई है। गैंड ने सिंधु-लिपि के कई चित्राक्षरों

१. मार्शल—वही, ग्रन्थ १, पृष्ठ ४१।

और प्राक्त (पचन्नावर्ड) चन्हू-दड़ो पर अंकित कुछ चिह्नों में परस्पर सादृश्य की ओर संकेत किया है। सम्भव है कि ये चिह्न सिंधु-लिपि के विकास और ब्राह्मी के व्यञ्जनात्मक वर्णों के मध्यकालीन रूप हों।

सिंधु-लिपि के अक्षरों का विकसित रूप इस लिपि के जीवन काल को इसका नापने के लिए एक प्रकार का मानदण्ड है। इसकी दृष्टि से हमारे पास दो प्रकार का साक्ष्य है—प्रथम आन्तरिक और दूसरा बाह्य। अन्त साक्ष्य के सम्बन्ध में यह निर्देश करना आवश्यक है कि सिंधु प्रान्त के प्रागैतिहासिक खण्डहरों की खुदाई में आज तक जो लेखांकित मुद्राएँ प्रकाश में आई उनकी लिपि-शैली सर्वथा एक समान है। ऊपर के अथवा निचले स्तरों की मुद्राओं पर अंकित चित्राक्षर पूर्ण विकसित और प्रौढ़ रूप में हैं। न ही उनकी बनावट से उनके क्रमिक विकास के इतिहास का पता लग सकता है। इससे स्पष्ट है कि सिंधु-सभ्यता के समस्त जीवन-काल में सिंध के भाग में एक समान प्रौढ़ सभ्यता व्याप्त थी, और इसके निर्माता भी एक ही जाति के लोग थे। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के खण्डहरों की खुदाई में उत्तरोत्तर सात-आठ स्तरों की आबादियों के अवशेष मिले थे। सबसे नीचे की आबादी में जो मुद्राएँ मिलीं उन पर अंकित लेख सबसे ऊपर वाली आबादी के लेखों के सर्वथा समान रूप थे। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि क्रमिक विकास सिद्धान्त के अनुसार इस प्रौढ़ दशा तक पहुँचने के लिए इस लिपि को कितना लम्बा समय लगा होगा। सर जॉन मार्शल के विचार में इस विकास के लिए एक हजार वर्ष का समय किसी प्रकार अधिक नहीं है। इस अनुमान से इस लिपि का प्रारम्भ काल सुगमता से ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध तक पहुँच जाता है।

स्वभावत प्रश्न उठता है कि क्या यह लिपि भारत की उपज थी अथवा विदेशीय वस्तु जो इस प्रौढ़ दशा में कहीं बाहर से लाकर इस भूमि में गाड़ दी गई। अन्त साक्ष्य तथा बाह्य प्रमाणों के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सिंधु सभ्यता की सन्तान यह लिपि भी इसी देश की उपज थी। इसकी जड़ मोहेंजो-दड़ो के जलमग्न स्तरों में बहुत दूर तक फैली पड़ी है। अत यह निश्चित है कि मोहेंजो-दड़ो के निम्नतम सातवें स्तर में सिंधु लिपि का जो रूप प्रकाश में आता है वह किसी अन्य देश से लाकर यहाँ नहीं गाड़ा गया था, क्योंकि विदेशीय समकालीन चित्रमय लिपियों में से किसी के साथ भी इसकी सर्वांगीण समानता नहीं मिलती। अब बाह्य प्रमाणों के साक्ष्य की समीक्षा कीजिए। मेसोपोटेमिया और इलम में प्राक्-सार्गोन तथा सार्गोनकाल की प्राय ३० मुद्राएँ उपलब्ध हो चुकी हैं जिन पर सिंधु लिपि या भारतीय पशु अथवा दोनों उत्कीर्ण हैं। उनमें से हड्डी की बनी हुई एक बेलनाकार मुद्रा है जो सूसा के खण्डहर से प्राप्त हुई थी। सिंधुघाटी व मेसो-

नुसार इस पर खुदे हुए लेख और अभिप्राय प्राक्-सार्गानकाल के हैं। इस पर उत्कीर्ण 'पशु पंक्ति' अभिप्राय सुमेर तथा इलम की प्राचीनतम कला-शैली का व्यंजक है। इस मुद्रा पर खुदे हुए लेख में छः चित्राक्षर हैं (फलक ४६, क १)। लेख के अतिरिक्त दो सींगों वाला बैल भी इस पर खुदा है और बैल के सामने टोकरा धरा है। सुमेरियन टंककला में 'बैल और टोकरा' अभिप्राय (फलक १५, क) अज्ञात है। डा० डि सज्ज़ाक को लगाश के खण्डहर में एक वृत्ताकार छापमुद्रा मिली थी। इस खण्डहर में ३००० ईसापूर्व के बाद की अभी तक कोई वस्तु नहीं मिली। इसलिए यह मुद्रा भी प्राक्-सार्गान काल की ही है। यह कुछ हरे रंग के कोमल पत्थर की बनी है और इस पर एक पंचाक्षरी लेख (फलक ४६, क २) उत्कीर्ण है। इसी खण्डहर से प्राप्त खड़िया पत्थर की बनी सिंधु-शैली की एक और मुद्रा डा० थ्यूरो-डेंगिन ने प्रकाशित की थी जो इस समय लूवर संग्रहालय में सुरक्षित है। इस पर सिंधु-लिपि के छः चित्राक्षर खुदे है जैसा कि फलक ४६, क ३ में प्रदर्शित हैं[1]। इसी प्रकार की प्राक्-सार्गानकाल की एक और मुद्रा डा० मेके को किश खण्डहर की खुदाई में रणदेवता इल-बाबा के मन्दिर में राजा मसु-इलुना के फर्श के नीचे मिली थी। इस पर केवल चार चित्राक्षर खुदे है (फलक ४६, क ४)।

पश्चिमी एशिया से सम्पर्क—सिंधु-सभ्यता के काल-निर्णय-प्रसंग में डा० मार्टीमर व्हीलर और प्रो० पिगट सिंधु-शैली की पूर्वोक्त मुद्राओं का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि "इन ३० मुद्राओं में केवल १२ ही ऐसी हैं जिनके काल के सम्बन्ध में विश्वस्त रूप से निर्णय हो सका है। इन १२ में से केवल एक या दो ही प्राक्-सार्गानकाल की हैं और बाकी या तो सार्गान के काल की या उससे भी बाद की हैं।" इस साक्ष्य के आधार पर वे इस निर्णय पर पहुँचे कि सिंधु-प्रान्त और मेसोपोटेमिया में परस्पर जो सम्पर्क हुए वे सार्गानकाल (२४वीं शती ई० पू०) में ही घटित हुए होंगे।

परन्तु डा० व्हीलर का यह निर्णय निर्दोष नहीं है। यह कहना कि मेसोपोटेमिया में उत्खात १२ सिंधु-मुद्राओं में केवल एक या दो ही प्राक्-सार्गानकाल की हैं, अयुक्त है। प्रो० लैंगडन का दृढ विश्वास है कि इनमें कम से कम चार या पाँच मुद्राएँ इस काल की है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भावना है कि अज्ञातकाल शेष १८ मुद्राओं में से शायद कुछ और भी इसी काल की थी। मेसोपोटेमिया में प्राक्-सार्गानकाल की सिंधु-मुद्राओं की उपलब्धि ही एक ऐसा अकाट्य प्रमाण है जो सिद्ध करता है कि तीसरी सहस्राब्दी के आरम्भ में सिंधु-सभ्यता का पश्चिमी एशिया के

---

१. मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इंडस सिविलाइज़ेशन, ग्रन्थ २, पृष्ठ ४२५।

साथ गहरा सम्बन्ध था ।

लिपि का चित्रमय रूप—सिंधु-लिपि के काल का निर्णय करने के लिए श्रद्धेय प्रमाण इसके अक्षरों का अर्धचित्रमय रूप है। इस लिपि के स्वरूप और सगठन के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हो चुका है उसके आलोक में कहा जा सकता है कि इस लिपि के 'मनुष्य'-वाचक चित्राक्षरों का सादृश्य मिश्र के समानाकार चित्राक्षरों से था। परन्तु जहाँ तक रेखामय चित्राक्षरों का प्रश्न है उनका अधिक सादृश्य इलम की लिपि से और उससे कुछ कम सुमेर की लिपि से था। अस्तु, यह एक रहस्यपूर्ण तथ्य है कि सुमेर की लिपि से सिंधु-लिपि का सादृश्य तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता जब तक कि हम जमदेत-नसर काल (३५०० ई० पू०) में पदार्पण नहीं करते। इसमें सन्देह नहीं कि जमदेत-नसर काल की चित्र लिपि का स्वरूप सिंधु-लिपि से अधिक विकसित है। इस सम्बन्ध में प्रो० लेंगडन लिखते हैं—"जमदेत-नसर काल की सुमेरियन चित्र-लिपि के अधिकांश चित्राक्षर पहले ही ६०° अंश की मात्रा में दाईं ओर को झुके हुए हैं। ऐसा करने का प्रयोजन यह था कि लिपि, जिसकी दिशा अब बाएँ से दाएँ को बदल गई थी, सरसरी तरीके से शीघ्रातिशीघ्र लिखी जा सके। स्मरण रहे कि आरम्भ में यही लिपि दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी और इसके अक्षर दाईं ओर को झुके हुए नहीं किन्तु बिलकुल सीधे होते थे[1]।

लेंगडन के पूर्वोक्त विवरण से प्रकट है कि सिंधु-लिपि जो अपने जीवनकाल में सदा सीधी तथा नैसर्गिक रूप में ही लिखी जाती रही जमदेत-नसर काल की सुमेरियन लिपि से प्राचीन थी। इस समय से लेकर सुमेरियन लिपि धीरे-धीरे अपना चित्रमय रूप छोड़ती गई जहाँ तक कि राजावली काल के मध्य में यह कीलाक्षर लिपि (क्यूनी-फार्म) के रूप में बदल गई और सिंधु लिपि से अब इसका समस्त सादृश्य समाप्त हो गया। इसी युग की इलम की लिपि का भी सिंधु लिपि से घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों लिपियों में बहुत से चित्राक्षर समान हैं (फलक १४, क-ग) और वे अभी पूर्णरूप से अथवा अंशत चित्रमय दशा में ही हैं। सम्भवत दोनों लिपियों के समानरूप चित्राक्षर एक ही प्रकार के भावों अथवा पदार्थों के द्योतक थे। प्रो० लेंगडन और डा० हंटर की सम्मति में इलम और सिंधु-देश की प्रागैतिहासिक लिपियों में इतना निकट सादृश्य है कि ईसापूर्व चौथी शताब्दी के आरम्भ में वे एक ही प्रभव से उत्पन्न हुई प्रतीत होती हैं।

खेद की बात है कि सिंधु-सभ्यता के जीवनकाल को ईसापूर्व २५००-१५०० तक की सीमाओं के बीच नियत करने की धुन में डा० व्हीलर और प्रो० पिगट

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दडो एण्ड दि इंडस सिविलाइजेशन, ग्रन्थ २, पृष्ठ ४५४।

पूर्व-निर्दिष्ट लिपि-सादृश्य के साक्ष्य की बिलकुल ही अवहेलना कर गए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह साक्ष्य उनके द्वारा निर्धारित सिंधु-सभ्यता की तिथि के लिए घातक सिद्ध होता है। परन्तु काल-निर्णय में एक श्रद्धेय एवं दृढ़ प्रमाण होने के कारण इस की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लिपि-साक्ष्य के अतिरिक्त और भी बहुत से प्रमाण हैं जो डा० व्हीलर के सिद्धान्त पर कुठाराघात करते हैं और जिनसे सिंधु-सभ्यता के आरम्भकाल की सीमा चौथी सहस्राब्दी ई० पू० तक पहुँच जाती है।

लेंगडन, सिडने स्मिथ, गैड और हंटर प्रमुख लिपि-शास्त्रियों का इस विषय में ऐकमत्य है कि मिश्र तथा सुमेरियन लिपियों के समान सिंधु-लिपि भी दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। परन्तु अपने मत के समर्थन में जो प्रमाण उन्होंने दिये हैं वे अधूरे तथा दोषग्रस्त हैं। इस लिपि के संगठन में जहाँ तक मैंने अनुसन्धान किया है उससे यही प्रतीत होता है कि ब्राह्मी के समान सिंधु-लिपि भी बाएँ से दाएँ को ही लिखी जाती थी।

सन् १९२०-२१ से १९३०-३१ तक जो खननकार्य हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में हुआ उसमें ३००० के लगभग लेखांकित मुद्राएँ और मुद्राछापें उपलब्ध हुई थीं (फलक ४६, घ)। विधिपूर्वक छानबीन के अनन्तर इन पर उत्कीर्ण चित्राक्षरों की सूचियाँ सर जान मार्शल और श्री माधोस्वरूप वत्स ने अपने ग्रंथों में प्रकाशित की हैं। भावी अनुसन्धान के लिए जिज्ञासुओं को इनसे बहुत सहायता मिल सकती है। इन सूचियों में दिये हुए मौलिक अक्षरों तथा उनके रूपान्तरों की कुल संख्या ४५० के करीब है। परन्तु यदि इसमें १९३१ के बाद उपलब्ध चित्राक्षर भी मिला दें तो संख्या ६५० के लगभग पहुँच जाती है।

कई एक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इस लिपि के पढ़ने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। परन्तु इन सब में डा० हंटर का अनुसन्धान जो उनकी पुस्तक 'स्क्रिप्ट ऑफ़ हड़प्पा एण्ड मोहेंजो-दड़ो' में समाविष्ट है, सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें उन्होंने वैज्ञानिक रीति से इसे पढ़ने का प्रयास किया है। तथापि उनके सिद्धान्तों में कई एक आपत्तियाँ हैं जिनसे वे अशेषतः मान्य नहीं हो सकते। इनमें से उनका एक सिद्धान्त यह है कि सिंधु-लिपि दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। इसी प्रकार पूर्वोक्त सिद्धान्त पर आधारित कई मुद्रांकित लेखों का जो अर्थ उन्होंने निश्चित किया है, वह भी श्रद्धेयता की कोटि तक नहीं पहुँचता। उदाहरणतः, उनका दावा है कि उन्होंने ऐसे शब्दों को पढ़ लिया है कि जिनका अर्थ 'भूमि का स्वामी', 'देवता', 'पुत्र', 'दास' आदि था, परन्तु यह सब शुद्धरूप से कपोलकल्पना मात्र ही है।

वस्तुतः यह लिपि अभी तक एक रहस्य ही बनी हुई है। कई एक विख्यात लिपि-शास्त्रियों के अथक परिश्रम के अनन्तर भी इस लिपि के अन्तर्हित भाषा के

भेद को यथार्थ रूप से समझने में आज तक कोई भी समर्थ नहीं हुआ। 'रोज़ेटा स्टोन' 'बहिस्तून-शिलालेख' जैसा द्वैभाषिक या त्रैभाषिक लेख जब तक उपलब्ध नहीं होता सिंधु लिपि एक समस्या ही बनी रहेगी। मिश्र तथा सुमेर की चित्र-लिपियाँ शायद सदा के लिए अज्ञात ही रहती यदि पूर्वोक्त 'रोज़ेटा-स्टोन' और बहिस्तून के त्रैभाषिक शिला-लेख प्रकाश में न आते। जब तक भारत में ऐसा कोई लेख नहीं मिलता सम्भव है कि 'मय' और 'मिनोअन' लिपियों की तरह सिंधु-लिपि भी एक बन्द कोशागार ही बना रहे।

तथापि जब तक हमें ऐसी उपलब्धि का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता इस दिशा में अनुसंधान बनाए रखना श्लाघनीय प्रयास है। इस सम्बन्ध में प्रो० लैंगडन के निम्नलिखित सुझाव को हमें हर समय याद रखना चाहिए। वे लिखते हैं कि "उप-लब्ध सामग्री की सहायता से अपने परिश्रम को जारी रखते हुए संस्कृतज्ञ अनुसन्धाता को वैदिककाल के कुछ देवताओं, महापुरुषों तथा ऋषियों के नामों को चुन लेना चाहिए और इन नामों को सिंधु लिपि के परिचित अक्षरों अथवा अक्षरयोगों में ढूंढने का प्रयत्न करना लाभदायक होगा।"

१९

रंगपुर और रोपड़ के प्रागैतिहासिक खण्डहर[1]

कुछ वर्षों से रगपुर और रोपड[2] के प्रागैतिहासिक खण्डहर अनुसन्धान के आलोक मे आ रहे हैं। सन् १९३५ मे श्री माधोसरूप वत्स ने जब रंगपुर में प्रथम खुदाई कराई तो उन्हें यह टीला हड़प्पा और मोहेंजो-दडो की सस्कृति का दिखाई दिया और उन्होने इसे सिंधु-सस्कृति से प्रभावित क्षेत्र के अन्तर्गत घोषित किया[3]। सन् १९४७ में श्री मोरेश्वर जी० दीक्षित ने यहाँ फिर खनन कराया और उन्होंने इस स्थान को सिंधु युग के उत्तरकाल का बतलाया[4]।

यह मालूम करने के लिए कि यह टीला सिंधु-संस्कृति का है अथवा उत्तरकालीन भारत-पुरातत्त्व-विभाग, प्रतीच्य-मण्डल, के अध्यक्ष श्री एस० आर० राव इस खण्डहर मे कुछ वर्ष लगातार खुदाई कराते रहे। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर अब स्पष्ट हो गया है कि रगपुर का टीला सिंधु-संस्कृति का ही है जैसा कि वत्स महोदय ने अपने प्रारम्भिक निदान में निर्धारण किया था। दिसम्बर, सन् १९५४ में इण्डियन हिस्टरी कांग्रेस के अहमदाबाद-अधिवेशन मे श्री राव ने चित्रपट पर छायाचित्रों के द्वारा रंगपुर से उत्खात कुम्भखण्डो और अन्य वस्तुओं का प्रदर्शन किया था।

अवनत रूप—डेलीगेट होने के नाते मैंने भी पूर्वोक्त वस्तुओ का निरीक्षण किया था और तद्विषयक श्रीराव के व्याख्यान को भी सुना था। इन वस्तुओं मे यद्यपि सिंधु-सस्कृति की कलाओ तथा रूढियों की झलक अवश्य थी तथापि ये अवशेष निस्सन्देह इस संस्कृति के अवनति-काल के थे। इसी प्रकार की प्रदर्शनी और व्याख्यान का प्रबन्ध बड़ोदा में इण्डियन साइंस कांग्रेस के नरवंशतत्त्व और पुरातत्त्व के अधिवेशन में भी किया गया था।

रगपुर से उत्खात कलाकृतियों में सिंधु-सभ्यता के सांस्कृतिक तत्त्वों की कितनी

---

१. इस लेख का अंग्रेजी रूपान्तर ६ फरवरी, १९५५, को हिन्दुस्तान टाइम्स में प्रकाशित हुआ था।

२. रंगपुर का खण्डहर सौराष्ट्र में और रोपड़ का पूर्वी पंजाब के जिला अम्बाला मे स्थित है।

३. वार्षिक रिपोर्ट भारत-पुरातत्त्व-विभाग, १९३४-३५, पृष्ठ ३४।

४ इण्डियन आर्क्यालोजी, १९५३-५४, पृष्ठ ७।

मोहेंजो-दड़ो नगर को भी सिन्धु-सभ्यता के लोगो ने प्रचण्ड बाढ़ों के आतंक से पीड़ित होकर ही छोड़ा था, न कि वैदिक आर्यों के प्रचण्ड आक्रमणों के कारण।

ईसापूर्व २५००-१५०० की तिथि, जो सिन्धु-सभ्यता के समस्त जीवन-काल के लिये अब व्यवहार मे आ रही है, भी डाक्टर व्हीलर की पूर्वोक्त हड़प्पा-खुदाई पर ही आधारित है[१]। आश्चर्य की बात है कि अपनी खुदाई की स्तर-रचना का मूल्य आँकते समय डा० व्हीलर प्राक् १९४६ की खुदाई के महत्त्व को एकदम भूल गये। फलक ७ को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगता है कि जब कि 'टीला ए-बी' में पहली आबादी का स्तर उच्छ्राय-रेखा ५५८.५ पर स्थित है, तो पास के 'टीला-एफ' में इसी आबादी का स्तर उच्छ्राय-रेखा ५१९.५ पर खड़ा है। दोनो पड़ोसी टीलो की पहली आबादियों के स्तरों में परस्पर प्रायः ४० फुट का अन्तर है। स्मरण रहे कि दोनों टीले कई स्तरों के भग्नावशेषो के मलबे से बने होने के कारण कृत्रिम बनावट के हैं। तात्पर्य यह निकला कि 'टीला ए-बी' की पहली आबादी के लोग जब ४० फुट ऊँची भूमि पर रह रहे थे तो उसी समय 'टीला-एफ' के इसी आबादी के लोग ४० फुट नीची जमीन पर घर बनाकर जीवन निर्वाह कर रहे थे। प्रचण्ड बाढ़ो के आतंक से यदि 'टीला ए-बी' मे पहली आबादी के स्तर को उच्छ्राय-रेखा ५५८.५ तक उठाने की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी थी तो 'टीला-एफ' के पहले स्तर के समकालीन लोग उच्छ्राय-रेखा ५१९.५, जो बाढ़ से बचने की सुरक्षा-रेखा से २५ फुट नीची है, पर कैसे रह रहे थे? इस विकट समस्या का समाधान किये बिना ही डाक्टर व्हीलर अपने काल-निर्णय पर पहुँच गये हैं।

इस समस्या का समाधान केवल एक ही है और वह यह कि, जब 'टीला ए-बी' में उच्छ्राय-रेखा ५४० पर दुर्ग-प्राकार की नींव रखी गयी तो 'टीला-एफ' उजाड़ हो चुका था और मनुष्य के निवास के अनुपयुक्त था क्योंकि इसमें उत्खात आठों स्तरों की इमारतें उच्छ्राय-रेखा ५४५ के नीचे स्थित होने के कारण विनाशकारी बाढ़ों की पहुँच मे थी, जैसा कि व्हीलर महोदय की खुदाई से स्पष्ट हो गया है। अतः सिद्ध हुआ कि समचा 'टीला-एफ' ही 'टीला ए-बी' के दुर्ग-[illegible] की अपेक्षा प्राचीनतर

चौथी सहस्राब्दी का मध्य बैठता है। अत अकेले केवल स्तर-रचना के आधार पर ही सिन्धु-सभ्यता के जीवन-काल का आरम्भ ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। इसका समर्थन मेसोपोटेमिया और ईरान के समकालीन खण्डहरो से उत्खात वस्तु-सामग्री से भी सम्भव है। इस सभ्यता के अन्तकाल की तिथि नियत करना कठिन है। तथापि सम्भावना की जा सकती है कि सिन्धु के काठे मे यह सभ्यता ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी के आरम्भ में नष्ट हो चुकी थी। इसका समर्थन उन सिन्धु-मुद्राओ से होता है जो मेसोपोटेमिया के प्राचीन टीलो मे सार्गान-काल के बाद के स्तरो से मिली है। अत पुरातत्व-सम्बन्धी प्रमाणो के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचना असगत नही कि सिन्धु-सभ्यता की आयु का अनुमानित काल मान ईसापूर्व ३५००-२००० होना चाहिये, न कि ईसापूर्व २५००-१५०० जैसा कि डाक्टर व्हीलर ने सिद्ध करने का प्रयास किया है।

नवीन उपलब्धियाँ—रगपुर और रोपड से जो वस्तुएँ मिली कला-दृष्टि से वे निकृष्ट कोटि की, प्रौढ सिन्धु-सभ्यता की अप्रतीक और वैयक्तिक विलक्षणताओ से हीन थी। इन स्थानो से जो मिट्टी के बर्तन खोदे गये उनमे हडप्पा की कुम्भकला का सौष्ठव नही था। उनमे अलगमनुमा महाकाय माट (फलक ४० स), गावदुम बडे मटके (फलक ४२ ट०), खुले मुँह के भारी नाँद (फलक ४० क), बेलन तथा अण्डे के आकार के बर्तन (फलक ४२ घ), तसले, लबोतरी कलसियाँ, गावदुम पेंदी के कसोरे आदि अदृश्य है। स्त्री-पुरुषो और पशु-पक्षियो की पार्थिव मूर्तियाँ (फलक ३६ और ४४), जो हडप्पा और मोहेंजो-दडो मे सैकडो की सख्या मे बरामद हुई थी, रगपुर और रोपड मे एकदम गायब है। पत्थर, फियास, हाथीदाँत, शख आदि द्रव्यो की बनी हुई असख्य अलकरण वस्तुएँ, जो सिन्धु की घाटी मे प्रचुरता से मिली, इन स्थानो में नाममात्र को भी नही पाई गईं। शकु और मण्डल के आकार के छोटे-बडे पदार्थ, जिन्हे लिंग और योनि के नाम से निर्दिष्ट किया गया है, भी यहाँ नही मिले। चित्राक्षरो वाली मुद्राएँ और मुद्राछापें जो सिंध के काठे मे हजारो की सख्या मे पाई गयी थी, रगपुर में बिलकुल नही मिली, और रोपड मे अब तक केवल एक ही खोदी गयी है। सोने, चाँदी, पत्थर, फियास, हाथीदाँत, शख आदि द्रव्यो के बने हुए भूषण भी इन स्थानो मे बहुत थोडे और निकृष्ट कोटि के मिले हैं। हडप्पा और मोहेंजो-दडो मे ताँबे और काँसे के शस्त्रोपकरणों और बर्तनों के समुदाय हस्तगत हुए थे, परन्तु रगपुर और रोपड मे ये वस्तुएँ बहुत थोडी मिली हैं और वे भी अधम कला की। और इन स्थानो में जो मिट्टी के चित्रित बर्तन उपलब्ध हुए उन पर हडप्पा और मोहेंजो-दडो की प्रौढ कला के प्रतीक अलकरण अभिप्राय सदोषत नहीं मिलते। इन अदृश्य अभिप्रायो मे 'टोकरा', 'टी'-आकार, उलझे हुए वृत्त, जाल, दो मुँहा कुल्हाडा आदि समा-

मोहेंजो-दड़ो नगर को भी सिन्धु-सभ्यता के लोगों ने प्रचण्ड बाढ़ों के आतंक से पीड़ित होकर ही छोड़ा था, न कि वैदिक आर्यों के प्रचण्ड आक्रमणों के कारण।

ईसापूर्व २५००-१५०० की तिथि, जो सिन्धु-सभ्यता के समस्त जीवन-काल के लिये अब व्यवहार में आ रही है, भी डाक्टर व्हीलर की पूर्वोक्त हड़प्पा-खुदाई पर ही आधारित है[1]। आश्चर्य की बात है कि अपनी खुदाई की स्तर-रचना का मूल्य आँकते समय डा० व्हीलर प्राक् १९४६ की खुदाई के महत्त्व को एकदम भूल गये। फाक ७ को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगता है कि जब कि 'टीला ए-बी' में पहली आबादी का स्तर उच्छ्राय-रेखा ५५८.५ पर स्थित है, तो पास के 'टीला-एफ' में इसी आबादी का स्तर अच्छ्राय-रेखा ५१९.५ पर खड़ा है। दोनों पड़ोसी टीलों की पहली आबादियों के स्तरों में परस्पर प्रायः ४० फुट का अन्तर है। स्मरण रहे कि दोनों टीले कई स्तरों के भग्नावशेषों के मलबे से बने होने के कारण कृत्रिम बनावट के हैं। तात्पर्य यह निकला कि 'टीला ए-बी' की पहली आबादी के लोग जब ४० फुट ऊँची भूमि पर रह रहे थे तो उसी समय 'टीला-एफ' के इसी आबादी के लोग ४० फुट नीची जमीन पर घर बनाकर जीवन निर्वाह कर रहे थे। प्रचण्ड बाढ़ों के आतंक से यदि 'टीला ए-बी' में पहली आबादी के स्तर को उच्छ्राय-रेखा ५५८.५ तक उठाने की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी थी तो 'टीला-एफ' के पहले स्तर के समकालीन लोग उच्छ्राय-रेखा ५१९.५, जो बाढ़ से बचने की सुरक्षा-रेखा से २५ फुट नीची है, पर कैसे रह रहे थे? इस विकट समस्या का समाधान किये बिना ही डाक्टर व्हीलर अपने काल-निर्णय पर पहुँच गये हैं।

इस समस्या का समाधान केवल एक ही है और वह यह कि, जब 'टीला ए-बी' में उच्छ्राय-रेखा ५४० पर दुर्ग-प्राकार की नींव रखी गयी तो 'टीला-एफ' उजाड़ हो चुका था और मनुष्य के निवास के अनुपयुक्त था क्योंकि इसमें उत्खात आठों स्तरों की इमारतें उच्छ्राय-रेखा ५४५ के नीचे स्थित होने के कारण विनाशकारी बाढ़ों की पहुँच में थी, जैसा कि व्हीलर महोदय की खुदाई से स्पष्ट हो गया है। अतः सिद्ध हुआ कि समूचा 'टीला-एफ' ही 'टीला ए-बी' के दुर्ग-प्राकार की अपेक्षा प्राचीनतर है, और 'टीला-एफ' में २५ फुट ऊँचा मलबे का भराव, जिसमें आठ स्तरों की आबादियाँ पाई गयी है, एक हजार वर्ष से कम काल की आयु का नहीं है।

अब यदि, जैसा कि डाक्टर व्हीलर का मत है, दुर्ग-प्राकार का निर्माण-काल ई० पू० २५०० था, तो 'टीला-एफ' की पहली आबादी की तिथि निर्विवाद ईसापूर्व

१. एन्शेंट इण्डिया, नं० ३, पृ० ८२।

चौथी सहस्राब्दी का मध्य बैठता है। अत अकेले केवल स्तर-रचना के आधार पर ही सिन्धु-सभ्यता के जीवन-काल का आरम्भ ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। इसका समर्थन मेसोपोटेमिया और ईरान के समकालीन खण्डहरो से उत्खात वस्तु-सामग्री से भी सम्भव है। इस सभ्यता के अन्तकाल की तिथि नियत करना कठिन है। तथापि सम्भावना की जा सकती है कि सिन्धु के काठे मे यह सभ्यता ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दी के आरम्भ में नष्ट हो चुकी थी। इसका समर्थन उन सिन्धु-मुद्राओ से होता है जो मेसोपोटेमिया के प्राचीन टीलो मे सार्गान-काल के बाद के स्तरो से मिली हैं। अत पुरातत्व-सम्बन्धी प्रमाणो के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचना असगत नही कि सिन्धु-सभ्यता की आयु या अनुमानित काल-मान ईसापूर्व ३५००-२००० होना चाहिये, न कि ईसापूर्व २५००-१५०० जैसा कि डाक्टर व्हीलर ने सिद्ध करने का प्रयास किया है।

नवीन उपलब्धियाँ—रगपुर और रोपड से जो वस्तुएँ मिली कला-दृष्टि से वे निकृष्ट कोटि की, प्रौढ सिन्धु-सभ्यता की अप्रतीक और वैयक्तिक विलक्षणताओ से हीन थी। इन स्थानो से जो मिट्टी के बर्तन खोदे गये उनमे हडप्पा की कुम्भकला का सौष्ठव नही था। उनमे शलगमनुमा महाकाय माट (फलक ४० ख), गावदुम बडे मटके (फलक ४२ ड०), खुले मुँह के भारी नाँद (फलक ४० क), बेलन तथा अण्डे के आकार के बर्तन (फलक ४२ घ), तसले, लबोतरी कलसियाँ, गावदुम पैंदी के कसोरे आदि अदृश्य हैं। स्त्री-पुरुषो और पशु-पक्षियो की पार्थिव मूर्तियाँ (फलक ३९ और ४४), जो हडप्पा और मोहेंजो दडो मे सैंकडो की सख्या मे बरामद हुई थी, रग-पुर और रोपड मे एकदम गायब है। पत्थर, फियास, हाथीदाँत, शख आदि द्रव्यो की बनी हुई असख्य अलकरण वस्तुएँ, जो सिन्धु की घाटी मे प्रचुरता से मिली, इन स्थानो में नाममात्र को भी नही पाई गईं। शकु और मण्डल के आकार के छोटे-बडे पदार्थ, जिन्हे लिग और योनि के नाम से निर्दिष्ट किया गया है, भी यहाँ नही मिले। चित्रा-क्षरी वाली मुद्राएँ और मुद्राछापें जो सिध के काठे मे हजारो की सख्या मे पाई गयी थी, रगपुर में बिलकुल नही मिलीं, और रोपड मे अब तक केवल एक ही खोदी गयी है। सोने, चाँदी, पत्थर, फियास, हाथीदाँत, शख आदि द्रव्यो के बने हुए भूषण भी इन स्थानो मे बहुत थोडे और निकृष्ट कोटि के मिले हैं। हडप्पा और मोहजो-दडो मे ताँबे और काँसे के शस्त्रोपकरणो और बर्तनो के समुदाय हस्तगत हुए थे, परन्तु रगपुर और रोपड मे ये वस्तुएँ बहुत थोडी मिली हैं और वे भी अधम कला की। और इन स्थानो में जो मिट्टी के चित्रित बर्तन उपलब्ध हुए उन पर हडप्पा और मोहेंजो-दडो की प्रौढ कला के प्रतीक अलकरण अभिप्राय अवेक्षित नही मिलते। इन अदृश्य अभि-प्रायो मे 'टोकरा', 'टी'-आकार, उलझे हुए वृत्त, जाल, दो मुँहा कुल्हाड़ा आदि समा-

विष्ट हैं। इसी प्रकार रंगपुर और रोपड़ की कुम्भकला पर शमी, केला, ताड़, मछली, मोर, बकरा आदि वनस्पति और पशुपक्षियों के प्राकृतिक अभिप्राय भी नहीं हैं।

पूर्वोक्त समालोचना से यह सिद्ध नहीं होता कि रंगपुर और रोपड़ के निवासी सिन्धु-सभ्यता की समस्त सांस्कृतिक विशिष्टताओं से सज्जित थे। सिन्धु-सभ्यता की अनुपलब्ध विशिष्टताओं की निर्दिष्ट सूची इस तथ्य का श्रद्धेय प्रमाण है। पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो साक्ष्य इन स्थानों की खुदाई से प्राप्त हुआ है स्पष्ट रूप से बतलाता है कि हड़प्पा-संस्कृति के सम्वाहक जो इन स्थानों में आकर आबाद हुए कई पीढ़ियों से सिन्धु-सभ्यता के केन्द्र-स्थानों (हड़प्पा-मोहेंजो-दड़ो) से सम्पर्क छोड़ बैठे थे और इस सभ्यता की उत्कृष्ट कला-शैलियों को प्रायः भूल चुके थे। इन्हें अपने धर्म और चित्र-लिपि का भी ज्ञान विस्मृत हो गया था। सिन्धु-युग के लोग पीपल और शमी वृक्षों को पूज्य मानते थे। रंगपुर और रोपड़ में कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला जो सिद्ध करता कि यहाँ के निवासी सिन्धु-संस्कृति के लोग अभी अपने प्राचीन धर्म के अनुयायी थे और सिन्धु-युग के देवताओं को पूजते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग अनपढ़ और अशिक्षित थे। रोपड़ में जो एक सिन्धु-मुद्रा मिली है वह आकस्मिक है और यह सिद्ध नहीं करती कि ग्राम लोग साक्षर अथवा व्यापारी थे।

सिन्धु-सभ्यता के पूर्वोक्त दो उपनिवेशों की संस्कृति का जो चित्र निर्माण किया जा सकता है उससे पता लगता है कि ओजस्वी सिन्धु-सभ्यता, जिसने सिन्धु नद की विशाल उपत्यका पर १५०० वर्ष आधिपत्य जमाया, अन्त में इन स्थानों में पहुँच कर किस प्रकार धीरे-धीरे क्षीण होकर प्रलय के गर्भ में समा गयी। ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध में जब सिन्धु-राज्य का पतन हुआ तो केन्द्र-नगरों के बहुत से लोग नये घरों की तलाश में भिन्न-भिन्न दिशाओं में बिखर गये थे। सम्भवतः पहले वे सिन्धु के काठे की सीमाओं पर आबाद हुए और समय के अतिक्रम के साथ आगे सरकते गये। मातृभूमि से वे जितना दूर होते गये अपनी मूल-संस्कृति के प्रभाव से उतना ही उनका सम्पर्क छूटता गया।

रंगपुर और रोपड़ की कला-कृतियाँ उस क्षीयमाण संस्कृति-धारा के टपकते हुए बिन्दुओं के समान हैं जिसके जीवनभूत पोषक स्रोत चिरकाल से सूख रहे थे। या यूँ कहिये कि ये उस उत्तम संस्कृति-दीपशिखा की छायामात्र थीं जिसकी प्राण-रूप तैलधारा अब विच्छिन्न हो रही थी। सिन्धु-सभ्यता जब अपनी जन्मभूमि में उत्सन्न हो गयी तो रोपड़ और रंगपुर में उत्खात अवनत दशा तक पहुँचने के लिये इसे कुछ शताब्दियों का समय अवश्य लगा होगा। साधारणतः किसी संस्कृति की उत्कृष्ट विशिष्टताओं को अशेषतः भूलने के लिये उतना ही समय आवश्यक है जितना उन्हें सीखने और उन्नत करने के लिए। उत्खाताओं के विचार के अनुसार रंगपुर और

रोपड मे उद्घाटित हडप्पा-सस्कृति का रूप ईसापूर्व २०००-१५०० वर्ष की सीमा के अन्दर पडता है।

पुरातत्त्व की दृष्टि से रगपुर और रोपड के प्रागैतिहासिक खण्डहरो का अपना वैयक्तिक महत्त्व है। जो उपलब्धियाँ इन स्थानो में हुईं वे भारत के अन्धकाल पर प्रकाश की धीमी-सी किरण डालती हैं। उनसे पता लगता है कि सिन्धु-सभ्यता के पतन (ई० पू० २०००) तथा ईसापूर्व छठी शताब्दी के मध्यवर्ती काल मे प्राय पाँच सौ वर्ष (ई० पू० ११००-६००) तक एक अज्ञात जाति के लोग गगा और सतलुज की उच्च अधित्यकाओ तथा आस-पास के क्षेत्रो मे निवास करते थे[1]।

'चित्रित सलेटी कुम्भकला'—रोपड के खण्डहर की खुदाई मे सिन्धु-सभ्यता और 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' की सस्कृति के बीच जो लम्बा व्यवधान है वह पुरातत्ववेत्ता के लिये एक समस्या है। यदि 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता वैदिक आर्य थे, तो इस स्थान पर इनके साथ सिन्धु सभ्यता के लोगो के सम्पर्क का अवश्य प्रमाण मिलना चाहिए था क्योकि यह स्थान गगा के रम्य और समृद्ध मैदान मे प्रवेश करने का द्वार था। वैदिक आर्यो के आने के पहले यह क्षेत्र सिन्धु सस्कृति के लोगो के अधिकार मे था जिनके सम्बन्ध मे साधारण धारणा है कि वे भारत की मूल जातियो मे से एक थे।

प्राचीन साहित्य के उल्लेखो से पता लगता है कि भारत की मूलजातियो को पराजित करने तथा उन्हे अपने वश मे लाने के लिए आर्य जाति को चिरकाल तक कठोर सघर्ष करना पडा था। रोपड मे जो साक्ष्य प्रकाश मे आया है उससे यह सघर्ष सिद्ध नहीं होता। अत अनुसधाताओं को ऐसे प्राचीन स्थानो की खोज करनी चाहिए जहाँ इस सघर्ष के प्रमाण दृष्टिगोचर हो। जब तक यह खोज सफल नही होती यह सिद्ध करने की चेष्टा करना कि 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता वैदिक आर्य थे, निरर्थक है।

---

१ इण्डियन आर्क्यालोजी, १९५४-५५, पृ० ९-१३।

फलक ४८. हस्तिनापुर के प्राचीन टीलों में से एक

२०
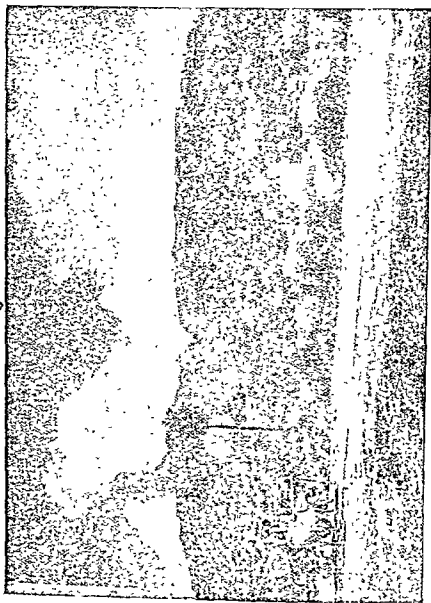
हस्तिनापुर के खण्डहर और महाभारत-काल[1]

हस्तिनापुर के प्राचीन खण्डहर उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत मेरठ जिले की मवाना तहसील मे गगा के सूखे पाट (बुडगगा) पर स्थित हैं (फलक ४८)। लोगो का साधारण विश्वास है कि ये टीले महाभारत-कालीन हस्तिनापुर के अवशेष है। इस समय गगा यहाँ से पाँच मील दूर पूर्व की दिशा मे बहती है। नदी की वर्तमान धारा का मनोरम विहग-दृश्य इन टीलो की चोटी पर से लिया जा सकता है। कुछ वर्ष हुए भारत-पुरातत्त्व-विभाग, एक्सकेवेशन ब्रांच, के अध्यक्ष श्री बी० बी० लाल ने वैज्ञानिक विधि से इन टीलों का खनन कराया था। इस खुदाई का सक्षिप्त विवरण सर्वप्रथम २ अक्तूबर, १९५२ की 'इलस्ट्रेटेड लण्डन न्यूज़' मे और अनन्तर २७ फरवरी, १९५५ को 'हिन्दुस्तान टाइम्स' मे प्रकाशित हुआ था[2]।

पाँच आबादियाँ—हस्तिनापुर के टीले की खुदाई मे उत्तरोत्तर पाँच काल की आबादियो के अवशेष पाये गये थे (फलक ४९)। आबादियो के मध्य में जो अन्तर हैं वे उस काल के हैं जब यह स्थान उजाड पडा रहा। अन्तिम तीन काल की आबादियो की तिथियो का पता अपने अपने काल के स्तरो से उपलब्ध सिक्को से लगता है जिनके विषय मे किसी प्रकार की शका नही हो सकती। तीसरे काल की आबादी की तिथि ईसापूर्व छठी शताब्दी थी जिसमे गौतम बुद्ध और कौशाम्बी-नरेश उदयन एक दूसरे के समकालीन थे। इस स्तर के नीचे उस काल (काल २) का आरम्भ होता है जिसे भारत के इतिहास मे 'अन्ध-काल' का नाम दिया गया है। इसमे प्रवेश करते समय पुरातत्त्वज्ञ को विशेषत सचेत रहना चाहिए। कोरी कल्पना का आश्रय न लेकर ठोस प्रमाणो के आधार पर ही सत्य का निर्धारण करना पुरातत्त्व की वृद्धि के लिये श्रेयस्कर है।

'काल २' की आबादी का महत्त्व—हस्तिनापुर खण्डहर के जीवन मे जो पाँच काल मिले हैं उन सब मे महत्त्वपूर्ण 'काल २' है, क्योंकि इस काल का स्तर प्रागैति-

---

१. इस लेख का अग्रेजी रूपान्तर पहले २८ अगस्त, १९५५, को हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड मे प्रकाशित हुआ था।

२ हस्तिनापुर की खुदाई का विस्तृत विवरण 'एन्शेंट इण्डिया' न० १० और ११ मे अब प्रकाशित हो चुका है।
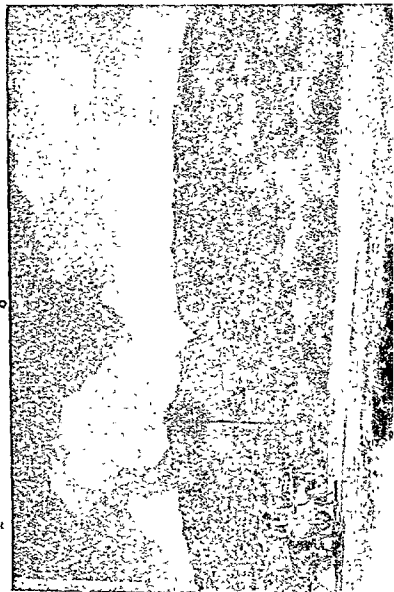
हासिक और ऐतिहासिक युगों को परस्पर मिलाने में सेतु का काम देता है। सात फुट ऊँचे इस काल के स्तर और 'काल १' के स्तर के बीच १ फुट ऊँची मलबे की तह उस समय की प्रतीक है जब 'काल १' की आबादी के अनन्तर यह स्थान पहली बार उजाड हो गया। 'काल २' की आबादी के ७ फुट ऊँचे भराव में उत्खाता को 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के खण्ड (फलक ५०, क-ङ), ताँबे के तीरों के फल, नहेरने और दाँतियाँ, काँच के कगण, मिट्टी के खिलौने, हड्डी की सलाखें आदि मिले थे। भग्नावशेषों में कीच से लिपे हुए कच्चे कोठे थे। इस काल की आबादी का अन्त एक विनाशकारी बाढ के कारण हुआ जिसने नगर के बहुत बडे भाग को नष्ट कर दिया। टीलों की स्तर-रचना के आधार पर उत्खाता महोदय इस निर्णय पर पहुँचे कि (१) 'काल २' की खुदाई में उपलब्ध 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता वैदिक आर्य थे जो इस स्थान पर ईसापूर्व ११०० से ८०० तक आबाद रहे, और (२) ये टीले महाभारत कालीन हस्तिनापुर के खण्डहर हैं[1]।

उत्खाता का अनुमान है कि 'काल २' के स्तर की आबादी ३०० वर्ष (११००-८०० ई० पू०) जीवित रही। इसका आरम्भ ई० पू० ११०० के लगभग और अन्त ई० पू० ८०० के करीब गगा में प्रचड बाढ के कारण हुआ[2]। उनके मत में 'काल ३' की आबादी की आयु भी ३०० वर्ष ही थी, अर्थात् इसका आरम्भ ई० पू० ६०० में और अन्त ई० पू० ३०० के आस-पास हुआ।

फलक ४७ में दी हुई टीले की स्तर-रचना की पडताल से पता लगता है कि उत्खाता ने स्तर-रचना का मूल्य ठीक-ठीक नहीं आका। पुराणों में दिए हुए वर्णन के अनुसार गगा में प्रचड बाढ राजा निचक्षु के समय आई थी। निचक्षु कौशाम्बी-नरेश उदयन से अठारह पीढी पहले हो चुका था। उदयन से निचक्षु तक अठारह राजाओं में से हर एक राजा के शासन-काल को पार्जीटर के अनुसार १८ वर्ष का काल देकर उत्खाता महोदय इस निर्णय पर पहुँचे है कि यह बाढ ई० पू० ८०० (१८×१८+४८३ बुद्ध के निर्वाण की तिथि) के पीछे की घटना नहीं हो सकती थी[3]।

'काल २' के आरम्भ और अन्त की तिथियों के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"यदि हम ई० पू० ८०० वाली प्रचड बाढ को 'काल २' की आबादी का अन्त मान लें तो इस काल के सात फुट ऊँचे स्तर की सारी आयु की इयत्ता नियत करना

---

१. एन्शेंट इडिया, न० १० और ११।

२ एन्शेंट इडिया, न० १० और ११, पृष्ठ २३-२४।

३ लाल, बी० बी०—"हस्तिनापुर एक्सकेवेशन्स एण्ड दि आर्यन प्राब्लेम" २७ फरवरी, १९५५ के हिन्दुस्तान टाइम्स में प्रकाशित।

फलक ४६. हस्तिनापुर के खण्डहर की स्तर-रचना का दृश्य

हासिक और ऐतिहासिक युगो को परस्पर मिलाने मे सेतु का काम देता है। सात फुट ऊँचे इस काल के स्तर और 'काल १' के स्तर के बीच १ फुट ऊँची मलवे की तह उस समय की प्रतीक है जब 'काल १' की आबादी के अनन्तर यह स्थान पहली बार उजाड हो गया। 'काल २' की आबादी के ७ फुट ऊँचे भराव मे उत्खाता को 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के खण्ड (फलक ५०, क-ड), तांबे के तीरो के फल, नहेरने और दांतियां, कांच के कगए, मिट्टी के खिलौने, हड्डी की सलाखें आदि मिले थे। भग्नावशेषो मे कीच से लिपे हुए कच्चे कोठे थे। इस काल की आबादी का अन्त एक विनाशकारी बाढ के कारण हुआ जिसने नगर के बहुत बडे भाग को नष्ट कर दिया। टीलो की स्तर-रचना के आधार पर उत्खाता महोदय इस निर्णय पर पहुँचे कि (१) 'काल २' की खुदाई मे उपलब्ध 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता वैदिक आर्य थे जो इस स्थान पर ईसापूर्व ११०० से ८०० तक आबाद रहे, और (२) ये टीले महाभारत कालीन हस्तिनापुर के खण्डहर हैं[1]।

उत्खाता का अनुमान है कि 'काल २' के स्तर की आबादी ३०० वर्ष (११००-८०० ई० पू०) जीवित रही। इसका आरम्भ ई० पू० ११०० के लगभग और अन्त ई० पू० ८०० के करीब गगा मे प्रचड बाढ के कारण हुआ[2]। उनके मत मे 'काल ३' की आबादी की आयु भी ३०० वर्ष ही थी, अर्थात् इसका आरम्भ ई० पू० ६०० मे और अन्त ई० पू० ३०० के आस-पास हुआ।

फलक ४७ मे दी हुई टीले की स्तर-रचना की पडताल से पता लगता है कि उत्खाता ने स्तर-रचना का मूल्य ठीक-ठीक नही आका। पुराणो मे दिए हुए वर्णन के अनुसार गगा मे प्रचड बाढ राजा निचक्षु के समय आई थी। निचक्षु कौशाम्बी-नरेश उदयन से अठारह पीढी पहले हो चुका था। उदयन से निचक्षु तक अठारह राजाओ मे से हर एक राजा के शासन-काल को पार्जीटर के अनुसार १८ वर्ष का काल देकर उत्खाता महोदय इस निर्णय पर पहुँचे है कि यह बाढ ई० पू० ८०० (१८×१८+४८३ बुद्ध के निर्वाण की तिथि) के पीछे की घटना नही हो सकती थी[3]।

'काल २' के आरम्भ और अन्त की तिथियो के सम्बन्ध मे वे लिखते हैं— "यदि हम ई० पू० ८०० वाली प्रचड बाढ को 'काल २' की आबादी का अन्त मान लें तो इस काल के सात फुट ऊँचे स्तर की सारी आयु की इयत्ता नियत करना

---

१. एन्शेंट इडिया, न० १० और ११।

२ एन्शेंट इडिया, न० १० और ११, पृष्ठ २३-२४।

३ लाल, बी० बी०—"हस्तिनापुर एक्सकेवेशन्स एण्ड दि आर्यन प्राब्लेम" २७ फरवरी, १९५५ के हिन्दुस्तान टाइम्स मे प्रकाशित।

असम्भव नही। इस खण्डहर के प्रसग में सात फुट ऊँचे मलवे के भराव के लिए तीन सौ वर्ष का अनुमान उचित ही होगा। इसलिए 'काल २' की सबसे नीचे की तह के लिए ई० पू० ११०० की तिथि नियत करना असगत नही है[1]।"

'काल-२' की आयु—यद्यपि 'काल २' की आबादी के स्तर मे ऐसी कोई लेखांकित वस्तु नही मिली जिससे इसकी आयु निर्विवाद सिद्ध हो सकती, तथापि इसे केवल कोरे अनुमान पर ही नही छोड देना चाहिये। प्रमाणो के आधार पर स्थूलमान से इसकी इयत्ता का निर्णय करना सम्भव है। पुराणो तथा महाभारत मे स्पष्ट उल्लेख है कि हस्तिनापुर नगर की नीव डालने वाला राजा हस्तिन् था। पार्जीटर महोदय की राजवशावलियो के अनुसार यह राजा चन्द्रवश की पौरव-शाखा मे अभिमन्यु का ४५वाँ पूर्वज था[2]। निचक्षु अभिमन्यु से छ पीढी और नीचे था। इस गणना के अनुसार निचक्षु और राजा हस्तिन् के बीच ५० पीढियो का अन्तर पड जाता है। पुराणो मे यह भी लिखा है कि पुरुवशी राजाओ की पुरानी राजधानी प्रयाग के पास प्रतिष्ठान नगर था जिसे राजा दुष्यन्त अथवा उसके पुत्र भरत ने त्याग दिया था और उसकी बजाय हस्तिनापुर के स्थान पर नयी राजधानी की स्थापना की थी। भरत राजा हस्तिन् का पाँचवाँ पूर्वज था[3]। इसलिए यह मान लेना युक्तिसगत होगा कि वह स्थान जहाँ इस समय हस्तिनापुर के खण्डहर खडे हैं राजा भरत से लेकर निचक्षु तक लगातार पचपन पीढियाँ पुरुवशी राजाओ की राजधानी रहा। अब यदि पूर्वोक्त क्रमानुसार पचपन पीढी राजाओ मे से हरएक को १८ वर्ष का शासन काल दें तो पचपन राजाओ का सयुक्त कालमान ९९० (५५×१८), अर्थात् एक हजार वर्ष के लगभग बैठना है। अत हस्तिनापुर के खण्डहर मे उत्खात 'काल २' के स्तर की आयु का मान यही होना न्याय्य है। यदि इस काल के लिए १००० वर्ष की सख्या निर्दोष है तो इससे हस्तिनापुर के टीलो की स्तर-रचना के सम्बन्ध मे पुरातत्त्व-विभाग द्वारा निर्णीत ३०० (११००-८०० ई० पू०) वर्ष के काल-मान को दारुण आघात पहुँचता है। इससे न केवल 'काल २' की तिथि ई० पू० १८०० वर्ष तक और उसके पूर्ववर्ती 'काल १' की तिथि ई० पू० २००० तक पीछे सरक जाती है, अपितु परवर्ती तीन कालो (३-५) की तिथियों में भी गडबड मच जाती है। ऐसी विकट स्थिति मे प्रश्न पैदा होता है कि क्या यह खण्डहर जहाँ भारत-

---

१ लाल, बी० बी०—"हस्तिनापुर एक्सकेवेशन्स एण्ड दि आर्यन प्राब्लेम" २७ फरवरी, १९५५, के हिन्दुस्तान टाइम्स मे प्रकाशित।

२ पार्जीटर, एफ० ई०—एन्शेंट इडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृष्ठ १४६-१४९।

३ पार्जीटर, एफ० ई०—एन्शेंट इडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृष्ठ २७३।

1 2 3

4 5 6 7

8 9 10 11

12

13

14

फलक ५०. चित्रित सलेटी कुम्भकला पर अलंकरण अभिप्राय

असम्भव नहीं । इस खण्डहर के प्रसग में सात फुट ऊँचे मलवे के भराव के लिए तीन सौ वर्ष का अनुमान उचित ही होगा । इसलिए 'काल २' की सबसे नीचे की तह के लिए ई० पू० ११०० की तिथि नियत करना असगत नही है[1] ।"

'काल-२' की आयु—यद्यपि 'काल २' की आबादी के स्तर मे ऐसी कोई लेखांकित वस्तु नही मिली जिससे इसकी आयु निर्विवाद सिद्ध हो सकती, तथापि इसे केवल कोरे अनुमान पर ही नही छोड देना चाहिये । प्रमाणो के आधार पर स्थूलमान से इसकी इयत्ता का निर्णय करना सम्भव है । पुराणो तथा महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि हस्तिनापुर नगर की नीव डालने वाला राजा हस्तिन् था । पार्जीटर महोदय की राजवशावलियो के अनुसार यह राजा चन्द्रवश की पौरव शाखा मे अभिमन्यु का ४५वाँ पूर्वज था[2] । निचक्षु अभिमन्यु से छ पीढी और नीचे था । इस गणना के अनुसार निचक्षु और राजा हस्तिन् के बीच ५० पीढियो का अन्तर पड जाता है । पुराणो मे यह भी लिखा है कि पुरुवशी राजाओ की पुरानी राजधानी प्रयाग के पास प्रतिष्ठान नगर था जिसे राजा दुष्यन्त अथवा उसके पुत्र भरत ने त्याग दिया था और उसकी बजाय हस्तिनापुर के स्थान पर नयी राजधानी की स्थापना की थी । भरत राजा हस्तिन् का पाँचवाँ पूर्वज था[3] । इसलिए यह मान लेना युक्तिसगत होगा कि वह स्थान जहाँ इस समय हस्तिनापुर के खण्डहर खडे है राजा भरत से लेकर निचक्षु तक लगातार पचपन पीढियाँ पुरुवशी राजाओ की राजधानी रहा । अब यदि पूर्वोक्त क्रमानुसार पचपन पीढी राजाओ मे से हरएक को १८ वर्ष का शासन काल दें तो पचपन राजाओ का सयुक्त कालमान ९९० (५५ × १८), अर्थात् एक हजार वर्ष के लगभग बैठता है । अत हस्तिनापुर के खण्डहर में उत्खात 'काल २' के स्तर की आयु का मान यही होना न्याय्य है । यदि इस काल के लिए १००० वर्ष की सख्या निर्दोष है तो इससे हस्तिनापुर के टीलो की स्तर-रचना के सम्बन्ध मे पुरातत्त्व-विभाग द्वारा निर्णीत ३०० (११००-८०० ई० पू०) वर्ष के कालमान को दारुण आघात पहुँचता है । इससे न केवल 'काल २' की तिथि ई० पू० १८०० वर्ष तक और उसके पूर्ववर्ती 'काल १' की तिथि ई० पू० २००० तक पीछे सरक जाती है, अपितु परवर्ती तीन कालो (३-५) की तिथियो मे भी गडबड मच जाती है । ऐसी विकट स्थिति मे प्रश्न पैदा होता है कि क्या यह खण्डहर जहाँ भारत-

---

१ लाल, बी० बी०—"हस्तिनापुर एक्सकेवेशन्स एण्ड दि आर्यन प्राब्लेम" २७ फरवरी, १९५५, के हिन्दुस्तान टाइम्स मे प्रकाशित ।

२ पार्जीटर, एफ० ई०—एन्शेंट इडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृष्ठ १४६-१४९ ।

३ पार्जीटर, एफ० ई०—एन्शेंट इडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृष्ठ २७३ ।

I 2 3

4 5 6 7

8 9 10 11

फलक ५०. चित्रित सलेटी कुम्भकला पर अलंकरण अभिप्राय

असम्भव नही। इस खण्डहर के प्रसग में सात फुट ऊँचे मलबे के भराव के लिए तीन सौ वर्ष का अनुमान उचित ही होगा। इसलिए 'काल २' की सबसे नीचे की तह के लिए ई० पू० ११०० की तिथि नियत करना असगत नही है[1]।"

'काल-२' की आयु—यद्यपि 'काल-२' की आबादी के स्तर मे ऐसी कोई लेखाकित वस्तु नही मिली जिससे इसकी आयु निर्विवाद सिद्ध हो सकती, तथापि इसे केवल कोरे अनुमान पर ही नही छोड देना चाहिये। प्रमाणो के आधार पर स्थूलमान से इसकी इयत्ता का निर्णय करना सम्भव है। पुराणो तथा महाभारत मे स्पष्ट उल्लेख है कि हस्तिनापुर नगर की नीव डालने वाला राजा हस्तिन् था। पार्जीटर महोदय की राजवशावलियो के अनुसार यह राजा चन्द्रवश की पौरव शाखा मे अभिमन्यु का ४५वां पूर्वज था[2]। निचक्षु अभिमन्यु से छ पीढी और नीचे था। इस गणना के अनुसार निचक्षु और राजा हस्तिन् के बीच ५० पीढियो का अन्तर पड जाता है। पुराणो मे यह भी लिखा है कि पुरुवशी राजाओ की पुरानी राजधानी प्रयाग के पास प्रतिष्ठान नगर था जिसे राजा दुष्यन्त अथवा उसके पुत्र भरत ने त्याग दिया था और उसकी बजाय हस्तिनापुर के स्थान पर नयी राजधानी की स्थापना की थी। भरत राजा हस्तिन् का पाँचवां पूर्वज था[3]। इसलिए यह मान लेना युक्तिसगत होगा कि वह स्थान जहाँ इस समय हस्तिनापुर के खण्डहर खडे है राजा भरत से लेकर निचक्षु तक लगातार पचपन पीढियाँ पुरुवशी राजाओ की राजधानी रहा। अब यदि पूर्वोक्त क्रमानुसार पचपन पीढी राजाओ मे से हरएक को १८ वर्ष का शासन काल दें तो पचपन राजाओ का सयुक्त कालमान ९९० (५५×१८), अर्थात् एक हजार वर्ष के लगभग बैठना है। अत हस्तिनापुर के खण्डहर मे उत्खात 'काल २' के स्तर की आयु का मान यही होना न्याय्य है। यदि इस काल के लिए १००० वर्ष की सख्या निर्दोष है तो इससे हस्तिनापुर के टीलो की स्तर-रचना के सम्बन्ध मे पुरातत्त्व-विभाग द्वारा निर्णीत ३०० (११००-८०० ई० पू०) वर्ष के काल-मान को दारुण आघात पहुँचता है। इससे न केवल 'काल २' की तिथि ई० पू० १८०० वर्ष तक और उसके पूर्ववर्ती 'काल १' की तिथि ई० पू० २००० तक पीछे सरक जाती है, अपितु परवर्ती तीन कालो (३-५) की तिथियो मे भी गडबड मच जाती है। ऐसी विकट स्थिति मे प्रश्न पैदा होता है कि क्या यह खण्डहर जहाँ भारत-

---

१ लाल, बी० बी०—"हस्तिनापुर एक्सकेवेशन्स एण्ड दि आर्यन प्राब्लेम" २७ फरवरी, १९५५, के हिन्दुस्तान टाइम्स मे प्रकाशित।

२ पार्जीटर, एफ० ई०—एन्शेंट इडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृष्ठ १४६-१४९।

३ पार्जीटर, एफ० ई०—एन्शेंट इडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृष्ठ २७३।

पुरातत्व विभाग ने खुदाई कराई है, वस्तुतः राजा हस्तिन् का बसाया हुआ महाभारत-कालीन हस्तिनापुर है अथवा कोई दूसरा ? । यदि यह हस्तिन् का बसाया हस्तिनापुर नही है तो हमें इस खंडहर के सम्बन्ध मे निचक्षु या महाभारत-युद्ध की चर्चा करने का कोई अधिकार नही, और यदि यह वही हस्तिनापुर है तो स्तर-रचना के विषय में जो ऊपर विरोध दिखलाया गया है उसका परिहार करना नितान्त आवश्यक है।

भौतिक प्रमाण—जहां तक युक्ति और तर्क का प्रश्न है प्रतीत होता है कि ये खंडहर महाभारत-कालीन हस्तिनापुर के ध्वस नही है । इस विषय में एक कारण तो ऊपर उपस्थित किया गया है। दूसरा यह है कि 'काल-२' के स्तर की खुदाई में भौतिक-सम्पत्ति का जो प्रमाण मिला है वह अत्यन्त निराशाजनक है। क्या पचपन पीढ़ियों के प्रतापी पुरुवंशी राजा, जिनमें कई चक्रवर्ती थे, घास-फूस की झोंपड़ियों में निवास करते थे, और क्या वे सोने-चांदी के बहुमूल्य बर्तनों की बजाय 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के अति निकृष्ट बर्तनों का ही प्रयोग करते रहे ? । 'काल-२' के स्तर की आबादी मे उद्घाटित संस्कृति का जो रूप हमारे सामने आता है वह नितान्त निम्न-कोटि का और मनुष्य की असभ्य-दशा का परिचायक है। यह महाभारत-कालीन सामाजिक-दशा का चित्र नहीं हो सकता। यद्यपि हस्तिनापुर मे खुदाई थोड़े ही क्षेत्र में सीमित रही, तथापि इस संक्षिप्त खनन में भी टीलों की स्तर-रचना और विविध कालों की संस्कृति की पर्याप्त झलक मिल गई है।

महाभारत काल में लोहे का ज्ञान—इस खंडहर के महाभारत-कालीन न होने का तीसरा प्रमाण यह है कि 'काल-२' की आबादी में केवल ताम्र-युग की संस्कृति के ही लक्षण मिले हैं। लोहे की एक भी वस्तु नही मिली। ऋग्वेद मे जिस धात का उल्लेख है वह 'अयस्' है[1] जिसका अर्थ तांबा अथवा लोहा, या दोनों हो सकते है। परन्तु उत्तरकाल मे पूर्वोक्त दोनों धातों का ज्ञान हो चुका था क्योंकि अथर्ववेद में 'लोहितायस्' और 'कृष्णायस्' का स्पष्ट वर्णन है। यह भी निर्विवाद है कि महाभारत का युद्ध ऋग्वैदिक-काल में नही हुआ था, क्योंकि ऋग्वेद में इस युद्ध की चर्चा तक नहीं है। 'भारत' और 'महाभारत' का प्रथम उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र मे मिलता है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र में कौरवों के विनाशकारी युद्ध का वर्णन है। पाणिनि के समय मे तो महाभारत के नायक उपदेवताओं की पदवी पा चुके थे[2]। महाभारत में लोहे के शस्त्रास्त्रो का अनेक बार वर्णन आता है। इनमें बाणाग्र, गदा, भाला, बर्छा, कुल्हाड़ा, त्रिशूल, तलवार, बाघनख (नखर) आदि समाविष्ट थे। शस्त्रास्त्रो के वर्णन-

---

१. केम्ब्रिज हिस्टरी आफ् इंडिया, ग्रं० १, पृष्ठ १३०।
२. मजुमदार, आर० सी०—वैदिक एज, पृष्ठ ३०३।

प्रसग मे उनके साथ सर्व-पारशव, सर्वायस वज्रायस, शंक्वायस और आयस आदि विशेषणो का प्रयोग स्पष्ट बतलाता है कि वे खालिस लोहे या फौलाद के बनाये जाते थे। आश्चर्य की बात है कि हस्तिनापुर की खुदाई मे 'काल २' के स्तर मे लोहे का एक भी शस्त्र अथवा उपकरण नही मिला।

चित्रित सलेटी कुम्भकला—भारत-पुरातत्त्व विभाग के विशेषज्ञो ने 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को वैदिक आर्यों की कृति बतलाया है। उनका कथन है कि इसी शैली के ठीकरे गगा-सतलुज की उन्नत वादियो म स्थित ४० टीलो तथा घग्गर (प्राचीन सरस्वती) की उपत्यका मे स्थित बीस अन्य खडहरो मे पाये गय हैं (फलक ५०, च-ड)[1]। जब तक पुरातत्त्व विभाग की विस्तृत रिपोर्ट नही छपती पूर्वोक्त साठ स्थानो से प्राप्त इस कुम्भकला के खडो की हस्तिनापुर की कुम्भकला से तुलना करना सम्भव नही। उत्तर-प्रदेश के अहिच्छात्रा टीले के अन्दर 'स्तर-९' में जो सलेटी रग के कुम्भखड मिले वे चित्रहीन थे और 'काली घृष्ट-कुम्भकला' के साथ मिश्रित पाये गये थे[2]। सम्भव है कि भिन्न भिन्न स्थानो से प्राप्त 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के ठीकरो मे वैयक्तिक भेद हो। इसलिये जब तक प्रत्येक स्थान से प्राप्त इस कुम्भकला के उदाहरण सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा नहीं किये जाते उनसे किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालना असामयिक होगा। हस्तिनापुर की चित्रित सलेटी कुम्भकला' पर जो अलकरण अभिप्राय मिले हैं उनमे 'सिग्मा चिन्ह', समानकेन्द्र वृत्त, लहरिया आदि (फलक ५०, क-ड) समाविष्ट हैं। अन्य स्थानो से प्राप्त इसी काल तथा शैली की कुम्भकला पर भी प्राय ऐसे ही अभिप्रायो का होना आवश्यक है।

विदेशीय कला साद्दश्य—हस्तिनापुर के उत्खाता श्री बी० बी० लाल ने थेसली, लिक उर्मिया (ईरान) और सीस्तान से उपलब्ध चित्रित सलेटी कुम्भकला के साक्ष्य का जो प्रमाण दिया है वह अस्पष्ट और अधूरा है। जब तक पूर्वोक्त स्थानो से प्राप्त इस शैली के प्रत्येक कुम्भखड के प्राप्ति-स्थान, साहचर्य और तिथि का हमे पूरा परिचय नही मिलता इस साक्ष्य पर निर्भर होना भयावह है। सलेटी रग की कुम्भकला, चित्रित और चित्रहीन, भारत तथा अन्य देशो मे भिन्न भिन्न साहचर्य और प्रसग मे पाई गई है। प्रत्येक वर्ग के ठीकरे अपने काल और साहचर्य की पृष्ठभूमि मे परिशीलन करने योग्य है। थेसली, ईरान और सीस्तान की इस शैली की कुम्भकलाओ का इडो-यूरोपियन जातियो की सामूहिक हलचलो से बहुत कम सम्बन्ध है। 'घण्टाकार-

---

१ घोष, अमलानन्द—दि राजस्थान डेजर्ट—इट्स आर्क्योलाजीकल एस्पेक्ट, पष्ठ ३८-४२ और एन्शेंट इडिया न० १०-११, पृष्ठ १-२।

२ एन्शेंट इडिया न० १, पृष्ठ ४०।

कलसियाँ', 'मृतक का अग्निदाह', 'गेरुवर्ण-कब्रें' और 'घोड़ा' इन तत्वों को भिन्न-भिन्न पुरातत्वज्ञों ने इंडो-यूरोपियन जातियों की सामूहिक हलचलों से सम्बद्ध किया है, परन्तु 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को किसी ने भी नहीं किया[1]। इस 'कुम्भकला का आर्य-जाति के साथ सम्बन्ध अभी सिद्ध करना शेष है। दूसरी बात यह है कि 'इंडो-यूरोपियन' जाति यूनान में ईसापूर्व १२वीं शती में प्रविष्ट हुई थी। प्रवेश के अनन्तर इसने वहाँ मिनोयन-प्रभव की माइसीनियन संस्कृति को निर्मूल कर दिया था[2]। अतः सलेटी कुम्भखड जो थेसली में मिले ई० पू० बारहवीं शती से पहले के नहीं हो सकते। ऐसी दशा में यह कल्पना करना असम्भव है कि वह 'इंडो-यूरोपियन' आर्यजाति जो १२वीं शती ईसापूर्व यूनान में पहुँची उसी शती में भारत में प्राचीन सरस्वती की वादी में भी आ प्रकट हुई। स्मरण रहे कि उत्तरी भारत मे आर्य जाति के उपनिवेश इस तिथि के कई शताब्दियाँ पहले बन चुके थे।

'बोगाज़-क्यु' का लेख—लघु एशिया के 'बोगाज़-क्यु' नाम प्राचीन खण्डहर में खत्ती (हिट्टाइट) और मितानियन आर्य राजवंशों के बीच निष्पन्न एक अहदनामे का लेख मिला था। हस्तिनापुर में 'काल-२' के स्तर मे उत्खात 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को वैदिक आर्यों की कृति सिद्ध करने के प्रयत्न में श्री लाल ने 'बोगाज़-क्यु' के पूर्वोक्त लेख का जो साक्ष्य उपस्थित किया है वह भी अकिञ्चित्कर है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मितानियन आर्य लोग, जो चौदहवीं शती ईसापूर्व मेसोपोटेमिया मे शासन करते थे, भारत की ओर बढ़ते हुए इण्डो-यूरोपियन आर्य दल का अग्रगामी जत्था था। यदि हम इस मत को स्वीकार करें तो बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। पहली कठिनाई यह है कि यह मत उस सर्वसम्मत सिद्धान्त का विरोधी है जिसके अनुसार वैदिक आर्य उत्तरी भारत में ईसापूर्व १५०० के लगभग प्रविष्ट हुए थे। ऋग्वेद में दाशराज्ञ युद्ध का समकालीन घटना के रूप मे वर्णन इस सिद्धान्त का अच्छा समर्थन करता है और पुराणों में दी हुई वंशावलियों से भी इसे पुष्टि मिलती है[3]। दूसरी कठिनाई यह है कि मितानियन आर्य लोग 'इण्डो-यूरोपियन' आर्य-जाति के 'शतम्-भाषी' प्राच्य दल के थे, न कि 'केंटम्-भाषी' प्रतीच्य-दल के[4]। इसका अर्थ यह निकला कि वे या तो 'इण्डो-यूरोपियन' जाति की पूर्वी शाखा का जत्था था जो

---

१. चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृष्ठ १४३-१४८, १७६-१८३।
२. मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृष्ठ २०८।
३. मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृ० ३०७।
४. चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृ० ७१-७२।

किसी समय ईरान पहुँचने के पहले ही उससे बिछड़ गया था[1], अथवा अति प्राचीन काल में भारत से निर्वासित आयुधजीवी किसी क्षत्रिय जाति के लोग थे[2]। यदि पहले मत को मानें तो मितानियन लोग प्राच्य 'इण्डो-यूरोपियन' दल से उस समय बिछड़े होंगे जब इस दल का 'इंडो-यूरोपियन' और 'इण्डो-आर्यन' प्रशाखाओं में विभाजन अभी अस्तित्व में नहीं आया था। इस वैकल्पिक मत का समर्थन 'बोगाज-क्यु' के लेख में वर्णित इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्या नामक वैदिक देवताओं के वर्णन से होता है। इनमें 'देव' और 'असुर' सब के देवताओं को एकत्र मिला दिया गया है। दूसरे मत की व्याख्या पार्जीटर महोदय ने अपनी पुस्तक 'एन्शेंट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन' में विशद रूप से की है। पुराणों में स्पष्ट लिखा है कि ऐल-वंशज द्रुह्यु-जाति के क्षत्रिय उत्तर-पश्चिमी मार्गों से भारत के बाहर जा बसे थे। जिन पडोसी देशों में जाकर वे बसे वहाँ उन्होंने भारतीय शैली के राज्य स्थापित किए और उन जातियों में आर्य-धर्म का प्रचार किया। यह सुविदित है कि गान्धार नाम द्रुह्यु वंश के राज-कुमार के नाम पर गान्धार (वर्तमान कंदहार) देश का नाम पड़ा। पार्जीटर की गणना के अनुसार भारत से निर्वासित आर्य क्षत्रिय जातियाँ ईसा पूर्व १६०० के लगभग पडोसी देशों में जा बसी थी और वहाँ से धीरे-धीरे पश्चिम की ओर फैलकर ईसापूर्व १४वीं सदी में लघु एशिया के 'बोगाज-क्यु' स्थान में प्रकट हुईं। दोनों मतों में से चाहे किसी को भी स्वीकार करें 'बोगाज-क्यु' के लेख का साक्ष्य हस्तिनापुर या गंगा-सतलुज और प्राचीन सरस्वती की उपत्यकाओं में उपलब्ध 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' पर प्रभाव नहीं डालता।

उपसंहार—पूर्वोक्त समालोचना से सिद्ध होता है कि हस्तिनापुर के खण्डहर में 'काल-२' का स्तर राजा हस्तिन् का बसाया हुआ महाभारत-कालीन हस्तिनापुर नहीं है। अत निचक्षु तथा महाभारत युद्ध से इसके सम्बन्ध-स्थापन की चेष्टा करना निष्प्रयोजन है। 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता ताम्रयुग के निर्धन लोग थे जिनकी भौतिक सम्पत्ति बहुत निकृष्ट कोटि की थी। इस बात को अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं कि जिन स्थानों में इस कुम्भकला के ठीकरे मिले उनमें से कई एक महाभारत की कथा से सम्बन्ध रखते हैं। पूर्वोक्त ६० प्राचीन टीलों में से अधिकांश महाभारत की कथा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, और भविष्य में यदि यह कुम्भकला अन्य बहुत से ऐसे खण्डहरों से प्राप्त हो जिनका महाभारत में कोई वर्णन नहीं है तो इस तर्क का कोई महत्व नहीं रहेगा। यह बात विचारणीय है कि इस शैली

---

१ मजुमदार, आर० सी०—वही, पृ० २७९।

२ पार्जीटर, एफ० ई०—वही, पृ० २९४।

२१

सौराष्ट्र का प्रागैतिहासिक खण्डहर 'लोथल'

सौराष्ट्र मे 'लोथल' खण्डहर की उपलब्धि से भारत-पुरातत्व-विभाग की प्रगति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा है। 'इण्डियन ग्राक्यालोजी' मे प्रकाशित विवरणों तथा पुरातत्व विभाग की वार्षिक प्रदर्शनियो के आधार पर कहा जा सकता है कि यह स्थान विभाजित भारत के समस्त प्रागैतिहासिक खण्डहरो मे, जो आज तक प्रकाश मे आ चुके है, उत्तम है। इससे उतरकर दो और प्रागैतिहासिक खण्डहर जो गत वर्षों मे उपलब्ध हुए हैं रोपड और रंगपुर हैं जिनके सम्बन्ध में विस्तृत विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

लोथल का महत्त्व—लोथल का महत्त्व इस बात मे है कि यहाँ सिन्धु-सस्कृति का जो रूप प्रकाश मे आया वह रोपड और रगपुर के रूप से अधिक विकसित है। इसमे उत्खात कुम्भकला विविध आकार की थी और भूषणों मे भी नानाविध वैचित्र्य था। इसके अतिरिक्त बहुत-सी, सिन्धु-मुद्राएँ भी यहाँ उपलब्ध हुई थी। रगपुर के खण्डहर मे, जो लोथल से ३० मील दक्षिण मे है (फलक ४), अब तक एक भी ऐसी मुद्रा नही मिली और रोपड से केवल एक ही प्राप्त हुई है। लोथल से प्राप्त मुद्राओं मे से एक पर काल्पनिक एकशृंग पशु उत्कीर्ण है (फलक ४६, क)। पशु के कधो पर पानपत्तों के आकार का आवरण-वस्त्र है और गले के नीचे बलि-वेदि, जो सिन्धु-मुद्राओं पर इस पशु के आगे प्रायः देखी जाती है। मोहेंजो-दडो से उत्खात मुद्रा न० ३८७ (फलक १८, ड) पर पीपल के तने से लिपटे हुए दो एकशृंग बने हैं। ये पशु या तो अश्वत्थ वृक्ष के संरक्षक है, अथवा अश्वत्थ-अधिष्ठातृ परम-देवता के वाहन। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि लोथल के निवासियो मे अभी सिन्धु-सभ्यता की लुप्तप्राय धार्मिक रूढियो का कुछ अश अवशिष्ट था। यह उल्लेखनीय है कि अभी तक न तो रगपुर मे और न ही रोपड के टीले मे सिन्धुकालीन धर्म-परम्परा की प्रतीक कोई वस्तु मिली है।

लोथल से प्राप्त शरीर के भूषणों मे नाक के दमकडे, जडाई या मीनाकारी करने के टुकडे, खडिया पत्थर का फूल जिसके अब केवल दो दल ही शेष हैं, और विविध द्रव्यो के मनके समाविष्ट हैं। पत्थर के उपकरणों मे कई एक चकमक की छुर-चनियां है। मिट्टी के बर्तन कई आकार और मान के हैं। ठीकरो पर स्याही से चित्रित

क : कला का भारत के पश्चिमोत्तरी सीमाप्रान्त तथा आस-पास के क्षेत्र मे अत्यन्ताभाव है। यह वही भू-खण्ड है जहाँ भारत मे प्रवेश करने के अनन्तर वैदिक आर्य चिरकाल तक आबाद रहे। स्वभावतः यह कुम्भकला इस प्रान्त में प्रचुर-संख्या में मिलनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा देखने मे नही आया। ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि देश में ही सीमित होने के कारण यह सम्भावना भी असगत है कि यह कुम्भकला विदेशीय लोगों की कृति थी और भारत में कही बाहर से लाई गई थी।

हस्तिनापुर के टीलो में 'काल-२' के स्तर में जो बाढ के निशान मिले हैं आवश्यक नही कि वे निचक्षु के समय की बाढ के ही हों, जब तक कि इसके समर्थक अन्य प्रमाण नही मिलते। निचक्षु के समय की बाढ एक अभूतपूर्व दैवी कोप था जिसने समस्त हस्तिनापुर का नाम तक मिटा दिया। इसी स्तर से प्राप्त घोड़े की हड्डियों के अकेले प्रमाण से यह सिद्ध नही होता कि इस समय के लोग अवश्य ही आर्य थे। हड़प्पा[1] और मोहेंजो-दडो के खण्डहरो में घोडे की हड्डियाँ पाई गयी थी परन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि सिन्धु-संस्कृति आर्य-संस्कृति थी।

हड़प्पा-संस्कृति की चर्चा के प्रसग में श्री बी० बी० लाल लिखते है कि "यह संस्कृति सिन्धुनद की उपत्यका मे ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्य से दूसरी सहस्राब्दी के मध्य तक फली फूली।" यह तिथि जो उन्होंने सिन्धु-सभ्यता के समस्त जीवनकाल की दी है डाक्टर मार्टिमर व्हीलर के दोषग्रस्त कालमान पर आधारित है। जैसा कि मैंने ऊपर सिद्ध किया है सिन्धु-सभ्यता का आरम्भ ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध तक जा पहुँचता है। इसका समर्थन न केवल हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के टीलों की स्तर-रचना से ही अपितु सिन्धु प्रान्त तथा मैसोपोटेमिया से उपलब्ध भौतिक प्रमाणो के साक्ष्य से भी होता है।

---

१. वत्स, माधोसरूप—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० १, पृ० १४२।

२१

सौराष्ट्र का प्रागैतिहासिक खण्डहर 'लोथल'

सौराष्ट्र मे 'लोथल' खण्डहर की उपलब्धि से भारत-पुरातत्व-विभाग की प्रगति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा है। 'इण्डियन आर्कयालोजी' मे प्रकाशित विवरणो तथा पुरातत्व विभाग की वार्षिक प्रदर्शनियो के आधार पर कहा जा सकता है कि यह स्थान विभाजित भारत के समस्त प्रागैतिहासिक खण्डहरो मे, जो आज तक प्रकाश मे आ चुके हैं, उत्तम है। इससे उतरकर दो और प्रागैतिहासिक खण्डहर जो गत वर्षों मे उपलब्ध हुए हैं रोपड और रगपुर हैं जिनके सम्बन्ध में विस्तृत विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

लोथल का महत्त्व—लोथल का महत्त्व इस बात म है कि यहाँ सिन्धु-सस्कृति का जो रूप प्रकाश मे आया वह रोपड और रगपुर के रूप से अधिक विकसित है। इसमे उत्खात कुम्भकता विविध आकार की थी और भूषणो मे भी नानाविध वैचित्र्य था। इसके अतिरिक्त बहुत सी, सिन्धु मुद्राएँ भी यहाँ उपलब्ध हुई थी। रगपुर के खण्डहर मे, जो लोथल से ३० मील दक्षिण में है (फलक ४), अब तक एक भी ऐसी मुद्रा नही मिली और रोपड से केवल एक ही प्राप्त हुई है। लोथल से प्राप्त मुद्राओ मे से एक पर काल्पनिक एकश्रृग पशु उत्कीर्ण है (फलक ४६, क)। पशु के कधो पर पानपत्ती के आकार का आवरण-वस्त्र है और गले के नीचे बलि-वेदि, जो सिन्धु मुद्राओ पर इस पशु के आगे प्राय देखी जाती है। मोहेंजो-दडो से उत्खात मुद्रा न० ३८७ (फलक १८, ड) पर पीपल के तने से लिपटे हुए दो एकश्रृग बने हैं। ये पशु या तो अश्वत्थ वृक्ष के सरक्षक है, अथवा अश्वत्थ-अधिष्ठातृ परम-देवता के वाहन। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि लोथल के निवासियो मे अभी सिन्धु-सभ्यता की लुप्तप्राय धार्मिक रूढियो का कुछ अश अवशिष्ट था। यह उल्लेखनीय है कि अभी तक न तो रगपुर मे और न ही रोपड के टीले मे सिन्धुकालीन धर्म-परम्परा की प्रतीक कोई वस्तु मिली है।

लोथल से प्राप्त शरीर के भूषणो मे नाक के दमकडे, जडाई या मीनाकारी करने के टुकडे, खडिया पत्थर का फूल जिसके अब केवल दो दल ही शेष हैं, और विविध द्रव्यो के मनके समाविष्ट हैं। पत्थर के उपकरणो मे कई एक चकमक की खुरचनियाँ हैं। मिट्टी के बर्तन कई आकार और मान के हैं। ठीकरो पर स्याही से चित्रित

RANGPUR

HARAPPA

1

2

3

4

5

6

7

8

9

10

11

अभिप्रायों मे समानान्तर पट्टियाँ, रेखापूर्ण अण्डार्ध, शक्करपारा, लहरिया आदि वर्णनीय हैं।

रंगपुर और रोपड़ की अपेक्षा लोथल प्राचीनतर—खण्डहर की स्तर-रचना से पता लगता है कि रंगपुर और रोपड की अपेक्षा लोथल पाँच सौ वर्ष अधिक प्राचीन था (फलक ५२)। इस खण्डहर के अन्दर बीस फुट ऊँचे मलबे के भराव मे केवल सिन्धु-संस्कृति के ही अवशेष मिले, किसी अन्य संस्कृति के नही। इससे व्यक्त होता है कि इस खण्डहर के जीवन-काल में आरम्भ से अन्त तक यहाँ केवल सिन्धु-संस्कृति के लोग ही आबाद रहे। भारत-पुरातत्व-विभाग की रिपोर्ट मे लिखा है कि "रंगपुर और रोपड़ के स्थानो में हड़प्पा-संस्कृति के लोगों की पहली बस्ती ईसापूर्व २००० के लगभग शुरू हुई और ईसापूर्व १५०० के आस-पास समाप्त हो गयी। इसके अनन्तर रोपड़ मे कोई विजातीय लोग, जो चित्रित सलेटी कुम्भकला का प्रयोग करते थे, आकर बस गये। परन्तु रंगपुर मे हड़प्पा-संस्कृति के लोग धीरे-धीरे बदलते गये और अन्त मे 'चमकीली लाल कुम्भकला' के निर्माताओ के रूप में परिणत हो गये।

प्राकार-काल—ईसापूर्व २००० के लगभग लोथल के स्थान पर बाढ़कोण्ड से बचने अथवा शत्रुओं के डर मे एक प्राकार बनाया गया। इस प्राकार-काल से पहले एक लम्बा प्राक्-प्राकारकाल का युग था जो पाँच सौ वर्ष के लगभग लम्बा था (फलक ५२)। सन् १६४६ मे डाक्टर व्हीलर ने हड़प्पा मे 'टीला ए-बी' के इर्द-गिर्द भी एक दुर्ग-प्राकार की खुदाई की थी। लोथल की तरह हड़प्पा खण्डहर के जीवन मे भी एक लम्बा 'प्राक्-प्राकार युग' काल था, यद्यपि डाक्टर व्हीलर इसे नहीं मानते। उनके मत मे हड़प्पा का दुर्ग-प्राकार नवागन्तुक प्रौढ़ सिन्धु-संस्कृति के सम्वाहकों की पहली कृति थी, और उनके पहले इस स्थान पर कोई विजातीय लोग निवास करते थे। जैसा कि मैं पहले निर्देश कर चुका हूँ, मेरा दृढ विश्वास है कि हड़प्पा के 'टीला ए-बी' मे बना हुआ दुर्ग-प्राकार 'टीला-एफ' के पहले स्तर की इमारतों की अपेक्षा एक हजार वर्ष बाद का है[1]।

लोथल का महत्त्व—सिन्धु-सभ्यता के कालनिर्णय के लिये लोथल का खंडहर एक मानदंड है। टीले के अंदर की स्तर-रचना की परीक्षा से पता लगता है कि यह स्थान रंगपुर और रोपड़ के खंडहरो से पाँच सौ वर्ष अधिक पुराना था। इस टीले में हड़प्पा-संस्कृति के पहले स्तर की तिथि, उत्खाता के अपने अनुमान से, ईसापूर्व २५०० वर्ष है (फलक...५२)। डॉक्टर व्हीलर की सम्मति में यही तिथि प्रौढ़ सिन्धु-संस्कृति

---

१. दिसम्बर १६५४ में इण्डियन हिस्टरी कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में जो लेख मैंने दिया था उसमें मैंने यही विचार उपस्थित किया था।

रोपड़

रंगपुर
ई.पू. १०००

लोथल
ई.पू. १५००

ई.पू. २०००

प्राकार-काल

प्राकार के पहले

ई.पू. २५००

प्राकृतिक

फलक ५२. लोथल, रंगपुर और रोपड़ की आयु नापने

की हड़प्पा में प्रवेश की है। यदि हम डॉक्टर व्हीलर के कालनिर्णय को मान्यता दें तो इसका यह तात्पर्य होगा कि प्रौढ सिन्धु सस्कृति पूर्वोक्त तीनो स्थानो, अर्थात हड़प्पा, मोहेजो-दडो और लोथल, मे ईसापूर्व २५०० के लगभग एक साथ ही पहुँची थी। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा निष्कर्ष निकालना अत्यन्त दोषग्रस्त होगा। इसमे सन्देह नही कि सिन्धु-सस्कृति के प्रभव-स्थान हड़प्पा और मोहेजो-दडो इस सस्कृति के दो बडे केन्द्र थे जहाँ से धीरे-धीरे फैलती हुई यह सस्कृति सिन्धु के काठे तथा आस पास के समस्त क्षेत्र पर छा गई। यदि पूर्वोक्त तीनो खडहरो मे सिन्धु-सस्कृति की पहली बस्तियाँ समकालीन थी तो लोथल के खडहर मे सिन्धु सभ्यता के उत्कृष्ट रूप की समस्त विशिष्टताएँ मिलनी चाहिये थी। परन्तु ऐसा देखने मे नही आया। रगपुर और रोपड की अपेक्षा यद्यपि लोथल अधिक उन्नत सस्कृति का प्रतीक है तथापि हड़प्पा और मोहेंजो-दडो की अपेक्षा इसकी सास्कृतिक दशा बहुत निकृष्ट और अवनति के काल की द्योतक है। लोथल की कुम्भकला मे प्रौढ सिन्धु-सस्कृति के उत्कृष्ट उदाहरणो, जैसे गाजर और शलगम के आकार के माट, खुले मुँह के नाँद, बेलन तथा अड के आकार के विलेपन से परिष्कृत महाकाय भाँड आदि (फलक ४२, क-ड) एकदम लुप्त हैं और न ही घरेलू उपयोग के विविध आकार, मान तथा प्रयोजन के बर्तन मिलते हैं। स्त्री पुरुषो की मिट्टी की मूर्तियाँ और तथाकथित मातृदेवी की प्रतिकृतियाँ भी नही मिलती और पशुओ की जो थोडी सी मूर्तियाँ मिली हैं उनमे हड़प्पा की मूर्तिकला का वैचित्र्य नहीं है। लोथल में जो सिन्धु-मुद्राएँ पाई गई उनमे से एक पर भी सिन्धु-काल के किसी देवता की आकृति नही है और न ही अश्वत्थ और शमी के पूज्य वृक्षो मे से किसी का चित्र मिलता है। लिंग और योनि के प्रतीक असख्य पदार्थ जो सिन्धु के काठे मे पाये गये लोथल में नाममात्र को भी उपलब्ध नही हुए। स्थानाभाव से यहाँ अनुपलब्ध प्रौढ सिन्धु-सस्कृति की कलाकृतियो की समस्त सूची देना असम्भव है, परन्तु मार्शल, मेके और वत्स महोदयो के द्वारा सम्पादित मोहेंजो-दडो और हड़प्पा के बृहत् ग्रन्थो मे प्रकाशित फलको को देखने से इस बात का पता लग सकता है कि लोथल मे उपलब्ध वस्तु सामग्री मे सिन्धु-सस्कृति की कौन सी विशिष्टताओ का अभाव है। अत यह दावा करना कि लोथल म उद्घाटित सिन्धु-सभ्यता का रूप सर्वाङ्गीण और सर्व-लक्षण-सम्पन्न है अनुचित है।

इसमे सन्देह नहीं कि लोथल, रगपुर और रोपड के खडहरो मे सिन्धु-सस्कृति के लक्षण अवश्य मिले हैं, परन्तु यह भी निर्विवाद है कि इस सस्कृति का जो रूप यहाँ प्रकट हुआ है वह इसके अपकर्ष-काल का है। यह सत्य है कि लोथल का यह सास्कृतिक रूप रगपुर और रोपड के रूप से उन्नत है, परन्तु यह रूप हड़प्पा और मोहेजो-दडो मे उद्घाटित इस सस्कृति के प्रौढरूप के समकक्ष और समकालीन नही
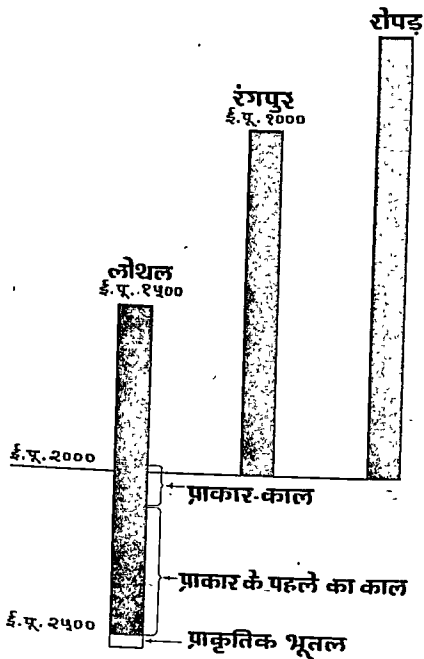
फलक ५२. लोथल, रंगपुर और रोपड़ की आयु नापने के मानस्तम्भ

रंगपुर
ई.पू. १०००

लोथल
ई.पू. १५००

फलक ५२. लोथल, रंगपुर और रोपड़ की आयु

बसे जब हड़प्पा सस्कृति वहाँ अपने जीवन के अन्तिम क्षणों मे थी। हड़प्पा की तरह रगपुर मे चमकीली लाल कुम्भकला' का अस्तित्व इस कारण नही था कि सिन्धु-सस्कृति के लोगो मे धीरे-धीरे परिवर्तन हो गया था, अपितु इसलिये कि यहाँ भी एक विजातीय लोगो का दल सहसा प्रकट हुआ था। सम्भवत ये 'कब्रिस्तान एच' के ही लोग थे जो सिन्धु-सस्कृति के लोगो का अनुसरण करते हुए हड़प्पा से चलते-चलते उस समय रगपुर मे पहुँचे जब हड़प्पा-सस्कृति अन्तिम क्षणो मे थी।

रगपुर के एक बर्तन पर चित्रित मोर (फलक ५१, क)[१] भी सिद्ध करता है कि सिन्धु-सस्कृति का यह रूप उत्तरकालीन, अवनत और निकृष्ट था। यह हड़प्पा के बर्तनो पर बने हुए मोरो (फलक ५१, ख) से इतना भिन्न है कि इसे सिन्धु-सस्कृति की कलाकृति कहने में मन सकुचाता है। रगपुर का मोर हड़प्पा के मोर का विकृति रूप है और निस्सन्देह इस सस्कृति के अवनति काल का है। रगपुर और लोथल में लाल और मटियाली कुम्भकलाओ के ठीकरे जो समान स्तरो मे मिले इस तथ्य का अतिरिक्त प्रमाण हैं कि रगपुर मे उद्घाटित सिन्धु-सस्कृति का रूप इसके ह्रासकाल का है। हड़प्पा और मोहेंजो दडो मे सिन्धु सस्कृति के स्तरो मे केवल लाल कुम्भकला के ही खड मिले थे। रगपुर और लोथल मे हड़प्पा-सस्कृति के स्तरो मे एक साथ लाल और मटियाली कुम्भकलाओ का मिलना इस बात का प्रतीक है कि सौराष्ट्र के निवासी सिन्धु सस्कृति के लोगो और हड़प्पा-निवासी उनके पूर्वजो मे एक लबे समय का व्यवधान पड चुका था।

रोपड का साक्ष्य—सन् १९५४-५५ मे रोपड के खडहर मे जो खनन हुआ वह हड़प्पा-सस्कृति के कब्रिस्तान में ही केन्द्रित रहा। यद्यपि रोपड का प्रागैतिहासिक कब्रिस्तान हड़प्पा के 'कब्रिस्तान-आर-३७' से सादृश्य रखता है, तथापि इसमे हड़प्पा कब्रिस्तान के बहुत से तत्वो और विलक्षणताओ का अभाव है। इस बात का अनुभव करने के लिये एन्शेंट इडिया न० ३ मे प्रकाशित शव-वस्तुसामग्री का परिशीलन करना आवश्यक है[२]। इससे पता चलता है कि हड़प्पा के कब्रिस्तान आर-३७ मे शवो के साथ जो बर्तन तथा दूसरी वस्तुएँ रखी जाती थी वे कितनी विचित्र और अनेकरूप होती थी। इनमे खुले मुँह और भावदुम पैंदी के नांद अडाकार और गोल मटके, गोलार्ध आकार के ढकने, वृत्ताकार मजूषाएँ आदि, जिनमे प्रेत के उपभोग के लिये खाद्य पदार्थ रखे जाते थे, समाविष्ट थे। इन पर मोर, शमी, पीपल आदि धार्मिक अभिप्राय के चिन बने थे (फलक ३४, क-ज)। रोपड के कब्रिस्तान मे ये सब विशिष्ट-

१. इडियन आक्योलोजी, १९५४-५५, फलक १२ ए।
२. एन्शट इडिया न० ३, चित्र १३ से २३ तक और फलक ४६, ४७।

हो सकता। पहले निर्देश किया गया है कि सिन्धु-सभ्यता हड़प्पा के दुर्ग-प्राकार से एक हजार वर्ष अधिक प्राचीन है। लोयल की स्तर-रचना का साक्ष्य मेरे कालनिर्णय का समर्थन और डॉक्टर व्हीलर के कालनिर्णय का निराकरण करता है। लोयल के साक्ष्य के आलोक में डॉक्टर व्हीलर के कालमान (ई० पू० २५००-१५००) में संशोधन की आवश्यकता है। इस समय पुरातत्वज्ञ और ऐतिहासिक उन्हीं के कालनिर्णय को मान्य समझ कर व्यवहार में ला रहे हैं।

रंगपुर का साक्ष्य—सन् १९५४-५५ में रंगपुर में जो खनन हुआ उससे इस खंडहर के निम्न स्तरों में हड़प्पा-संस्कृति के और सब से ऊपर के स्तर में "उत्तरी काली घुटी कुम्भकला" के अवशेष मिले थे 'इंडियन आर्क्योलोजी' (सन् १९५४-५५) में लिखा है कि "रंगपुर में हड़प्पा संस्कृति अपनी स्वाभाविक मौत से मरी। यह धीरे धीरे क्षीण होती गयी और अन्त में उत्तरकालीन "चमकीली लाल कुम्भकला" की संस्कृति में परिणत होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता को अशेषतः खो बैठी।" मैंने इस कुम्भकला को राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में पुरातत्व प्रदर्शनी में सूक्ष्म दृष्टि से देखा था। मेरा विश्वास है कि यह हड़प्पा की कुम्भकला से इतनी ही भिन्न है जितनी 'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला। इसी की तरह 'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला भी चमकीली और लाल रंग की है। दोनों में परस्पर बहुत समानता है। न केवल इनके आकार, रंग और मिट्टी ही समान हैं, अपितु इन पर चित्रित अभिप्राय भी परस्पर बहुत सादृश्य रखते हैं। उदाहरणतः, रंगपुर के बर्तनों पर जो हिरण चित्रित हैं (फलक ५१, ग) उनकी तुलना 'कब्रिस्तान-एच' के बर्तनों पर बने हिरणों से इस बात में की जा सकती है कि दोनों भाँति के हिरणों के सींग वक्र हैं, दुमें शरीर से चिमटी हुई ऊपर को उठी हैं, और उनके शरीर भी कई बातों में समान हैं (फलक ५१, ग-घ) इसी प्रकार रंगपुर के ठीकरों पर बने हुए गो-जाति के पशुओं के सिरों पर (फलक ४९, ड) मध्योन्नत आकार के सींग और खड़े कान 'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला पर बने हुए पशुओं के सींगों के बहुत अनुरूप हैं (फलक ५१, छ, ज, ट)[१]।

चमकीली लाल कुम्भकला—यह भली प्रकार मालूम है कि 'कब्रिस्तान-एच' में गड़े हुए लोग हड़प्पा-संस्कृति के लोगों से भिन्न जाति के थे। वे हड़प्पा में उस समय आये जब सिन्धु-संस्कृति प्रबल वेग से अवनति की ओर लुढक रही थी। अतः यह अनुमान लगाना युक्तिसंगत होगा कि कब्रिस्तान-एच के लोगों की तरह 'चमकीली लाल कुम्भकला' के कर्ता भी विजातीय थे और वे रंगपुर में उस समय आकर

---

१. वत्स, माधोस्वरूप—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्रं० २, फलक ६३,१०; फलक ६४, २, ३; फलक ६६, ५३, ६४ आदि।

चले जब हडप्पा संस्कृति वहाँ अपने जीवन के अन्तिम क्षणो मे थी। हडप्पा की तरह रगपुर मे 'चमकीली लाल कुम्भकला' का अस्तित्व इस कारण नही था कि सिन्धु-संस्कृति के लोगों में धीरे धीरे परिवर्तन हो गया था, अपितु इसलिये कि यहाँ भी एक विजातीय लोगो का दल सहसा प्रकट हुआ था। सम्भवत ये 'कब्रिस्तान-एच' के ही लोग थे जो सिन्धु-संस्कृति के लोगो का अनुसरण करते हुए हडप्पा से चलते-चलते उस समय रगपुर मे पहुँचे जब हडप्पा-संस्कृति अन्तिम क्षणो मे थी।

रगपुर के एक बर्तन पर चित्रित मोर (फलक ५१, क)[1] भी सिद्ध करता है कि सिन्धु-संस्कृति का यह रूप उत्तरकालीन, अवनत और निकृष्ट था। यह हडप्पा के बर्तनों पर बने हुए मोरो (फलक ५१, ख) से इतना भिन्न है कि इसे सिन्धु-संस्कृति की कलाकृति कहने में मन सकुचाता है। रगपुर का मोर हडप्पा के मोर का विकृत रूप है और निस्सन्देह इस संस्कृति के अवनति काल का है। रगपुर और लोथल मे लाल और मटियाली कुम्भकलाओ के ठीकरे जो समान स्तरो मे मिले इस तथ्य का अतिरिक्त प्रमाण हैं कि रगपुर मे उद्घाटित सिन्धु-संस्कृति का रूप इसके ह्रासकाल का है। हडप्पा और मोहेंजो दडो मे सिन्धु संस्कृति के स्तरो मे केवल लाल कुम्भकला के ही खड मिले थे। रगपुर और लोथल मे हडप्पा-संस्कृति के स्तरो मे एक साथ लाल और मटियाली कुम्भकलाओ का मिलना इस बात का प्रतीक है कि सौराष्ट्र के निवासी सिन्धु-संस्कृति के लोगो और हडप्पा-निवासी उनके पूर्वजो मे एक लंबे समय का व्यवधान पड चुका था।

रोपड का साक्ष्य—सन् १९५४ ५५ मे रोपड के खडहर मे जो खनन हुआ वह हडप्पा-संस्कृति के कब्रिस्तान में ही केन्द्रित रहा। यद्यपि रोपड का प्रागैतिहासिक कब्रिस्तान हडप्पा के 'कब्रिस्तान-आर-३७' से सादृश्य रखता है, तथापि इसमे हडप्पा कब्रिस्तान के बहुत से तत्वो और विलक्षणताओं का अभाव है। इस बात का अनुभव करने के लिये एशेंट इडिया न० ३ मे प्रकाशित शव-वस्तुसामग्री का परिशीलन करना आवश्यक है[2]। इससे पता चलता है कि हडप्पा के कब्रिस्तान आर-३७ मे शवो के साथ जो बर्तन तथा दूसरी वस्तुएँ रखी जाती थी वे कितनी विचित्र और अनेकरूप होती थी। इनमे खुले मुँह और भावदुम पेंदी के नांद, घडाकार और गोल मटके, गोलार्ध आकार के ढक्कन, वृत्ताकार मञ्जूषाएँ आदि, जिनमे प्रेत के उपभोग के लिये खाद्य पदार्थ रखे जाते थे, समाविष्ट थे। इन पर मोर, शमी, पीपल आदि धार्मिक अभिप्राय के चित्र बने थे (फलक ३४, क-ज)। रोपड के कब्रिस्तान मे ये सब विशिष्ट-

---

१. इडियन आर्क्यालोजी, १९५४-५५, फलक १२ ए।

२. एन्शंट इडिया न० ३, चित्र १३ से २३ तक और फलक ४६, ४७।

ताएँ नहीं मिलती। न ही इसमे प्रेत के उपभोग के लिये कब्र मे शव के साथ ताँबे के दर्पण (फलक ३४, झ), काजल और लेप डालने की सीपियाँ व कटोरियाँ आदि शृंगार की वस्तुएँ, जो हड़प्पा की कब्रों मे पाई गईं, मिली हैं। हड़प्पा की कई कब्रों मे शवो के साथ बलिरूप से वध किये हुए पशुओ और पक्षियो की अस्थियाँ थी। ये सब विलक्षणताएँ रोपड के शव-स्थान में नही मिली।

रोपड मे उत्खात प्रागैतिहासिक शवस्थान सिन्धु-संस्कृति से प्रभावित अवश्य था, परन्तु हड़प्पा के शवस्थान आर-३७ का समकालीन नही हो सकता। प्रतीत होता है कि रोपड के कब्रिस्तान के लोगों का सम्पर्क चिरकाल से सिन्धु-सभ्यता के केन्द्र-स्थानों से छूट चुका था। मनुष्य समाज मे जन्म-मरण-सम्बन्धी रीति-रिवाज कठिनता से बदलते हैं। यही कारण है कि सिन्धु-सभ्यता के केन्द्रस्थानों से सम्बन्ध छूट जाने पर भी रोपड में शव गाड़ने की प्रथा जारी रही, परन्तु इस अन्तर में ये लोग अपनी बहुत सी प्राचीन प्रथाओं और परम्पराओं को भूल गये। अन्यथा रोपड़ के कब्रिस्थान में सिन्धु-संस्कृति की पूर्वोक्त विलक्षणताओ के अत्यन्ताभाव का कारण बतलाना कठिन है। 'इडियन आर्क्यालोजी' १६५३-५४ मे लिखा था कि रोपड़ में उद्घाटित हड़प्पा-संस्कृति का रूप पूर्ण विकसित, प्रौढ एवं सब लक्षणों से युक्त था। मैंने अपने पहले लेख मे निर्देश किया था कि हड़प्पा-संस्कृति का यह रूप उत्तरकालीन है। मुझे हर्ष है कि इडियन आर्क्यालोजी के १६५४-५५ के संस्करण में पुरातत्व विभाग ने अपने पिछले वर्ष के विचार में यह संशोधन कर दिया है कि "रोपड़ मे सिन्धु-संस्कृति *का जो रूप प्रकाश में आया वह प्रौढ़ हड़प्पा-संस्कृति का उत्तरकालीन रूप है।"*

बाड़ा और सलौरा का साक्ष्य—सन् १६५४-५५ में पुरातत्व विभाग ने रोपड़ के निकट बाड़ा और सलौरा नाम के दो और प्रागैतिहासिक खडहरों का उद्घाटन कराया। ये खंडहर एक दूसरे से लगभग ३०० गज के अन्तर पर स्थित हैं। 'बाड़ा' का सारा टीला हड़प्पा-संस्कृति की बस्तियों से भरा पड़ा था। परन्तु 'सलौरा' के टीले में इस संस्कृति की एक भी बस्ती नही थी। इसमें सबसे नीचे की आबादी मे 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के ठीकरे मिले थे[1]। इन टीलो की खुदाई से भी पता लगता है कि सिन्धु-संस्कृति के लोग और 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता इन स्थानों मे भी कभी परस्पर सम्पर्क मे नही आये। ऐसी ही परिस्थिति रोपड़, हस्तिनातुर आदि उन समस्त प्राचीन टीलों मे पाई गई थी जहाँ-जहाँ "चित्रित सलेटी कुम्भकला" हड़प्पा-संस्कृति के स्तरों के ऊपर पड़ी थी। इस नवीन साक्ष्य के आधार पर एक बार फिर यह कहना पड़ता है कि 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' वैदिक आर्यों की कृति नही थी।

---

१. इंडियन आर्क्यालोजी, १६५४-५५, चित्र ३।

यदि ऐसा होता तो प्राचीन टीलों से उत्खात अन्त.प्रमाण इस बात का समर्थन करते । स्मरण रहे कि आर्य-जाति लंबे और कठोर संघर्ष के बाद भारत की मूल जातियों को, जिनमें एक सिन्धु-सभ्यता के लोग भी थे, पराजित करके अपने वश में लाने के समर्थ हुई थी । 'हस्तिनापुर के खंडहर और महाभारत-काल' शीर्षक अपने लेख मे इस समस्या पर आलोचना करने के अनन्तर मैं इस निर्णय पर पहुँचा था कि 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता वैदिक आर्य नही थे । 'बाडा' और 'सलौरा' टीलो की खुदाई मे जो प्रमाण मिले वे मेरे पूर्वोक्त निर्णय को पुष्ट करते हैं ।

सहायक-ग्रन्थ

१. —ऐतरेय ब्राह्मण

२. —एंटिक्विटी, ग्रं० १३

३. —एंटिक्विटी, ग्रं० १६, अंक ७६

४. —आर्क्योलाजीकल सर्वे ऑफ इंडिया, वार्षिक रिपोर्ट, सन् १९११-१२

५. —आर्क्योलाजीकल सर्वे ऑफ इंडिया, वार्षिक रिपोर्ट, सन् १९३४-३५

६. बार्टन—आरिजिन एंड डिवेलपमेंट ऑफ बेबीलोनियन राईटिंग

७. —केम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया, ग्रं० १

८. चाइल्ड, वी० जी०—न्यू लाईट आन दि मोस्ट एन्शेंट ईस्ट

९. चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स

१०. कनिंघम, सर एलेग्जेंडर—सी० एस० आर०, नं० ५

११. —धन्वन्तरीय निघण्टु

१२. —एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

१३. ईवान्स, सर आर्थर—पेलेस ऑफ मिनास एट नॉसस

१४. फ्रेंकफर्ट, एच—सिलिंडर सील्स

१५. फ्रेंकफर्ट, एच—टेल आसमर एंड खाफजे

१६. फ्रेंकफर्ट, एच—आर्क्योलोजी एंड सुमेरियन प्राब्लेम

१७. घोष, ए०—इंडियन आर्क्योलोजी, १९५३-५४

१८. घोष, ए०—इंडियन आर्क्योलोजी, १९५४-५५

१९. घोष, ए०—एन्शेंट इंडिया नं० १० एंड ११

२०. घोष, ए०—राजस्थान डेजर्ट, इट्स आर्क्योलाजिकल एस्पेक्ट

२१. हाल, एच० आर—ए सीजन्स वर्क एट 'उर'

२२. हाल एंड वूली—अल' उबेद

२३. हंटर, जी० आर०—स्क्रिप्ट ऑफ हड़प्पा एंड मोहेंजो-दड़ो

२४. —इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज, अक्तूबर ६, १९५२

२५. किंग एल० डब्ल्यू०—हिस्टरी ऑफ सुमेर एंड एक्कड

२६. मेकडानेल, ए० ए०—वैदिक माइथालोजी
२७. मेकडानेल एंड कीथ—वैदिक इंडेक्स
२८. मेके, ई०—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेजो-दडो
२६. मेके, ई०—चन्हुदडो एक्सकेवेशन्स
३०. मेके, ई०—सुमेरियन पेलेस एंड दि ए' सिमेट्री एट किश।
३१. मेकेंजी, डी० ए०—मिथ्ज ऑफ बेबीलोनिया एंड एसीरिया
३२. —महाभारत, कर्णपर्व
३३. मजुमदार, एन० जी०—एक्सप्लोरेशन इन् सिंध
३४. मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज
३५. मार्शल, सर जान—मोहेंजो-दडो एंड दि इंडस वेली सिविलाइजेशन
३६. मेककौन—कम्पेरेटिव स्ट्रेटिग्राफी ऑफ अर्ली ईरान
३७ पार्जीटर, एफ० ई०—एन्शेंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन
३८. स्टार, एफ० एम०—इंडस वेली पेंटड पॉटरी
३६. स्टाईन, सर आरल—आर्क्योलाजिकल टुअर इन वज़ीरिस्तान, मेमायर न० ३७
४०. स्टाईन, सर आरल—आर्क्योलाजीकल टुअर इन गेड्रोसीया, मेमायर न० ४३
४१. वत्स, माधोसरूप—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा
४२. वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया
४३. व्हीलर, सर मार्टीमर—एन्शेंट इंडिया नं० १
४४. व्हीलर, सर मार्टीमर—एन्शेंट इंडिया न० ३
४५. व्हीलर, सर मार्टीमर—दि इंडस सिविलाइजेशन (सप्लीमेंटरी टु दि केम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया)
४६. वूली, सर लिओनार्ड—उर एक्सकेवेशन्स